प्रोफेसर अर्जुन चौबे काश्यप की प्रतिभा बहुमुखी है। वे एक साथ नाटककार, कवि, मनोविज्ञानवेत्ता, अभिनय-कलाकार सब कुछ हैं। ऐसे प्रतिभा-पुत्र को पाकर कोई भी मित्र-मंडली कृतकृत्य होगी ही। इतिहास के अध्ययन में भी उनकी गहरी पैठ है, यह मैंने तब जाना जब मुझे प्रस्तुत पुस्तक देखने को मिली। मैं प्रोफेसर काश्यप के इतिहासकार का स्वागत करता हूं और उनकी इस विद्वत्तापूर्ण ऐतिहासिक रचना के लिए उन्हें हृदय से बधाई देता हूं। प्रस्तुत पुस्तक गंगा-यमुना का वह संगम है जहाँ इतिहास का सत्य और काव्य का शाश्वत सत्य एक ही साथ उपलब्ध होते हैं, धूप और छाँह की तरह। भारतीय विश्वविद्यालयों में विश्व-इतिहास के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अभी हाल में शुरू हुई है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का नितान्त अभाव था। लेकिन प्रो० काश्यप की इस पुस्तक का परिमार्जित रूप देख कर ऐसा लगा जैसे हिन्दी में विश्व-इतिहास पर पुस्तकें लिखने की लम्बी परम्परा रही हो। उनकी यह रचना जहाँ एक ओर इतिहास के तथ्य बिखेरती है, वहाँ दूसरी ओर काव्य के रंगीन फूल खिलाती है। यह अनुपम कला हमारे मित्र काश्यप जी की ही कलम से उद्भूत हो सकती है, सब से नहीं। पुस्तक प्रकाशन के लिये मैं उन्हें पुनः बधाई देता हूँ।

राजीवनयन प्रसाद

अध्यक्ष, इतिहास-विभाग,

३०-८-५२ गया कालेज, गया

विश्व के इतिहास
और
सभ्यता का परिचय

[दोनों भाग]

प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप,

एम्० ए०, बी० टी० [गोल्ड मेडलिस्ट एवं बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
प्राइज़्मैन], एम्० एड्० [इलाहाबाद], प्राध्यापक, मनोविज्ञान
एवं दर्शन-विभाग, गया कालेज, गया; भूतपूर्व
अध्यक्ष, इतिहास एवं नागरिक शास्त्र-
विभाग, जायसवाल कालेज,
मिर्जापुर तथा गया
कालेज।

राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया

अगस्त, १९५२

प्रकाशक :
राजराजेश्वरी पुस्तकालय,
गया

प्रथम संस्करण : २०००
मूल्य ५)

मुद्रक :
गया प्रिण्टर्स, गया

गया के प्रसिद्ध विनोदी
अभिनय-कलाकार
साहित्यानुरागी एवं नागरिकता-गुण-सम्पन्न
तथा
मेरे परम स्नेही
श्री श्याम सुन्दर 'श्याम'
के
कर-कमलों में सस्नेह समर्पित

प्रस्तावना

यह पुस्तक पटना एवं बिहार के विश्वविद्यालयों की आरम्भिक कक्षाओं के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए प्रणीत हुई है। इसमें प्रथम प्रश्न-पत्र के लिए निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुसार विश्व के इतिहास एवं सभ्यता पर विश्लेषणात्मक विवेचन उपस्थित किया गया है। यों तो यह विषय विद्यार्थियों के लिए सर्वथा नवीन है और अभी हिन्दी में इस विषय पर प्रामाणिक पुस्तकें भी नहीं हैं, तथापि मैंने प्रयत्न किया है कि इस पुस्तक के द्वारा इस विषय में नवीन ढंग से लिखने की परिपाटी स्थापित हो और सामान्य पाठकों में विश्व-इतिहास के प्रति एक सच्ची अभिरुचि उत्पन्न हो जाय।

विश्व-इतिहास की परिधि लम्बी-चौड़ी एवं विशाल है, उसे कतिपय अध्यायों में ही बाँधना सरल नहीं है। मैंने यथासम्भव प्रयत्न किया है कि पुस्तक के लघु कलेवर में भी विश्व के इतिहास, सभ्यता एवं संस्कृति की झाँकी आ जाय। अतः विषय के प्रतिपादन, सन्तुलित व्याख्या एवं समीक्षा में मैंने उन कड़ियों को भी जोड़ दिया है जिनका महत्त्व व्यापक एवं सार्वभौम रहा है।

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय की उपयोगिता स्पष्ट है, क्योंकि बिना इतिहास के स्वरूप, महत्ता, प्रवृत्तियों की जानकारी के, विकास के मार्ग के पथिक मानव के सभ्यता-इतिहास का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः मैंने पूर्वाभास के रूप में आरम्भ में इतिहास के स्वरूप, महत्ता, प्रवृत्तियों की भूमिका में आरम्भिक मानव-इतिहास के मुख्य विकास-कालों, मानव-विकास में विभिन्न जातियों के उद्भव, विश्व-इतिहास में मानव तथा उसकी सभ्यता की विविध अवस्था पर अत्याधुनिक पुरातत्त्व-विज्ञान (Archaeology) एवं मानव-विज्ञान (Anthropology) से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर विशद प्रकाश डाल दिया है जिससे आगे के अध्यायों की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाय।

इस पुस्तक के सभी अध्याय एक दूसरे से सर्वथा सम्बन्धित नहीं माने जा सकते, किन्तु यथासम्भव मैंने उनके विषय की अन्तर्धारा को एकरसता में रखा है और प्रयत्न किया है कि पाठकों के समक्ष मानव-इतिहास एवं मानव सभ्यता की झाँकी स्पष्ट होती चली जाय। स्थानाभाव के कारण संक्षिप्त शैली का ही सहारा लिया गया है। किन्तु कहीं-कहीं विशद व्याख्या भी उपस्थित की गयी है। विषय की गम्भीरता पर ध्यान रख कर मैंने यत्र-तत्र स्वच्छन्द रूप से परिशिष्टांश भी जोड़ दिये हैं जिससे स्वतन्त्र रूप से सोचने वाले विद्यार्थियों को प्रेरणा भी मिले। आदि भारत की देन वाला अध्याय एक विशिष्ट परिशिष्ट के साथ उपस्थित किया गया है जिसमें मैंने अपने दृष्टिकोण को भी स्पष्ट कर दिया है। आशा है, इस परिशिष्ट से पाठकों एवं अध्यापकों को स्वतन्त्र रूप से सोचने एवं व्याख्या उपस्थित करने में सहायता मिलेगी।

बहुत-से अध्यायों के अन्त में मैंने देश-विशेष की ऐतिहासिक तालिका भी उपस्थित कर दी है जिससे पाठकों को संक्षिप्त रूप में, युगों से चली आती परम्पराओं में गुँथे व्यक्तित्व एवं उनके काल की मर्यादा की झलक भी मिल जाय।

महत्वपूर्ण व्यक्तियों के चित्र एवं मान-चित्र भी उपस्थित कर दिए गए हैं जिससे विद्यार्थियों को विषय का अध्ययन न केवल सुरुचिपूर्ण लगे, प्रत्युत उन्हें सुबोधता भी प्राप्त हो जाय। भाषा यथासाध्य सरल एवं साहित्यिक रखी गयी है जिससे विषय में विद्यार्थियों की गति सुन्दर ढंग से हो सके।

× × × ×

इस पुस्तक के प्रणयन में मुझे बहुत-सी पुस्तकों से सहायता प्राप्त हुई है, मैं उनके लेखकों को धन्यवाद देता हूँ। मैं पाठकों एवं विद्वानों से सुन्दर निर्देश पाकर अपने को धन्य मानूँगा। गया कॉलेज के प्रो० वासुदेवनन्दन प्रसाद एवं प्रो० राजीवनयन प्रसाद ने मुझे सदा उत्साहित किया है, अतः मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। सदा की भाँति

इस बार भी मेरे परम-पूज्य सर्वदर्शनाचार्य स्वामी रामानन्द भारती ने मुझे दिन-प्रति-दिन अपने अनुग्रह से प्रेरित किया है, एतदर्थ मैं उनका आभार स्वीकार करता हूँ। कविवर श्री जगदीश चन्द्र गुप्त 'विह्वल' तथा गया प्रिण्टर्स के स्वामी श्री नवल किशोर जैन ने पुस्तक की मुद्रण-परिशुद्धि पर ध्यान देकर मुझे अनुगृहीत किया है। बनारस के प्रसिद्ध शिल्पी एवं चित्रकार तथा मेरे परमप्रिय श्री ब्रह्मदेव "मधुर" ने चित्रों एवं आवरण-आभरण से पुस्तक का सौन्दर्य बढ़ा दिया है। मैं इन्हें बधाई एवं धन्यवाद देता हूँ। अन्त में मैं अपने चिर-स्नेही एवं हिन्दी के आलोचक श्री कृष्ण कुमार सिन्हा को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने राजराजेश्वरी पुस्तकालय के स्वामी श्री राजालाल को प्रकाशन-भार देकर पुस्तक को शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित कराया है।

भारती-भवन,
बहुआरचौरा, गया
२२-८-५२

—अर्जुन चौबे काश्यप

विषय-सूची

द्वितीय भाग

चित्र-सूची

विश्व के इतिहास और सभ्यता का परिचय

प्रथम भाग

पहला अध्याय

पूर्वाभास

§. [१] मानव-विकास उस बड़ी सरिता के सदृश है जिसमें सुदूर पर्वतीय निर्झरों से आता हुआ जल नयी-नयी सहायक सरिताओं की बाढ़ से मिल जाता है और सतत प्रवहमान रहता है। मानव की प्रत्येक पीढ़ी अपनी साधु एवं असाधु विशेषताओं के साथ बढ़ती जाती है। इस प्रकार युगों का निर्माण होता जाता है, युगों की छायाएँ एक दूसरे से मिलकर प्रलम्बित होती जाती हैं और विकास-रेखाएँ उभरती जाती हैं। बचपन की गहरी छायाओं का प्रभाव मनुष्य-जीवन पर पड़ता ही है। मानव-विकास के बचपन-काल में जो घटनाएँ घटीं अथवा जो चिन्त्य एवं अचिन्त्य, सहजिक, प्राकृतिक एवं मानवी व्यवधान तथा विकास-परिणाम के फलस्वरूप उन्मेषशालिनी सुगमताएँ उपस्थित हुईं वे अर्वाचीन मानव के जीवन पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं। आज हम मानव अपने अतीत के युगों के उत्तराधिकारी हैं। हमारी आनुवंशिकता में संस्कृति एवं सभ्यता के महान् उपकरण विद्यमान हैं जिन्हें हम आविष्कारों, कलाओं, विश्वासों, मान्यताओं, समुदायों, विचार-धाराओं आदि की वैज्ञानिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, सामाजिक संज्ञाएँ देते हैं।

इतिहास का स्वरूप

सतत प्रवहमान समय के पथ पर मानव-इतिहास की रेखाएँ उभरती गयी हैं, दबती गयी हैं एवं बढ़कर हमसे आलिंगन करती गयी हैं। इतिहास के आरम्भिक चरण मन्द, अमन्द एवं पुनः मन्द तथा अनिश्चित थे। जिस प्रकार एक शिशु क्रमशः विवृद्धि को प्राप्त होता है और कालान्तर में भाँति-भाँति की योग्यताएँ एवं क्षमताएँ ग्रहण करता है उसी प्रकार इतिहास की गति होती है। आरम्भ में बच्चा गूँ-गाँ करता है, फिर बोलता है और अर्थ को समझकर अपने को

व्यक्त करता है। उसी प्रकार इतिहास की वाणी क्रमशः स्पष्ट होती है और इसकी कहानी अतीत से आगे बढ़ समय की रेत पर अपने विकास-चिह्न के अमिट प्रतीक छोड़ जाती है।

इतिहास की महत्ता

इतिहास मानव-जीवन की पूरी कहानी है : यह मानव की सफलताओं एवं विफलताओं की ओर संकेत करता है; यह उसके संघर्षों तथा व्यवहार-योजनाओं को बताता है; यह उसके धर्मों एवं कलाओं का अनुसंधान करता है एवं यह उसकी अभिकांक्षाओं, विभीषिकाओं, आविष्कारों एवं अनुसंधानों का विवरण उपस्थित करता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए स्मृति एवं धारणा-शक्ति का जो कार्य है वही मानव-जाति के लिए इतिहास का है। इतिहास बताता है कि हम मानव क्या कर रहे हैं, हम ऐसा क्यों कर रहे हैं तथा हम ऐसा क्योंकर कर पाये। यदि हमें यह जानना है कि आज भारत का राज्य-चिह्न अशोक-स्तम्भ क्यों है, भारत के दो टुकड़े क्यों हो गए, इङ्गलैण्ड में राजा क्यों है, चीन में वर्णमाला क्यों नहीं है अथवा अमेरिका की पताका पर ४८ नक्षत्र-चिह्न क्यों हैं तो हमें इतिहास का परिशीलन करना पड़ेगा तथा उसकी सहायता लेनी पड़ेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास अतीत के प्रकाश को वर्तमान पर डालता है; यह हमें भाँति-भाँति के लोगों से परिचय स्थापित करा कर हमें अपने को समझने के योग्य बनाता है तथा हमारे जीवन को प्रफुल्ल एवं मनोरंजक बनाता है, क्योंकि उसकी सहायता से हम ग्रन्थों का तात्पर्य समझते हैं, दृश्यमान नगरों का माहात्म्य जानते हैं तथा ललित कलाओं आदि का उपभोग करते हैं। ऐसी है इतिहास की महत्ता।

§. [२] गत प्रकरण में हमने देखा कि इतिहास का क्या स्वरूप है और उसकी महत्ता किस प्रकार की है। इस प्रकरण में हम, बहुत संक्षेप में, कुछ विशेष इतिहास-प्रवृत्तियों का उद्घाटन करेंगे जिससे प्रारम्भिक पाठकों की अध्ययन-पीठिका में मानव-इतिहास अपनी सम्पूर्ण महत्ता के साथ उद्दीप्त हो उठे। वास्तव में, 'मानव-जीवन की नित्यताओं

इतिहास की प्रवृत्तियाँ : इतिहास क्या है ?

के मध्य का एक क्षण है' : यह अतीत एवं वर्तमान का संयोजन-चिह्न है। मानव की यह विशेषता है कि वह अतीत एवं वर्तमान के परिशीलन में उन्मुख होता है और तभी वह विकास के पथ पर अग्रसर हो पाता है। केवल वर्तमान में ही उमड़ने-घुमड़ने से विकास सम्भव नहीं है, एक उत्फुल्ल एवं सफल जीवन के लिए अतीत का ज्ञान अनिवार्य है। हमारा भविष्य नितान्त अनिश्चित होता है, अतः वर्तमान में रहना तभी सुखद एवं उन्मेष-शालिनी हो सकता है जब हम अपने सतत प्रयत्नों से उत्पन्न वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से अपने अतीत से विमोहित हो सकें। अतीत पर आश्रित होना स्वतः सिद्ध है। जीवन सतत प्रवहमान होता है। उसकी प्रशस्त रेख अतीत में होती है। वास्तव में, 'वर्तमान उस बौने के समान है जो अतीत रूपी दैत्य के कन्धों पर चढ़ा हुआ है'। ऐसा है मानव-जीवन में अतीत का श्रेष्ठ पद। वर्तमान अतीत का शिशु एवं भविष्य का जनक है। अतः, स्पष्ट है, इतिहास मानवी जीवन के एक स्तर का विवरण है, यह पृथ्वी पर मानव के अतीत का अनुशीलन करता है।

विकास-पथ में मानव

मानव की जीवन-गरिमा एवं साहसिकता अखिल ब्रह्माण्ड में अनूठी है। विकास के पथ में मानव ने जिस द्रुत गति से छलाँगें मारी हैं वह उसकी विशिष्ट विकास-योग्यताओं का परिचायक है। जहाँ प्रकृति ने मानव के अस्तित्व-निर्माण में कई सहस्र लाख वर्ष लगाए, मानव की शक्तिशाली बुद्धि ने कुछ लाख वर्षों में ही पृथ्वी की काया पलट दी। मानव ने जिस प्रकार अपना विकास किया वही उसके इतिहास की सामग्री है। आज का मानव पृथ्वी पर शासन कर रहा है। उसने प्रकृति के गर्भ के रहस्यों का उद्घाटन किया है, उसने अपने चतुर्दिक बिखरे तत्त्वों की अभिज्ञता प्राप्त की है और प्रकृति-शक्ति को बाँध कर मानव के कल्याण की कल्पनाएँ की हैं। मानव ने अपने विज्ञान से थल एवं जल

के उपकरणों को बाँधकर अपने स्वार्थानुरूप उन्हें साधा है और आज उसकी गर्वोक्ति यह है कि उसने अब अन्य स्वर्गिक लोकों की गाथा आरम्भ कर दी है। ये गर्वोक्तियाँ एवं अनुसंधानालेखन आत्याधुनिक हैं। मानव-जीवन अपने विकास-काल में सर्वथा प्रफुल्ल एवं सुखद नहीं रहा है।

सभ्यता-निर्माण

सभ्यता का निर्माण बहुधा नगर-जीवन से ही सम्भव हो सका है। मानव-इतिहास बताता है कि प्राचीनतम नगरों का उद्भव आज से अधिक से अधिक लगभग ६००० वर्ष पहले हुआ। उसके पूर्व मानव वनों का निवासी था। कालान्तर में वह ग्राम-वासी हुआ, जैसा कि अब भी पृथ्वी के कुछ भू-भागों में नगर नहीं मिलते, केवल वनस्पति, लता-पात-अवगुण्ठित झोपड़ियाँ एवं बिखरे वन-ग्राम मिलते हैं। स्पष्ट है, सभ्यता का प्रकाश सभी युगों में पृथ्वी पर समान रूप से नहीं फैला। ऐसा क्योंकर हुआ? सभ्यता का बचपन, उसकी किशोरावस्था एवं खिलती युवावस्था भू-मण्डल के विभिन्न क्षेत्रों में किस प्रकार उभरती गयी? इन प्रश्नों का उत्तर ही मानव-इतिहास का परिशीलन है।

आरम्भिक मानव-इतिहास के मुख्य विकास-काल

प्रागैतिहासिक काल (Pre-historic Age)

§. [१] मानव-इतिहास कितना प्राचीन है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें मानव-विज्ञान (Anthropology) एवं पुरातत्व-विज्ञान (Archaeology) की सहायता लेनी पड़ती है। यद्यपि ये विज्ञान अभी नवीन हैं, किन्तु इनसे मानव-इतिहास पर प्रभूत प्रकाश पड़ा है। इस प्रकरण में हम इन्हीं की सहायता से इस भू-मण्डल के उन्नतम प्राणी मानव के इतिहास की प्राचीनता तथा उसके विविध मुख्य विकास-कालों का, संक्षेप में, उद्घाटन करेंगे।

ऐतिहासिकों का मत है कि ऐतिहासिक काल का आरम्भ लिपि-कला के ज्ञान से सम्बन्धित है। लिपि-काल अनुमानतः आज से

लगभग ५,०००–६००० वर्ष प्राचीन माना जाता है। मिश्र एवं बैबिलोनिया के अलिखित विवरण ई० पू० ४०००–३०० वर्ष प्राचीन है। किन्तु मानव-विज्ञान तथा पुरातत्व-शास्त्र इस काल से बहुत पीछे के मानव पर प्रकाश फेंकते हैं। आज से ५०,००० वर्ष पुराने मानव की कहानी की झलक हमें मिल गयी है। तत्कालीन मानव पशु-जीवन से ऊपर उठ चुका था : वह अपने पैरों पर खड़ा हो चुका था; उसकी आँखों में बुद्धि की दीप्ति की अर्द्धोन्मीलित आभा झलक उठी थी; उसकी सुरक्षा उसके नैसर्गिक उपकरणों तक ही नहीं सीमित थी अर्थात् न तो उसे सींगें थीं, न भयङ्कर पञ्जे, दन्त या फन थे और न उसके शरीर पर भालू या भेंड़ के समान बाल-गुच्छ थे, प्रत्युत वह अपनी साधनोपकरणयुक्त बुद्धि का सहारा ले सकता था। वह अब भी प्रकृति का बन्दी था। किन्तु अब उसमें सर्वशक्तिमान् होने का प्रभन्धत्व-गुण आ चुका था।

प्रागैतिहासिक काल तथा इतिहास की पीठिका: ५०,००० वर्ष पूर्व का मानव

मानव-विज्ञान के दो स्वरूप हैं : शारीरिक मानव-विज्ञान एवं सांस्कृतिक मानव-विज्ञान (Physical and Cultural Anthropology)। इन दोनों की सहायता से मानव-वैज्ञानिकों ने मानव के मानवीकरण के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन किया है। प्राचीन शव-गह्वरों एवं कब्रों से प्राप्त मानव-कङ्कालों के बाह्य रूप के अध्ययन से तथा उनके स्थान-विशेष से विभिन्न आनुक्रमिक मानव-कोटियों की निर्धारणाएँ उपस्थित की गयी हैं, यथा—ट्रिनिल (जावा), हीडेल्बर्ग (जर्मनी), पिल्टडाउन (इङ्गलैण्ड), नीअण्डर्थल (जर्मनी), औरिग्नसिअन (फ्रांस), क्रो-मैग्नन (फ्रांस) आदि। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'डिगिंग अप दी पास्ट' (Digging up the Past) में सर लीयोनार्ड वुली महोदय ने इन कोटियों का विशद वर्णन किया है। सन् १९२९ ई० में चीन के पिकिंग नामक स्थान में मानव की प्राचीनतम खोपड़ी प्राप्त हुई है। औरिग्नेशियन तथा

२५०,००० वर्ष का मानव तथा उसका जीवन



आदिकालीन अस्त्र-शस्त्र

क्रो-मैग्नन में प्राप्त ढाँचा ६ फुट लम्बा है और उसका स्वरूप वर्तमान योरोपीय मानव का है। और अनुमानतः वह आज से ५०,००० तथा १०,००० वर्षों के बीच कभी इस धरती पर जीवन-यापन करता था। इस प्रकार के मनुष्य पूर्व पाषाण-काल के व्यक्ति कहे जाते हैं। इनका काल आज से लगभग २५,००० वर्ष पूर्व माना जाता है। इस काल के समाप्त होते-न-होते मानव ने पशुओं के ऊपर अपनी उच्चता घोषित कर ली थी और उसमें हथियार बनाने की कला का प्रादुर्भाव हो चुका था। उनके हथियार पाषाण के थे और वे आक्रमण एवं सुरक्षा के लिए प्रयोगित होते थे। ये पाषाण-अस्त्र-शस्त्र लकड़ी के कुन्दों या छड़ियों में भी लगाये जाते थे और कुल्हाड़ी या भाले के सदृश प्रयोगित होते थे। उनके अवशेष-चिह्नों से यह भी पता चला है कि ये पाषाण-खण्ड शत्रुओं पर फेंके भी जाते थे और धनुष पर रख कर या रस्सी से लगा कर ढेलबाँस के समान व्यवहार में लाये जाते थे। इस युग का मानव अग्नि का प्रयोग भी करता था : उसे जला सकता था, बुझा सकता था। इतना ही नहीं, इस काल के मानव एक दूसरे से वाणी द्वारा क्रियाओं, भावों एवं विचारों को व्यक्त भी कर सकते थे। सचमुच, मानव के विकास का यह एक अत्यन्त रोमाञ्चपूर्ण स्तर आ पहुँचा, फिर क्या था! आगे का विकास द्रुततर हो उठा। ऐतिहासिक काल की परम्पराओं की पीठिका इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल में बड़ी तीव्रता के साथ बढ़ चली।

आदि पाषाण-काल एवं नवीन पाषाण-काल

§. [४] जैसा कि गत प्रकरण में कहा जा चुका है, प्राप्त उपकरणों के आधार पर मानव की प्रारम्भिक जीवन-कहानी दो विशिष्ट भागों में विभाजित की गयी है : आदि या प्राचीन पाषाण-काल (Palaeolithic or Old Stone Age) एवं नवीन

आदि पाषाण-काल

या उत्तर पाषाण-काल (Neolithic or New Stone Age)। प्रथम काल से तात्पर्य है

मानव के जीवन-विकास का वह युग जब वह पाषाण-खण्डों से अस्त्र-शस्त्र का निर्माण करता था। भाले एवं कुल्हाड़ियाँ तक पाषाण की होती थीं। स्पष्ट है, उन दिनों धातु की खोज नहीं हो सकी थी। इन्हीं हथियारों की धार को तीक्ष्ण करके लकड़ी काटी जाती थी और इन्हीं की सहायता से अग्नि भी उत्पन्न की जाती थी। बहुत युगों तक कोई विशेष आविष्कार न हो सका, किन्तु नवीन पाषाण-काल (लगभग १२,०००—८०० ई० पू०) के पूर्व पाषाण-निर्मित हथियारों में बहुत-से परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। इसी कारण कभी-कभी उत्तर प्राचीन पाषाण-काल को **मध्य पाषाण-काल** (Middle Stone Age) भी कहा जाता है।

§. [५] क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर मानव ने १०,००० वर्षों के भीतर लकड़ी की मूठों वाले एवं सुन्दर आकार के पाषाण-अस्त्र-शस्त्र निर्मित किए। इतना ही नहीं, नवीन मानव ने आखेट में प्राप्त पशुओं की सींगों एवं अस्थियों से भी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया।

मध्य पाषाण-काल

पुरातत्व-शास्त्रियों को इन पदार्थों से निर्मित सुइयाँ, सीटियाँ आदि प्राप्त हुई हैं। मध्य पाषाण-कालीन मानव मृत भाण्डों (मिट्टी के बर्तनों) के निर्माण तथा कपड़ा बुनने की कला से अपरिचित था। वह चर्म-वस्त्र प्रयोग में लाता था और उसी में वह अपनी वस्तुएँ एकत्र करता था। किन्तु इस युग का मानव कला का ज्ञानी अवश्य था जैसा कि स्पेन के अल्तामीरा नामक रियासत में प्राप्त गुहा-चित्रकारियों से व्यक्त होता है। गुहाओं की छतों पर पशुओं की आकृतियाँ बड़ी भव्य हैं। अन्य स्थानों पर भी इसी प्रकार गुहा-चित्रकारियाँ उपलब्ध हुई हैं। चित्रकारियों में पुरुषों, नारियों के अतिरिक्त बारहसिंहों, बनैले सुअरों तथा बृहत्काय पशुओं के चित्र भी हैं। आश्चर्य तो यह है कि २०,००० वर्ष पुरानी ये चित्रकारियाँ अपने मौलिक रंगों में अब भी विद्यमान हैं। श्री विल ड्यूरां (Will Durant) ने तो यहाँ तक कह डाला है कि ये चित्रकारियाँ अपनी मनोरमता, कलाकारिता एवं

दक्षता में इतनी उच्च हैं कि इस विषय की कला मानव-इतिहास के लम्बे युगों के पश्चात् भी बहुत आगे नहीं बढ़ सकी है। इन स्थानों में रंग मिलाने की प्रस्तर-पटिया (Palette) तथा अस्थि-नलियाँ (Bone-tubes) रंगों के साथ प्राप्त हुई हैं। ये चित्रकारियाँ अन्ध गुहाओं में निर्मित हुई हैं, अतः स्पष्ट है, प्रकाश का भी सुन्दर प्रबन्ध अवश्य रहा होगा। इस विषय में दीपक-स्वरूप वाले प्रस्तर-खण्ड भी मिले हैं। अग्नि-निर्माण की यह कला एवं खोज, सचमुच, आश्चर्य-जनक है। अब तो अग्नि न-केवल शीत से बचने के लिए अथवा भयंकर पशुओं के निवारण के लिए, प्रत्युत भोजन पकाने के लिए एवं अन्ध वन-प्रान्तों को प्रकाशित करने में प्रयोगित होने लगी। कालान्तर में जब धातु की खोज हो गयी तो अग्नि का प्रयोग उसे गलाने के लिए भी होने लगा। सचमुच, अग्नि का यह प्रयोग "को-मैग्नन युग से लेकर औद्योगिक क्रान्ति तक शिल्प-कला-विज्ञान में एक ही वास्तविक विकास है।"

§. [६] इस प्रकार हमने देखा कि प्राचीन पाषाण-काल की प्रमुख खोजें थीं अग्नि, अस्त्र-शस्त्र-निर्माण एवं वाणी-प्रकाश। प्राचीन पाषाण-काल मध्य पाषाण-काल से सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता और न मध्य पाषाण-काल उसी प्रकार उत्तर या नवीन पाषाण-काल से।

नवीन पाषाण-काल

नवीन पाषाण-काल की प्रमुख खोजें थीं बुनाई, मिट्टी के बर्तनों का निर्माण, झोपड़ी एवं गृहों का निर्माण, भेड़ों, बकरियों, सूअरों, कुत्तों का पालन, कृषि, पहियेदार गाड़ियों का प्रयोग, नौका-निर्माण, धातु-प्रयोग तथा कुछ विशेष प्रकार का चिन्तन-आलेखन जो कालान्तर में लिपि-कला में परिणत हो गया।

मानव-शास्त्रियों का कहना है कि आदि मानवों ने बुनाई की कला मकड़ों के जालों, चिड़ियों के घोसलों तथा लता एवं वृक्षों के पारस्परिक अवगुण्ठनों के निरीक्षण से सीखी होगी। स्पष्ट है, वस्त्र-निर्माण के पूर्व टोकरियों एवं चटाइयों का निर्माण हुआ होगा तथा

सूत की कताई के पूर्व साग-भाजी के रेशे प्रयोग में लाए जाते रहे होंगे। इसी प्रकार गुहा-वास तथा लता-विटप-कुञ्जों से गृह-निर्माण का निर्देश मिला होगा। क्रमशः कालान्तर में इन विविध प्रयत्नों में मानव ने अपनी विशेष बुद्धि-शक्ति का परिचय दिया। ईंटों का निर्माण मिट्टी के ढोकों से तथा मिट्टी के बर्तनों का निर्माण पक्के ईंटों से हुआ होगा। स्विजरलैण्ड में सन् १८५४ ई० में बहुत से प्राचीन-तम गृह मिले जो लकड़ी के सहारे झील तक बढ़े हुए थे। नवीन-पाषाण की सब से महत्वपूर्ण विशेषता थी कृषि जिसके फलस्वरूप इस काल में ऊपर वर्णित सभी प्रकार की खोजें एवं सभी प्रकार के आविष्कार सम्भव हो सके। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। कृषि के उपकरणों के एकत्रीकरण में भाँति-भाँति की खोजें एवं जीवन-यापन की नयी चालें अनिवार्य-सी थीं।

नवीन पाषाण-युग में कृषि एवं उद्योग

§. [७] मानव-सभ्यता के विकास-पथ में आदि मानव के प्रयत्नों में दो प्रयत्न विशिष्ट स्थान रखते हैं और वे हैं कृषि एवं उद्योग। प्रो० विल ड्यूरॉं के शब्दों में कहा जा सकता है कि एक अर्थ में सम्पूर्ण मानव-इतिहास दो क्रान्तियों पर केन्द्रित : उत्तर पाषाण-कालीन आखेटावस्था का कृषि में तथा अर्वाचीन कृषि-अवस्था का उद्योग तथा व्यवसाय में परिणत हो जाना। खेतिहर होने तथा भोजन उत्पन्न करने के पूर्व मानव शिकारी था तथा भोजन ढूढ़ने में लगा रहा करता था। अब क्या था, वह व्यवस्थित ढंग से जीवन-यापन में लग गया। कृषि के साथ धन-सम्पत्ति-मोह एवं भूमि-प्रेम जाग पड़ता है। यह स्वाभाविक है कि व्यवस्थित जीवन में पर्याप्त अवकाश मिलता है। दिन-रात भोजन-प्राप्ति में प्रवृत्त मानव कुछ विशेष सोचने में उतना समर्थ नहीं होता। कृषि ने आदि मानव को समय दिया और वह अपने भौतिक विकास के उपादानों को सुन्दरतर रूप देने में संलग्न हो गया। हल एवं फावड़ा की उत्पत्ति हुई और कालान्तर में मानव को पशु-शक्ति के उपयोग की बात सूझी।

मानव-शास्त्रियों का कहना है कि पशुओं में सर्वप्रथम कुत्ते एवं गदहे पाले जाने लगे और पुनः बकरियों, भेड़ों, गायों, भैंसों का अनुक्रम बँधता चला गया। ऐतिहासिकों के मत से पशुओं द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों का अनुक्रम यों था : पहले हल तब बिना पहिए की गाड़ियाँ और अन्त में पहिएदार गाड़ियाँ। विकास की द्रुततम गति में पहिएदार गाड़ियों (Wheeled vehicles) का प्रभूत महत्व है। पहियों का अनुसंधानकर्त्ता आज के आवागमन एवं यातायात का जनक कहा जाता है। किसी प्रतिभासम्पन्न लोहार ने पहियों का निर्माण किया जिसमें अपार शक्ति-उत्पादन की सम्भावनाएँ निहित थीं, क्योंकि उनमें माल अथवा माल-पिटारियों (Waggons) को चक्र-गति देने की समर्थता थी, उन्हीं से बर्तनों को आज का आकार मिला, उन्हीं से धुरी पर चलने वाले टेकुओं (Spindles) का आविष्कार हुआ तथा उन्हीं से घिरनी, चरखी (गड़ारी, Pulley) का रूप खिला। इसी प्रकार चक्राविष्कार से कालान्तर में आज के यन्त्र-युग की विविध प्रकार की मशीनें सम्भव हो सकीं। इस प्रकार क्रमशः हम देखते हैं कि आदि मानव नवीन पाषाण-युग में बहुत कुछ कर दिखाने में समर्थ हो सका। कृषि से नवीन पाषाण-युग के मानव का गृह अन्न से भरपूर हो गया और क्रमशः आदान-प्रदान एवं विनिमय की धारणा को गति मिली। कृषि से नवीन मानवों में सहकारिता की भावना जगी तथा पहियेदार गाड़ियों से विविध प्रकार की बसी हुई मानव-जातियों में आवागमन एवं व्यापार-सम्बन्धी पारस्परिक क्रियाएँ आरम्भ हो गयीं। नौका का भी आविष्कार हुआ जिससे यातायात एवं आवागमन को प्रचुर गति मिली। प्रथमतः नौका का स्वरूप वृक्ष-अङ्गों का खोखला था। इस प्रकार कृषि एवं उद्योग की समानान्तर एवं गुम्फित गतियाँ विकसित होती चली गयीं। पहियों एवं नौकाओं ने व्यापार को सुविधाएँ दीं और कालान्तर में व्यापार द्वारा मानव-जीवन की जटिलताएँ बढ़ीं एवं विशेष प्रबन्ध-पटुता तथा दक्षता प्राप्त हुई। संक्षेप में, ये ही उक्त नवीन पाषाण-युग की विशेषताओं के प्रतीक हैं।

धातु-काल

§. [८] आदि पाषाण-काल एवं नवीन या उत्तर पाषाण-काल की जीवन-परिचारिकाओं का वर्णन ऊपर हो चुका। कालान्तर में मानव ने धातु का भी अनुसंधान कर लिया। पाषाण के यन्त्र मानव को सभ्यता के विकास में बहुत दूर नहीं ले जा सकते थे। पाषाण-युग के सहस्रों वर्षों की दौड़ान में मानव ने भूगर्भ-तत्वों की ओर विशेष उन्मुखता प्राप्त कर ली। धातु की खोज ने मानव की गति को अधिक उत्तेजनाएँ प्रदान कीं। औद्योगिक विकास के मूल में धातु-प्रयोग विशिष्ट स्थान रखता है। नवीन पाषाण-युग के अन्त में ताम्र (Copper) की खोज हुई। इसमें सन्देह नहीं कि सुवर्ण एवं रजत की खोजें पहले हो चुकी थीं, किन्तु धातु-काल का वास्तविक प्रारम्भ ताम्र की खोज से ही आरम्भ होता है। जैसा कि प्रकरण §. [६] में निर्देश किया जा चुका है, लगभग ई० पू० ६,००० वाली स्विजरलैण्ड की गुहाओं में ताम्र की वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इसी प्रकार प्रागैतिहासिक मेसोपोटैमिया (लगभग ४,००० ई० पू०), मिश्र (लगभग ४,००० ई० पू०) तथा उर (लगभग ३,१०० ई० पू०) में ताम्र का उपयोग सिद्ध है। लगभग ३,५०० ई० पू० के पूर्वी भूमध्यसागरी प्रदेशों में गला कर (Smelting) शुद्ध ताम्र का प्रयोग होता था। लगभग १,५०० ई० पू० में ताम्र को गला कर ढालने की क्रिया (Casting) का ज्ञान हो चुका था। ताम्र कोमल धातु है अतः उसकी उपयोगिता अपेक्षाकृत सीमित सिद्ध हुई। ताम्र को अन्त में टिन (Tin) से संयुक्तकर कठोर बनाया गया। इस सम्मिलित धातु को काँसा (Bronze) कहते हैं। हमें ज्ञात है कि क्रीट, मिश्र तथा ट्राय में लगभग ३,००० तथा २,००० ई० पू० काँसे का प्रयोग बहुतायत से होता था। सैंधवों (सिन्धु-घाटी के निवासी) की नगरों में, जो मोहेन-जो-दारो के नाम से विख्यात है, ताम्र एवं काँसे का प्रयोग सिद्ध है। किन्तु लोहे का आविष्कार सहस्र वर्षों के उपरान्त हुआ और वह आज तक मानव के औद्योगिक मन को विमोहित किए हुए है। इन

धातुओं के प्रयोग से मानस-विकास को आश्चर्यजनक गतियाँ प्राप्त होती चली गयीं।

लिपि अथवा आलेखन का आविष्कार

§. [६] जैसा कि मध्य पाषाण-युग की विशेषताओं के विवेचन में निर्देशित किया जा चुका है, लिपि-कला का विकास चित्रालेखन एवं चित्र-रंगाई की ललित कला के परिमार्जन का परिणाम था। प्रागैतिहासिक मानव को यह कला सूझ गयी थी। आरम्भिक कालों में लिपि-आलेखन चित्रवत् या चित्र-सम्बन्धी संकेतवत् (Pictographic) था। मिश्री बीजाक्षर (पुरोहित-सम्बन्धी गूढ़ाक्षरों में लिखित: The Egyptian hieroglyphic—holy writing), सुमेरीय चिन्ही-नुमा या खूँटे की आकृतिवाली लिपि (Sumerian cuneiform or wedge-shaped scripts) तथा मोहेन-जो-दारो के सैन्धवों की आशय-विशिष्ट-संकेत-लिपि (Ideographs of Mohenjo-daro in the Indus Valley) आदि चित्रालेखन-कला के विविध स्वरूप ही हैं। आधुनिक लिपि-कला प्राचीन चित्रवत् लिपि के क्रमशः परिवर्तित रूप का ही परिणाम है अर्थात् आज की लिपि स्वर-सम्बन्धी एवं शब्दांश-सम्बन्धी (Phonetic and Syllabic) है और इसका विकास क्रमशः हुआ है। मानव ने लिपि की सहायता से अपनी अनुभूतियों एवं विचारों को सुरक्षित रखा और पीढ़ियों तक उन्हें ज्यों-का-त्यों बढ़ने में अपनी समर्थता व्यक्त की। लिपि के आविष्कार एवं परिमार्जन से आज के मानव के कर्तृत्वों का आलेखन हमारे ज्ञान की सीमा में ही बँधा रहता है और अनिश्चितता एवं सन्दिग्धता की अवस्था नहीं उत्पन्न होने पाती।

धातु-विद्या एवं लिपि-कला के उद्भव के साथ-साथ ऐतिहासिक मानव का रूप खिल उठता है। इस प्रकार हम देखते हैं, धातु एवं लिपि के सहचारी संयोग से मानव-इतिहास की रेखाएँ उभर आती हैं और हम उसे पढ़ने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हो पाते हैं।

प्रागैतिहासिक काल-सम्बन्धी निष्कर्ष

.§. [१०] गत प्रकरणों के परिशीलन से यह व्यक्त हुआ कि मानव का प्रागैतिहासिक जीवन तीन विशिष्ट कालों में बाँटा जा सकता है : (१) *पूर्व या आदि पाषाण-काल*, (२) *उत्तर या नवीन पाषाण-काल*, तथा (३) धातु-काल या विशेषतः जस्ते का युग। कुछ विद्वानों ने प्रागैतिहासिक मानव-जीवन को दूसरे ढंग से विभाजित किया है, यथा—(१) पूर्व पाषाण-काल, जो बहुत समय तक चलता रहा, (२) उत्तर पाषाण-काल जो पहले की अपेक्षा कम समय तक रहा तथा (३) कृषि-काल जो आज तक भी अन्य परिमार्जनों के साथ विद्यमान है। तीसरे काल की प्रमुख विशेषताओं में धातु-प्रयोग मुख्य है। धातु-काल को इस मत से कोई विशेष महत्ता नहीं दी जाती, क्योंकि धातु-प्रयोग, कृषि की उन्नति के निमित्त ही सम्भव हो सका। प्रस्तुत लेखक दूसरे मत का समर्थक है। काल-विभाजन के सिलसिले में एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है। पाषाण-कालीन सभ्यता का विकास विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में एकरसता के साथ नहीं हुआ, विभिन्न भू-भागों में वह विभिन्न ढंग से प्रतिफलित होता रहा।

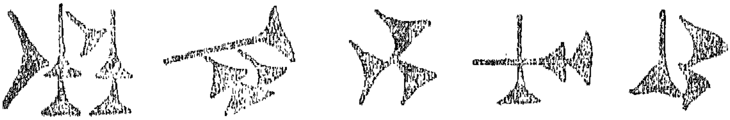
मानव-विकास में विभिन्न जातियों का उद्भव

.§. [११] आरम्भिक मानव में विभाजन उतना सम्भव नहीं था, क्योंकि साधनों के अभाव में वह अपेक्षाकृत अपने में ही बँधा था। वह दूर-दूर परिभ्रमण करता था किन्तु उसमें पृथक्त्व की भावना जागरित नहीं हो सकी थी। आदि मानव के लिए यह सम्भव था कि वह जन्म तो यूरोप में ले किन्तु उसकी मृत्यु एशिया में हो। किन्तु कृषि एवं उद्योगों के विकास के साथ उसमें स्थानीयता के प्रति विमोह उत्पन्न हुआ और वह अपने में बिलगाव की भावना पाने लगा। उत्तर पाषाण-काल के पश्चात् मानव-जाति विभिन्न जातियों में बँटने लगी। जलवायु-सम्बन्धी अवरोधों एवं जातीय विमोह ने कालान्तर में विभाजन-कार्य सम्भव कर दिया। जाति-विशेषज्ञों (Ethnologists) ने

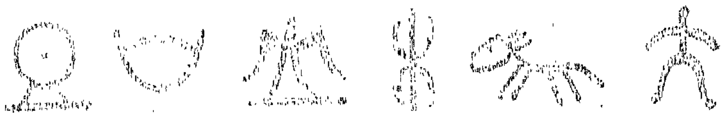
आदि विश्व की लेखन-कला



मिश्र



असीरियन



चीनी



फोयनिशन



मोहेंजोदारो

चित्र नं० २-६

सम्पूर्ण मानव-जाति को तीन विशिष्ट श्रेणियों में बाँटा है : (१) काकेशियन जाति (उत्तरी एवं दक्षिणी), (२) मंगोल जाति तथा (३) हब्शी जाति। इनका विवेचन निम्न है :

(१) (क) उत्तरी काकेशियन जाति : इस जाति के लोग बहुधा भूमध्य सागर के प्रदेशों तथा यूरोप में पाये जाते हैं। ये ही लोग कालान्तर में आर्य-जाति के द्योतक हुए और इनकी भाषा आर्य-भाषा कही गयी। आर्य-भाषा से ही संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि विशिष्ट भाषाओं की उद्भावना हुई। इस जाति के लोगों का रंग गोरा, आकृति लम्बी तथा शरीर बलिष्ट होता था, जैसा कि आज भी इस जाति के लोगों को देखने से व्यक्त होता है।

(ख) दक्षिणी काकेशियन जाति : इस जाति को सेमेटिक भी कहा जाता है। यह जाति उत्तरी काकेशिया तथा हब्शी लोगों के मध्य में निवास करती है। इनकी भाषा से हिब्रू, अरबी एवं अबीसीनिया की भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं।

(२) मंगोल जाति : इस जाति का रंग पीत है, बाल रूखे और काले होते हैं, गाल की हड्डियाँ उभरी हुई होती हैं। यह जाति आज एशिया एवं यूरोप दोनों महाद्वीपों में पाई जाती है। चीन, जापान के निवासियों, अमेरिका के रेडइण्डियनों एवं एस्किमो की उत्पत्ति इसी जाति से हुई है।

(३) हब्शी जाति : इस जाति का रंग काला, नाक चिपटी होती है। इसका निवास-स्थान है अफ्रीका, आस्ट्रेलिया एवं न्यूगिनी।

इन विशिष्ट जातियों के अतिरिक्त कई उपजातियाँ भी उत्पन्न होती चली गयी हैं। आज के विश्व में यह कहना कि यह जाति शुद्ध रूप से काकेशिएन, मंगोल अथवा हब्शी है, सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि कालान्तर में पारस्परिक संयोग एवं सम्मिलन से जातीय विभिन्नता दूर होती गयी है। यहाँ तक कि एक ही घर के लोगों, यहाँ तक कि सगे भाई-बहनों के रंग, नाक, आकृति आदि में आकाश-पाताल का अन्तर देखने में आता है। किसी का बाल हब्शी का है, तो रंग पीत है,

किसी की नाक लम्बी है तो रंग हब्शी का है, किसी की नाक चिपटी है तो वह लम्बा एवं सुडौल मुखाकृति वाला है'' आदि ।

विश्व-इतिहास में मानव तथा उसकी सभ्यता की विभिन्न अवस्थाएँ

विश्व - इतिहास में मानव एवं उसके विकास का स्वरूप

§. (१२) आदि काल से आधुनिक काल तक मानव ने बड़ी-बड़ी करवटें ली हैं और उसके जीवन की दशाओं में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं, किन्तु यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो यही पता चलेगा कि मानव विशाल परिवर्तनों के बीच भी मानव ही रहा है। प्रागैतिहासिक काल एवं ऐतिहासिक काल तो मात्र हमारे ज्ञान के विस्तार का सूचक है। आज के मानव के विषय में हमारा ज्ञान आदि मानव के विषय के हमारे ज्ञान से अपेक्षाकृत अच्छा है किन्तु इससे मानव के वास्तविक रूप के विषय में कोई व्यतिरेक नहीं उत्पन्न होता। "मानव वैसा ही बुद्धिमान् एवं कल्पना-विदग्ध पशुतुल्य निर्दय जीव है जो आज से ५०,००० वर्ष पूर्व था : मानव उसी प्रकार घर में स्नेही, पड़ोस में द्रोही या विद्वेषी, युद्ध में भयानक एवं नृशंस तथा मूलप्रवृत्तिप्रचालित, स्वार्थान्ध एवं निर्मोही व्यक्ति है; मानव उसी प्रकार शिष्ट एवं महानुभाव तथा प्रगतिशील है और है अद्भुत प्रबन्धत्व-योग्यता वाला जिसके कारण वह सजीव एवं निर्जीव सृष्टियों पर अपना आधिपत्य स्थिर कर सका है।" विश्व-इतिहास क्या है? वास्तव में, यह इसी "अद्भुत जीव के अतीत के क्रिया-कलापों, संघर्षों, कर्तृत्वों एवं विफलताओं का विवरण मात्र है जिसके ज्ञान से वह अपने वर्तमान को समझ सके, सुधार सके एवं भविष्य का निर्माण कर सके''। मानव ने संसार के विभिन्न भू-भागों में सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ किस प्रकार की समाज की व्यवस्था की, उसी का चित्रण इस ग्रन्थ का ध्येय है। विभिन्न जातियों के सभ्यता-विकास का अन्तर [illegible]

जाता है। जातीय विशेषता से तात्पर्य है बौद्धिक स्तर एवं शारीरिक सहन-शक्ति या आन्तरिक बल तथा भौगोलिक विशेषताओं से तात्पर्य है जलवायु-सम्बन्धी दशाएँ, नैसर्गिक उपकरण, यथा—खाद्य-पदार्थ, खनिज पदार्थ, यातायात की सुविधाएँ आदि जिनके अभाव में अवरोध मिलता है अथवा भाव में प्रेरणाएँ मिलती हैं।

§. [१३] मानव-सभ्यता के स्तरों की तीन विशिष्ट अवस्थाओं का वर्णन ऊपर हो चुका है। पूर्व पाषाण-काल एवं उसके विष्कम्भक मध्य पाषाण-काल, उत्तर पाषाण-काल तथा कृषि-काल के अन्तर्गत धातु-विद्या एवं लिपि-कला-सम्बन्धी अवस्थाओं के उपरान्त सरिता-कालीन सभ्यताओं की अवस्था का अभ्युदय-काल आता है। मानव की भौतिक आवश्यकताओं में तीन प्रमुख हैं: भोजन, गृह-निर्माण के लिए मिट्टी एवं जल। सरिता की घाटियों में ये वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं, अतः मानव-सभ्यता-विकास में सरिता की घाटियाँ स्वतः प्रसिद्ध हो गयीं। सरिता-घाटी की सभ्यता मानव-विकास की अन्य विशिष्ट अवस्था है। इस अवस्था के उपरान्त काल-क्रम से समुद्रकालीन सभ्यता का काल आता है। विश्व के उन समुद्रों में जहाँ सभ्यतोन्मुख मानव अपनी गति पा सकता था विशेष सभ्यता का उद्भव हुआ। इस विषय में भूमध्यसागरीय प्रदेश अपने व्यापारादि जीवन-कार्य-कलापों के कारण अति प्रसिद्ध सिद्ध हो सके और उनकी सभ्यता अपनी विशिष्ट अवस्था का द्योतक हुई। समुद्रकालीन सभ्यता के उपरान्त उसी गति से कालान्तर में विविध भौतिक उपकरणों की वृद्धि के फलस्वरूप महासागरीय सभ्यता के काल का अभ्युदय हुआ। इस सभ्यता-अवस्था के मूल में यन्त्र-प्रचालित पोतों एवं महापोतों का विशेष हाथ रहा। फिर क्या था! मानव ने अपने जल-पोतों की सहायता से उपनिवेश एवं साम्राज्य स्थापित किए। अर्वाचीन अनुसंधानों एवं आविष्कारों के फलस्वरूप वैज्ञानिक युग की परम्पराएँ सुदृढ़ होने लगीं और क्रमशः युगातीत व्यवस्थाएँ

मानव - सभ्यता की विभिन्न अवस्थाएँ

हिल उठीं, मानव ने नया चोला पहना और उसकी प्राचीन गति प्रगति हो चली। उसने क्या खोया और क्या पाया, इसका विवेचन विश्व-इतिहास की एक विशिष्ट सम्पत्ति है। आज हम अणुयुग में हैं; आज हमारे प्रयत्न हमें ही चकित कर देते हैं, आज का मानव कल क्या कर बैठेगा यह आज की चुनौती है और है विश्व के इतिहास एवं सभ्यता का जलता एवं रक्तिम अध्याय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व-इतिहास मानव-सभ्यता की विशिष्ट अवस्थाओं का प्रतिबिम्बालेखन है। हम आगे के अध्यायों में विश्व-इतिहास की कतिपय अवस्थाओं से वेष्टित विशेष सभ्यताओं का परिशीलन करेंगे। इस ग्रन्थ का उद्देश्य है विश्व-इतिहास एवं सभ्यता का संक्षिप्त परिचय उपस्थित करना, अतः हम अपने अध्ययन को कुछेक विषय-भागों तक ही सीमित रखेंगे। किन्तु जो कुछ यहाँ लिखा जायगा वह अपने में पूर्ण होगा और होगा पाठकों के समक्ष विश्व के इतिहास एवं सभ्यता की एक झाँकी।

दूसरा अध्याय

आदि नागरिक सभ्यता का अभ्युदय :

(१) मेसोपोटैमिया (ईराक़) की सभ्यता

(Rise of Ancient Urban Civilisation :

[1] Mesopotamian Civilisation)

मेसोपोटैमिया का इतिहास एवं उसकी सभ्यता

§. [१] हमने गत अध्याय में प्रागैतिहासिक काल के परिशीलन के साथ मानव के इतिहास एवं उसकी सभ्यता की विशिष्ट अवस्थाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाल दिया है। उत्तर पाषाण-काल में मानव ने जो आविष्कार किए उसके फलस्वरूप उसमें स्थायित्व की भावना जगी और वह अपनी विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति में अग्रसर हुआ। क्रमशः उसके आविष्कार उसे स्थान-विशेष में नियोजित करने लगे और वह सरिताओं की घाटियों में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति पाने लगा। सरिता की घाटियों में उसने नगरों का निर्माण किया और अपनी सभ्यता पर अपनी बुद्धि एवं सम्बन्ध-पटुता का प्रकाश फेंकने लगा। मिश्र में नील-घाटी, मेसोपोटैमिया में दजला-फरात की घाटी, भारतवर्ष में सिन्धु, गंगा, नर्मदा आदि सरिताओं की घाटियों में उसकी सभ्यता का विकास होने लगा। इन घाटियों में मानव की प्रथम नागरिक सभ्यताओं का अभ्युदय हुआ। नील की घाटी विश्व-इतिहास के आलेखन में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस अध्याय में हम मेसोपोटैमिया की सभ्यता का अनुशीलन करेंगे और व्यक्त करेंगे कि किस प्रकार मानव ने अपनी सभ्यता को नागरिकता का स्वरूप देकर अमिट करना चाहा।

पूर्वाभास

§. [२] मेसोपोटैमिया की सभ्यता पर उसके स्मारक-चिह्नों द्वारा प्रभूत प्रकाश पड़ता है। हम प्रथमतः उस देश के भौगोलिक वातावरण

एवं उसमें प्राप्त उपकरणों का उद्घाटन करेंगे जिनके आधार पर उसकी सभ्यता का इतिहास लिखा गया है।

मेसोपोटैमिया तथा उसके स्मारक-चिह्न दजला और फरात सरिताओं द्वारा वेष्टित भूमि-भाग मेसोपोटैमिया के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस शब्द का अर्थ ही होता है दो सरिताओं के मध्य की भूमि। यह ग्रीक शब्द है अतः ग्रीकों (यूनानियों) ने ही यह संज्ञा दी होगी। आजकल इस देश को ईराक कहा जाता है। यह प्रदेश अर्द्धचन्द्राकार है और यहाँ की भूमि हरी भरी है अतः प्रोफेसर ब्रीस्टेड ने इस स्थान को 'उपजाऊ अर्द्धचन्द्र' (Fertile Crescent) की संज्ञा दी है। आदि काल में यहाँ प्राचीन मिश्र की सभ्यता के समान एक प्रशस्त संस्कृति का उद्भव हुआ था। हमें आज इस प्राचीन सभ्यता के विषय में जो कुछ ज्ञात हो सका है, वह सब यहाँ की कब्रों एवं प्राचीन अवशेष-चिह्नों पर आधारित हैं। इन स्मृति-चिह्नों में ही आदि मेसोपोटैमिया की सभ्यता एवं संस्कृति की मनोरम कहानी छिपी हुई है। यहाँ के प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेषों में यहाँ के आदि मानव की अद्भुत प्रतिभा विराजमान है। ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (Herodotus) को यहाँ की मरुभूमि में लुप्त संस्कृति के अवशेष-चिह्न नहीं दीख सके, वह केवल बेबीलोनिया (Babylon) की चर्चा करके मौन हो जाता है। उसी प्रकार बेबीलोनिया के बेरोसस (Berosus) नामक इतिहासकार (लगभग २५० ई० पू०) ने केवल इतना ही लिखा है कि फारस की खाड़ी से निकल कर किसी राक्षस जाति ने कृषि, धातु-कर्म एवं लिपि की कलाओं को इस देश में प्रचारित किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में

आधुनिक खोजें हिंक्स एवं ओपर्ट (Hinks and Oppert) नामक अनुसंधानकर्ताओं ने इस देश की प्राचीनता पर प्रकाश डाला और यहाँ की पिच्ची-नुमा लिपि (Cuneiform writing) की ओर विद्वानों एवं पुरातत्ववेत्ताओं (Archaeologists) का ध्यान आकृष्ट किया।

सन् १८४२ ० में लेयार्ड (Layord) ने खुदाई करायी और भाँति-भाँति के स्मारकों एवं शिलालेखों का पता चलाया। सब से महत्व-पूर्ण खुदाई सर्वश्री वुली एवं लैंग्डन (Wolley and Longdon) द्वारा हुई है जिससे मेसोपोटैमिया के आदि कालीन इतिहास एवं सभ्यता पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

आदि मेसोपोटैमिया के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक नगरों के ध्वंसावशेष : किश

लगातार खुदाई से किश, सूसा, उर, बेबीलोनिया तथा निनेवेह (Kise, Susa, Ur, Babylon and Nineveh) के अति प्राचीन नगरों का पता चला है। इन नगरों में कुछ तो मिश्र-सभ्यता से अति प्राचीन सभ्यता के समर्थक सिद्ध हुए हैं। किश एवं सूसा के स्मृति-चिह्न हमें पूर्व पाषाण एवं उत्तर पाषाण-काल तक ले जाते हैं। कुछ नगरों में दस-दस के स्तर प्राप्त हुए हैं और वे दस सभ्यताओं के प्रतीक हैं। किश का नगर न-केवल प्रथम सुमेरीय सभ्यता की राज-धानी था, प्रत्युत वह अगदे (Agade) एवं बेबीलोनिया के साम्राज्य का प्रमुख नगर भी था जहाँ पर ससैनिया साम्राज्य के अन्त तक (सन् ६५० ई०) राजनीतिक, धार्मिक क्रीड़ाएँ होती रहीं। किश का इतिहास लगभग ई० पू० ४,५०० से आरम्भ होता है और ई० पू० तेरहवीं शताब्दी तक चला जाता है। किश के तीसरे राज्य-वंश में महती साम्राज्ञी हत्शेप्सुत (Hatshepsut) हुई जो आरम्भ में केवल राजधानी की साकी थी और अन्त में ५० वर्षों तक ठाट से साम्राज्ञी एवं संरक्षिका रह सकी।

सूसा एवं उर

किश के समान सूसा (आधुनिक सुशान = Sushan) भी समृद्धि-शाली नगर था। यह सुमेर के पूर्व में इलाम (Elam) की राजधानी था। यहाँ पर २०,००० वर्ष प्राचीन मानवी आकृतियाँ एवं लगभग ४,५०० ई० पू० की प्राचीन संस्कृति के अवशेष चिह्न प्राप्त हुए हैं जिनमें ताम्र के अस्त्र-शस्त्र एवं यन्त्र, बीजाक्षरों की लिपि के आलेखन

(Hieroglyphic writings) दर्पण, जवाहरात एवं रंगीन सुन्दर आकृतियों वाले पशु-वृक्षों की चित्रकारियों से युक्त बर्तन मुख्य हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि मिश्र एवं बेबीलोनिया के निवासियों से बहुत पहले इलाम के वासी गाड़ियों एवं कुम्हार की चाक वाली पहियों के आविष्कारकर्ता हो चुके थे। लगभग ६,००० वर्षों तक सूसा उत्फुल्ल बना रहा और यहाँ सुमेर, बेबीलोनिया, मिश्र, असीरिया, फारस, ग्रीस एवं रोम के साम्राज्यों के क्रम से उत्थान एवं पतन होते रहे।

मेसोपोटैमिया की सबसे महत्वपूर्ण एवं मनोरम नगरियाँ थीं उर, बेबीलोनिया तथा निनेवेह। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री लेओनार्ड वुली ने उर नगरी के ध्वंसावशेष का बड़ा ही लोमहर्षक वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि उर के नगर के ध्वंसावशेषों एवं कब्रों में प्राप्त वस्तुओं के अवलोकन से हमें उस सुमेरीय सभ्यता का परिज्ञान होता है जो ई० पू० ३५०० में विद्यमान थी और मिश्र के लोग तब तक असभ्य ही थे। दजला तथा फरात की घाटी में सुवर्ण, रजत, ताम्र, पत्थरों, शङ्खों पर जो शैली निर्मित है वह हमें आश्चर्य में डाल देती है। यद्यपि उन दिनों का कोई लिखित इतिहास नहीं है, किन्तु कब्रों में जो वस्तुएँ प्रतिदान के स्वरूप अर्पित हैं वे एक स्वर से कहती हैं कि उनके निर्माणकर्ता की सभ्यता बड़ी ही सुसंगठित थी। उर के निवासी जल एवं स्थल के मार्ग से बाहरी वस्तुएँ मँगाते थे। उनके व्यापारिक स्थान थे: पामीर का पर्वतीय स्थान, ओमन (फारस की खाड़ी के निकट) फारस के लेबनॉन आदि जहाँ से वे वैदूर्य (एक नीला बहुमूल्य रत्न = Lapis-Lazuli), ताम्र एवं सेलखड़ी (Alabaster), रजत एवं देवदार की लकड़ी (Cedar wood) मँगाते थे और उन पर चित्र-विचित्र काम करते थे। उर में केवल अन्न तथा खजूर पैदा होते हैं, अतः स्पष्ट है, वहाँ के निवासी अन्य देशों से प्राप्त वस्तुओं पर काम करके व्यापार करते थे। इससे विदित होता है कि उर का व्यापार एवं उसकी बाह्य नीति बड़ी ही प्रभावोत्पादक थी। उर के निवासी सन्धियों अथवा बल से दूर-दूर के भागों को अपने वश में कर

लिया था। लिखने की कला के ज्ञान से व्यापारियों को सुविधाएँ प्राप्त थीं। सुमेर की सेना अपने जत्था-व्यूहों, रथों आदि संग्राम-उपकरणों से आवागमन के मार्ग सुरक्षित रखती थी अथवा बाह्याक्रमणों को रोकती थी। उर की भौतिक उन्नति आदिकालीन सभ्यताओं में सबसे उच्च थी। उर की कब्रों एवं स्मारकों में जो सभ्यता-सूचक वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं वे अपने समय से बहुत प्राचीन रही होंगी। सचमुच, उर की सभ्यता एवं संस्कृति विश्व-इतिहास की एक बड़ी ही मनोरम एवं चित्ताकर्षक कहानी है।

मेसोपोटैमिया में सुमेर जाति का इतिहास

§. [२] उर की विचित्र सभ्यता के दिग्दर्शन के साथ यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसके स्रष्टाओं के विषय में भी कुछ जानकारी प्राप्त करें। उर के निवासी सुमेर के नाम से प्रख्यात हो गए हैं। ये सुमेर लोग कौन थे? अभी तक निश्चित रूप से उनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। उनके मूल के विषय में कई मत हैं। एक मत से वे मध्य एशिया के निवासी कहे जाते हैं। दूसरे मत से वे द्रविड़ अथवा आर्य थे और जल-मार्ग से फारस की खाड़ी द्वारा आये थे (देखिए तीसरा अध्याय प्रकरण §. १२)। इतना निश्चित है कि वे विदेशी थे और फारस की खाड़ी के उर्द्ध्व भूमि-मार्ग में बस गए। विद्वानों का मत है कि यह स्थान पहले सागर-जल से बहुत ऊँचा था। बाइबिल में यह स्थान शिनार (Shinar) के नाम से विख्यात है। किम्वदन्तियों से पता चलता है कि आदि काल में यह स्थान स्वर्ग का द्योतक था। सम्भवतः इसी कारण इस स्थान के आधिपत्य के लिए बड़े-बड़े संघर्ष हुए जिनसे मैसोपोटैमिया का इतिहास गर्भित है। यहाँ कालान्तर में जातीय संग्राम भी प्रबल हो उठा जो सेमेटिक एवं असेमेटिक के बीच चलता रहा और आज भी ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। मरुभूमि

सुमेरों का निवास-स्थान

से घिरे हुए इस घनी, हरे-भरे स्थान याशाद्वल स्थान (Oasis) के आधिपत्य के लिए संघर्ष अनिवार्य-सा था। इसी कारण यहाँ के लोग भयंकर सैनिक भी हो सके। अपेक्षाकृत शान्ति-प्रिय सुमेर लोग युद्धप्रिय भी सिद्ध हुए। वे आपस में तो लड़ते ही थे, उन्हें मरुभूमि की यायावर जाति (Nomads) से भी लोहा लेना पड़ता था और अन्त में वे यायावर जाति से पराजित भी हुए। आपसी युद्धों का कारण था देश का कई प्रसिद्ध नगरों में बँट जाना, यथा—उर, निप्पुर, उरुक, लर्स तथा लगश (Ur, Nippur, Uruk, Larsa and Lagash)। ये नगर उत्तर-कालीन ग्रीस के नगरों की भाँति विभिन्न नगर-राज्य (City-states) के द्योतक थे। इन नगर-राज्यों में पतेसी (Patesi) पुरोहित-राजा राज्य करते थे जिनके कन्धों पर शान्ति-व्यवस्था एवं रण-कौशल का भार था। श्री ब्रीस्टेड ने लिखा है: नील की घाटी में शान्ति की उच्च एवं विकसित आरम्भिक कलाएँ उपस्थित थीं, किन्तु मेसोपोटैमिया की सुमेर-जाति में रण-कौशल की उच्च एवं विकसित आरम्भिक कलाएँ विद्यमान थीं। पुरातत्ववेत्ताओं ने सहस्रों मिट्टी के ठीकरों पर उत्कीर्ण अंशों, भास्कर-कला तथा अन्य स्मारक-चिह्नों से स्पष्ट किया है कि सुमेरों ने सभ्यता में महत्वपूर्ण अध्याय जोड़े।

सभ्य शान्तिप्रिय एवं युद्धालु सुमेर जाति के नगर-राज्य

खुदाई से प्राप्त नगर-ध्वंसावशेषों में एक विशेष प्रकार के भवन हैं 'जिग्गुरत' (Ziggurat) जो मन्दिर-दुर्ग (Temple-cetadels) के द्योतक हैं। 'जिग्गुरत' का शाब्दिक अर्थ है 'ईश्वर का पर्वत'। ये भवन स्तम्भवत् होते थे और उनके ऊपर सीढ़ियों द्वारा जाया जाता था। शीर्ष भाग पर चन्द्रदेव 'नन्नर' (Nannar) एवं चन्द्र-स्त्री 'निनगल' (Nin-gal) का केन्द्रिय पवित्र स्थान होता था। बड़े मन्दिर के आस-पास में छोटे-छोटे अन्य पवित्र-स्थान तथा पुरोहितों के निवास-स्थान निर्मित

मन्दिर-दुर्ग 'जिग्गुरत' तथा अन्य पवित्र धर्म-स्थान तथा कर्म-चारी निवास आदि

रहते थे। वास्तव में, ये मन्दिर केवल पूजा-गृह ही नहीं थे, प्रत्युत उनके प्राङ्गणों में भाण्डार-गृह पुजारियों एवं यजमानों द्वारा अर्पित वस्तुओं एवं मठों के असामियों द्वारा करों को रखने के प्रकोष्ठ, पुरोहितों के निवास-स्थान, नौकर-चाकरों की कोठरियाँ, दुकानें, मन्त्रालय भी थे जहाँ मन्दिर में नियोजित नर-नारी रहते थे। मन्दिर के इन

धार्मिक, आर्थिक एवं व्यापारिक जीवन

विभिन्न भागों में कृषकों द्वारा लाये गए अन्न की कताई-बुनाई होती थी, नगर के सेठों एवं व्यापारियों द्वारा कर-स्वरूप प्रदत्त रजत एवं ताम्र की वस्तुएँ देवता के लिए ढाली जाती थीं, उत्तरी भू-भागों से लाये गए लकड़ी के कुन्दों की कटाई एवं शिल्पकारी होती थी। यहीं पर पाठशालाएँ भी थीं जहाँ पर धार्मिक एवं पेशेवर लोगों को शिक्षा दी जाती थी। यहीं पर पुस्तकालय भी थे जिनमें धार्मिक पुस्तकें ऐतिहासिक विवरण एवं न्यायालयों के अभियोग सम्बन्धी कागदादि रखे जाते थे। संक्षेप में, ये मन्दिर-दुर्ग अपने में सुमेर की सभ्यता के सारे उपकरणों से सज्जित थे।

मेसोपोटैमिया में बेबीलोनिया का इतिहास

.§. [४] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सुमेरों को आक्रमणों से निबटना पड़ता था और उन्हें बहुधा अपने शान्तिप्रिय एवं कला-कौशलपूर्ण जीवन को संघर्षमय कर देना पड़ता था। मेसोपोटैमिया

अक्कड़ का सुमेर पर आधिपत्य तथा मेसोपोटैमिया में सुमेर-अक्कड़ का सम्मिलित राज्य

की उत्तरी सीमा से अक्कड़ जाति आक्रमण पर आक्रमण करती रही। सुमेरों की प्रमुख नगरी थी किश जिसका वर्णन ऊपर (.§. २) हो चुका है। ई० पू० बीसवीं शताब्दी में अक्कड़ देश का सेमेटिक राजा सरगों (ई० पू० २७७२-२७१७) प्रबल हो उठा और उसने पूर्व में इलाम से लेकर पश्चिम में सीरिया तक अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसने उद्घोष किया कि उसका साम्राज्य 'सूर्योदय स्थान से सूर्यास्त स्थान' तक विस्तृत था। उसने क्रमशः मेसोपोटैमिया के

उर, लगश तथा अन्य सुमेरीय नगरों को अधीनस्थ कर लिया। सरगों के राज्यशासन के उपरान्त मेसोपोटेमिया के राजाओं ने अपने को 'सुमेर तथा अक्कड़' का राजा कहा। इन राजाओं के क्रिया-कलापों के फलस्वरूप दजला तथा फरात की घाटी की दक्षिणी भूमि में बेबीलोनिया का नवीन नगर बसा जिसने कालान्तर में सभी प्राचीन नगरों की श्री छीन ली। बेबीलोनिया का नाम उसके बृहत् मन्दिर (जिग्गुरत) बैबिली के नाम पर पड़ा। यह मन्दिर इसके देवता मार्दुक (Mervdach = Marduk) अथवा इसकी देवी इश्तर का था और बैबिली (Bab-ili) अर्थात् "देव-द्वार" के नाम से प्रख्यात हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि बेबीलोनिया के निर्माता सेमेटिक राजा थे जो आरम्भ में अक्कड़ के निवासी थे और कालान्तर में मेसोपोटेमिया में सुमेर एवं अक्कड़ के सम्मिलित राज्य के अधिनायक हुए। बेबीलोनिया का इतिहास और उसकी सभ्यता का विकास इसी सम्मिलित राज्य से आरम्भ होता है।

बेबीलोनिया नगर

§. [५] बेबीलोनिया की राज्य-श्री एवं संस्कृति इसके राजा हम्मुराबी (Hammurabi) के राजत्व-काल में खिल उठी। वास्तव में, बेबीलोनिया की महत्ता का स्रष्टा यही हम्मुराबी महान् था। सन् १८६७ ई० में सूसा के निकट खुदाई के समय फ्रांस के पुरातत्ववेत्ताओं के हाथ एक स्तम्भ लगा जिस पर उत्कीर्ण अभिलेख के रूप में एक व्यवहार-संहिता (Code of Laws) प्राप्त हुई। यह संहिता हम्मुराबी की अक्षय कृति है और जब तक विश्व में भाषा एवं सभ्यता का नाम रहेगा यह अक्षुण्ण रहेगी। यह आदि कालीन सभ्यता का एक उज्ज्वल प्रतीक है। हम्मुराबी ने आदि सुमेरीय व्यवहारों (कानूनों) के आधार यह संहिता निर्मित की थी और कालान्तर में मोज़ज की हिब्रू-संहिता (Hebrew Code of Moses) हम्मुराबी-संहिता के आधार पर बनी। यह संहिता बृहत् है, उसमें २००

हम्मुराबी महान् [ई० पू० २१२३-२०८१]

भाग हैं। इसमें हम्मुराबी ने बड़ी मार्मिक शैली में कानूनों का विवेचन किया है और संसार के सम्मुख अपने समय की न्याय-प्रियता को बड़े ही सुन्दर प्रबन्धत्व, पद-लालित्य एवं मार्मिकता के साथ प्रकट किया है। वास्तव में, हम्मुराबी प्राचीनतम व्यवहारदाता (Lawgiver) हैं।

हम्मुराबी की महानता उसके साम्राज्य में बिखरे बहुत-से मिट्टी के ठीकरों पर उत्कीर्ण अभिलेखों से प्रकट होती है। वह महान् विजेता भी था। उसने इलाम एवं असीरिया (Assyria) को जीत कर सुमेर-अक्काड़ में मिलाया। उसने अपने न्याय का उद्घोष लगातार ४ वर्षों (ई० पू० २०८४–२०८१) तक किया और अपने अन्तिम उद्घोष के साथ ही २०८१ ई० पू० में उसने इस असार संसार को छोड़ दिया। उसके राज्यानुशासनों से, जो पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुए हैं, प्रकट हुआ है कि वह राज्य-व्यवस्था में प्रतिभा-सम्पन्न था। वह अपने राज्य-कर्मचारियों की कार्य-प्रणालि-विधि पर सदा ध्यान रखता था। वह प्रजा के सुख-दुख की चिन्ता में ही जागता-सोता था। उसकी न्याय-प्रियता तो अपने ही ढंग की थी। उसके अभिलेखों, पत्रों एवं अनुशासनों से व्यक्त है कि वह अभियोगों की शुद्ध-परिसमाप्ति के लिए मुकद्दमों को न्यायालयों में पुनर्पेषित करता था। उसने विधान-निर्माण की जो व्यवस्था की वह उत्तरकालीन पीढ़ियों तक चलती रही।

उसकी नीति एवं शासन-विधि

§. [६] बेबीलोनिया का प्रभुत्व लगभग ई० पू० ११०० वर्ष में समाप्त हो गया और मेसोपोटैमिया में अन्य विदेशियों का आधिपत्य स्थापित हो गया। देश के उत्तरी ऊँचे भू-भागों से कस्साइट लोग (Kassites) आ धमके। वे अपने साथ एक विचित्र पशु लेकर आए जिसे मेसोपोटैमिया वालों ने "पर्वतीय गदहा" कहा। वास्तव में, वह अश्व था। इन कस्साइटों के विषय में अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। कस्साइटों के उपरान्त हिट्टाइट लोग (Hittites) आये। वे सिन्धु-देश के रहने वाले थे और इन्होंने उत्तर-

बेबीलोनिया पर बाह्याक्रमण

पूर्व की दिशा से आक्रमण किया। इन लोगों के विषय में भी विशेष नहीं ज्ञात है। इन दोनों जातियों के उपरान्त असीरियन लोग आये जिनके विषय में हमें कुछ सामग्री मिली है। इन बाह्याक्रमणों के प्रभाव से हिम्मुराबी के एक सहस्र वर्ष उपरान्त बेबीलोनिया की श्री हीन हो गयी।

मेसोपोटैमिया में असीरिया का इतिहास

§. [७] टिग्रिस नदी पर आशुर नामक नगर के वासी होने के कारण असीरियनों को अपनी उपाधि मिली। आशुर ही उनकी राजधानी थी। किन्तु कालान्तर में निनेवेह उनकी प्रमुख नगरी बनी। मेसोपोटैमिया के इतिहास में असीरियन लोग अपनी युद्धालु प्रकृति के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका सम्पूर्ण इतिहास (ई० पू० १३००–६०६) युद्ध-संकुल था। उनके युद्धों में परम प्रसिद्ध हैं (१) कैप्पाडोसिया (Cappadocia) के हिट्टाइटों के साथ, (२) असीरिया के आर्मीनियन के साथ, (३) मेसोपोटैमिया के बेबीलोनियन के साथ। असीरियों के महत्वशाली राजा ये थे : सरगों द्वितीय (ई० पू० ७२२-७०५) सेन्नाचेरिब (ई० पू० ७०५–६८१) तथा अस्सुबनिपाल (ई० पू० ६६८–६२८) (Sargon II, Sennacherib, Assurbanipal or Sardanpalus) जिसे यूनानियों ने 'सर्दनपलस' कहा है। सरगों द्वितीय के समय में असीरिया का प्रभुत्व चमका और वह सैनिक बल से स्थापित साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। उसने बड़ी-बड़ी विजयों से अपने शासन-काल को गौरवान्वित किया और निनेवेह नगर के उत्तर-पूर्व में दुर्गों से मण्डित एक नये नगर दुर-शारूकिन (या सरगोंबर्ग) का निर्माण किया। इस नगर के प्राङ्गण में ८०,००० व्यक्ति रह सकते थे, और राजकीय भवन क्षेत्रफल में २५ एकड़ था। सरगों का उत्तराधिकारी उसका पुत्र सेन्नाचेरिब हुआ जिसका नाम प्राचीन बाइबिल (Old Testa-

असीरियन युद्ध-प्रेमी थे

सरगों द्वितीय, सेन्नाचेरिब, अस्सुबनिपाल

ment) में उल्लखित है। सेन्नाचेरिब भी महान् विजेता था। उसने कई युद्ध किए जिनमें जूदाह के राजा हेज़ेकियाह (Hezekiah, King of Judah) तथा उसके साथी फोनीसियनों एवं फिलीस्तियनों (Phoenecians and Philistians) के साथ का युद्ध प्रसिद्ध है, क्योंकि उससे सेन्नाचेरिब की युद्ध-गरिमा अति ही प्रफुल्ल हो उठी। इस भयानक युद्ध में वह विजयी रहा और उसके हाथ बहुत सम्पत्ति हाथ लगी। किन्तु कुछ दिनों के उपरान्त पासा पलट गया और वह दुर्भाग्य के चक्कर में पड़ गया। उसकी सेना प्लेग से विचलित हो गयी और वह स्वयं अपने पुत्रों द्वारा मार डाला गया। "पितृभक्ताः राजपुत्राः" वाली कहावत चरितार्थ हुई। उसके उपरान्त असुर्बनिपाल राजा हुआ जिसने राज्य-वंश की गरिमा को उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। उसके अधिकार में कुछ दिनों तक उत्तरी मिस्र तथा भूमध्य सागर के कुछ द्वीप आ गए। असुर्बनिपाल विजेता होने के साथ-साथ शान्ति की कलाओं से भी प्रेम रखता था। उसने लेखन-कला को प्रोत्साहन दिया और उत्कीर्ण मिट्टी के भाँति-भाँति के ठीकरों का निर्माण किया जिनसे आनेवाली पीढ़ियों को उसके राज्य की महिमा की कहानी विदित होती रहे। उसका पुस्तकालय विशाल था जिसमें उत्कीर्ण ठीकर सुरक्षित थे जिनमें आज भी २०,००० ब्रिटिश अजायब घर में रक्खे हुए हैं। इन लेखों में तत्कालीन सभ्यता पर प्रकाश डालने वाले तथ्य भरे पड़े हैं। हम इस सभ्यता का उद्घाटन यथास्थान करेंगे।

मेसोपोटेमिया में चाल्डिया का इतिहास

§. [८] "सबै दिन जात न एक समान"। असीरियनों को भी अपना अन्त देखना पड़ा। निनेवेह नगर ने अपनी श्री-दीप्ति से कालान्तर में असीरियनों में व्यामोह उत्पन्न कर दिया। चारों ओर उपद्रवी उठ खड़े हुए, दूर-दूर के प्रान्त विप्लवी हो गए। जिस प्रकार एक दिन असीरियनों ने बेबीलोनियनों को दबा दिया था उसी प्रकार उनके शत्रुओं ने उन पर वज्र-प्रहार किया। इसका परिणाम यह हुआ



चित्र ७—मेसोपोटैमिया में प्राप्त बेबीलोनिया का एक स्तम्भ



चित्र ८—असीरिया की तक्षण-कला का नमूना
एक असीरिया-सम्राट् सिंह-आखेट कर रहा है।



चित्र ९—
निनेवेह में प्राप्त राजा असुर्बनिपाल के राज-भवन में एक भित्ति पर तक्षित आकृति

काल्डियों का महान् राजा नेबुचाड्रेज्जार

कि प्राचीन बेबीलोनिया नगरी एक बार पुनः जाग उठी और उसके प्राचीन ध्वंसावशेष पर चाल्डिया की एक नयी शक्ति पल्लवित हो उठी। मेसोपोटैमिया के प्राचीनतम इतिहास में चाल्डिया-वंश का राज्य अन्तिम राज्य है। इस वंश-परम्परा का सब से महान् राजा हुआ नेबुचाड्रेज्जार (Nebuchadrezzar) जिसने ५० वर्षों तक अपनी गरिमा बिखेरी (ई० पू० ६१२–५६१)। बेबीलोनिया ही उसकी राजधानी बनी। उसके शासन-काल के उपरान्त बेबीलोनिया की महिमा पुनः घट गयी और ई० पू० ५३९ में पूर्व दिशा से मीडों तथा फारस वालों (Medes and Persians) ने प्रलयंकारी चढ़ाइयाँ आरम्भ कर दीं और चाल्डिया का राज्य-प्रभुत्व स्वाहा हो गया। नेबुचाड्रेज्जार का नाम दो कारणों से विशेष रूप से उल्लेखनीय है: (१) उसने जूडाह पर आक्रमण किया था और बहुत से यहूदियों को बन्दी बनाकर बेबीलोनिया में रखा। बाइबिल में इस प्रसिद्ध बेबीलोनियन बन्धन की चर्चा है। (२) उसने बेबीलोनिया में 'झूलते उपवनों' (Hanging Gardens of Babylonia) का निर्माण कराया।

बेबीलोनिया के झूलते उपवन

प्राचीन यूनानियों ने इन उपवनों को विश्व के सात आश्चर्यजनक वस्तुओं में गिना है। ये उपवन राजकीय भवनों की छतों पर निर्मित थे! नेबुचाड्रेज्जार ने भास्कर-कला से बेबीलोनिया का श्री-सौन्दर्य बढ़ाया। अभाग्यवश एवं काल-गति से आज इन वस्तुओं में इश्तर-द्वार (Ishter Gate) तथा [illegible] के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं है। चाल्डिया का इतिहास नेबुचाड्रेज्जार की इमारतों द्वारा विश्व-इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

असीरिया के भौतिक जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश

§. [illegible] गत प्रकरणों में हमने संक्षेप में मेसोपोटैमिया के इतिहास

तथा उसके राजकीय अधिकारियों पर प्रकाश डाला। हमने सुमेरों बेबीलोनियनों, असीरियनों तथा चाल्डियों के

सैनिक-बल, युद्ध-कला तथा शासन-पटुता

राज्य-वैभव का विवेचन किया। इन्होंने लगभग तीस शताब्दियों तक पृथक्-पृथक् रूप से अपने वैभव का प्रकाश डाला। असीरियनों की महत्ता उनकी युद्ध-कला एवं शासन-प्रबन्ध-पटुता पर अवलम्बित है। प्रो० हीयर्नशा ने उनकी तुलना आधिकालीन प्रशा-निवासियों से की है। असीरियनों के पूर्व किसी अन्य जाति का इतना जाग्रत सैनिक-प्रभुत्व, युद्ध-कला तथा सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा प्रजा की शक्ति का नियमन एकरसता में देखने में नहीं आया। निनेवेह उनकी प्रमुख नगरी थी। उसकी गरिमा ई० पू० ७२२ से ६०६ तक अपने शीर्ष स्थान पर थी। किन्तु लगभग दो शताब्दियों

निनेवेह नगर की महत्ता

के उपरान्त उसका क्षय हो गया, क्योंकि जब राजा जेनोफॅन (Xenophon) अपनी प्रसिद्ध दस सहस्र वाली सेना के साथ यहाँ आया तो यह नगरी ढूहों की ढेरी समझी गयी और दर्शकों ने समझा कि यह पार्थिया की किसी नगरी के ध्वंसावशेष हैं। सन् १८४२ ई० में श्री लेयार्ड ने इसकी खुदाई की। खुदाई से प्राप्त उपकरणों के आधार पर निनेवेह तथा असीरिया के भौतिक जीवन पर विद्वानों ने प्रकाश डाला है। श्री लेविस स्पेंस महोदय ने इस पर एक लम्बा उपाख्यान उपस्थित किया है। राजा सेन्नाचेरिब का राजकीय भवन अद्भुत चित्रकारी, तक्षण कार्य तथा, शिल्पकला के लिए अति विख्यात था। ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी के असीरिया-जीवन पर इन कृतियों द्वारा प्रभूत प्रकाश पड़ता है।

राजकीय भवनों की चित्रकारी, पच्चीकारी एवं भास्कर-कला असीरिया की शक्ति एवं साम्राज्य-गुरुता की परिचायक हैं। चित्रकारियों से उस युग के वस्त्र, उद्योग तथा वासियों के जीवन की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। आज से २५ शताब्दियों पूर्व बेबीलोनिया की सभ्यता जिस

प्रकार की थी इस पर उस समय के कलाकारों की चित्रकारी, पच्चीकारी तथा प्रस्तर-कार्य सब कुछ बताने में समर्थ हैं। तक्षणकर्ताओं ने व्यक्त किया है कि किस प्रकार उस युग के व्यक्ति दूर-दूर देशों से व्यापार करते थे तथा उनका व्यवसाय क्या था। नगरों की भव्य सड़कें, विशाल गृह-द्वार तथा नगर-निवासियों की वेश-भूषा आदि तथ्य पुकार-पुकार कर उस युग की सभ्यता को उच्च सिद्ध करते हैं। दूकानों पर फोनीसिया, एलाम, आदि देशों के व्यापारी बैठे हुए हैं, उनके विचित्र वेश-विन्यास, बर्तन भाँड़, पंखे, रंग, तेल, शृंगारादि के उपकरण निनेवेह नगर के श्री-सौन्दर्य के परिचायक हैं। इसी प्रकार भाँति-भाँति सामान, जो चित्रों द्वारा या पत्थरों में खुदे स्पष्ट होते हैं, तत्कालीन असीरिया के जीवन पर प्रकाश डालते हैं और मानो कहते हैं कि राजधानी में राजकीय सामग्रियों की कमी नहीं थी और उसमें दूर-दूर के कलाकारों, व्यापारियों एवं सौन्दर्य-प्रेमियों का जमघट लगा रहता था।

श्री-वैभव

मेसोपोटैमिया की सभ्यता

§. [१०] गत प्रकरण में हमने मेसोपोटैमिया के विभिन्न कालों का विशिष्ट राजनीतिक ऐतिह्य उपस्थित किया। अब हम उसके विभिन्न युगों में समाहित सभ्यता पर प्रकाश डालेंगे। गत प्रकरण में हमने असीरिया के भौतिक जीवन पर प्रकाश डाल दिया है। यद्यपि मेसोपो-टैमिया के भौतिक जीवन में तीन प्रमुख सभ्यता-आभाएँ सुमेर, बेबी-लोनिया तथा असीरिया की थीं, और वे अपने प्रकाश में विविध रंग वाली थीं, किन्तु वे थीं एक ही प्रकार के नक्षत्र-केन्द्र से उद्भावित। सुमेर एवं बेबीलोनिया की भूमि में मिट्टी के ईंटों के भवन ही निर्मित हुए, किन्तु असीरिया में प्रस्तरों की अधिकता के कारण ऐसे भवनों, स्मारकों का निर्माण हुआ जो बहुत समय तक स्थिर रह सके। इस विभिन्नता के रहते हुए भी भास्कर-कला (Architecture)

सुमेर की सभ्यता

सभी स्थानों में समान थी। निस्सन्देह, मिश्र की भास्कर-कला से मेसोपोटैमिया की निर्माण-कला उत्तम थी। पुरातत्ववेत्ताओं की दृष्टि में मन्दिर-दुर्गों (Ziggurat) की कला आँखों में केवल एक ही रूप खड़ा करती है, उनमें नवलता की कमी है। मिश्री निर्माताओं की अपेक्षा मेसोपोटैमिया के निर्माताओं की कृतियाँ कम सुन्दर हैं और उनमें सौन्दर्यानुभूतियों का अपेक्षाकृत अभाव है। व्यावहारिक कलाओं एवं विज्ञान के क्षेत्र में मेसोपोटैमिया उन्नत्तर था, किन्तु इस विषय में सुमेर में आने वाले असेमेटिक जातियों ने ही निर्देश किया जिसका अनुकरण बेबीलोनिया एवं असीरिया की सेमेटिक जाति ने किया। यह कहा जा सकता है कि जहाँ सुमेर के लोग प्रकृति से मौलिक थे, बेबीलोनिया के लोग व्यावहारिक थे तथा असीरिया के लोग क्रूर, अमौलिक एवं मलिन प्रकृति के थे। वास्तव में, मेसोपोटैमिया की सभ्यता का सारा श्रेय सुमेर लोगों को है। बेबीलोनिया के लोग कुशल व्यापारी एवं ऋणभोक्ता थे। असीरिया के लोग क्रूर सैनिक एवं कुशल योद्धा थे और दूसरों से प्राप्त एवं लूट मार के धन पर मस्त रहने वाले एवं मौज उड़ाने वाले थे और अन्त में आगामीट्टेन की जलती शिखाओं में जल मरे।

मिश्र से तुलना एवं असीरिया की मौलिकता

सुमेर की विशेषता थी मिट्टी के ठीकरों पर पिच्चीनुमा लेखन-कला (Cuneiform Character on clay-tablets) जो बेबीलोनिया एवं असीरिया वालों के लिए दुर्लभ थी और सुमेर सभ्यता के संरक्षक के रूप में आज भी विद्यमान है। सुमेरों द्वारा मीडों एवं फारसियों (The Medes and the Persians) के देश में भी यह लिपि और कला प्रसार पा सकी। असीरिया की एक पाठशाला में यह लिखा था : जो इस प्रकार की लिखावट में पारंगत होंगे, सूर्य के समान दीप्तिमान् होंगे। शिक्षा का परम उद्देश्य था इस प्रकार की लिखावट का पण्डित होना, इस लिपि में वर्णमाला नहीं थी, केवल ३०० संकेत

लेखन-कला, शिक्षा एवं साहित्य

अथवा शब्दांश (Syllables) थे। शिक्षा के अन्य विषय थे गणित, एवं धर्म-विद्या। सुमेरों का साहित्य नाम-मात्र का था, केवल एक महाकाव्य था जो 'गिलगमेश' (Gilgamesh) की किम्वदन्ती के रूप में प्रचलित था। व्याकरण तथा शब्दकोष के ग्रन्थ, कुछ इधर-उधर के ऐतिहासिक एवं व्यापार-सम्बन्धी विवरण प्रचलित थे। सुमेरिया की अति प्रसिद्ध साहित्यिक एवं कानून-सम्बन्धी कृति थी हम्मुराबी-संहिता, जिस पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है और जो तत्कालीन समाज एवं रीति-रिवाजों पर प्रभूत प्रकाश फेंकती है। हम्मुराबी की संहिता कालान्तर में न्याय-विधान की एक मनोरम कसौटी सिद्ध हुई।

विज्ञान एवं धर्म

§. [११] मेसोपोटेमिया की सभ्यता का एक विशिष्ट स्वरूप है गणित एवं ज्योतिष का प्रकाश। सुमेरिया एवं बेबीलोनिया वालों ने सर्व प्रथम विश्व को उन विद्याओं का ज्ञान-प्रकाश दिया। ई० पू० ३८०० वर्ष की बेबीलोनिया में आकाश का विधिवत निरीक्षण होता था और मन्दिरों के गुम्बजों पर निरीक्षण-केन्द्र स्थापित थे। नक्षत्रों का दल-विभाजन ई० पू० २८०० में हो चुका था। वर्ष के ३६० दिनों की परिगणना होने लगी थी। यूनानियों ने ज्योतिष का ज्ञान यहीं से सीखा। बेबीलोनिया वालों के पास जल-घड़ी एवं धूप-घड़ी थी। वे ग्रहण का पता पहले से ही एक घण्टे के भीतर चला सकते थे, किन्तु किस क्षण में यह वायुमण्डल-व्यतिरेक उत्पन्न होगा, इसकी गणना अभी तक नहीं हो सकी थी। बेबीलोनिया ही को इसका श्रेय है कि महीने चार सप्ताहों में विभाजित किए जा सकते हैं। घड़ी बारह घण्टों (चौबीस घण्टे नहीं) का ज्ञान दे सकती है, एक घण्टा साठ मिनटों में तथा एक मिनट साठ सेकण्डों में बाँटा जा सकता है। साठ का अङ्क तो उनकी जीवन-यापन-गणना में भी समाहित हो चुका था। वे तौल को भी इसी अङ्क से आँकित करते थे, यथा—साठ शेकेल (Shekels) का एक मीना (Mina) तथा साठ मीनों का एक टैलेण्ट (Talent) होता था (एक शेकेल आधे औंस चाँदी के तुल्य था)।

मेसोपोटैमिया के विज्ञान, कला तथा धर्म में बहुत गहरा सम्बन्ध था। बोर्सिप्पा (Borsippa) के प्रसिद्ध मन्दिर-दुर्ग (Ziggurat) के, जो "सात भुवनों के स्तरों" का द्योतक माना जाता था, सातों मञ्जिल सांकेतिक ढंग से सात स्वर्गिक देवों को समर्पित थे : (१) सब से नीचा मञ्जिल काला था और वह शनि ग्रह (Saturn) का द्योतक था, उसके उपरान्त (२) श्वेत मञ्जिल शुक्र ग्रह (Venus) का, (३) नील लोहित (Purple, बैंगनी) बृहस्पति (Jupitor) का, (४) नीला बुध (Mercury) का, (५) गहरा लोहित रंग (Scarlet) मंगल (Mars) का, (६) रजत रंग चन्द्र का तथा (७) सातवाँ रंग सुवर्ण सूर्य ग्रह का प्रतीक था। मन्दिर के ऊपर के नीचे तक आने में सप्ताह के सात दिन व्यञ्जित होते थे। एक विचित्र बात यह थी कि मन्दिर के पुजारी ही वैज्ञानिक भी थे, क्योंकि मन्दिर-दुर्गों (Ziggurat) पर ही तो निरीक्षण-शालाएँ बनी थीं। ऐसी अवस्था में ही ज्योतिष (Astronomy), कालान्तर में, फलित-ज्योतिष (Astrology) का रूप पकड़ लेती है।

विज्ञान कला एवं धर्म का सामञ्जस्य

§. [१२] प्राप्त सामग्रियों के आधार पर कहा जा सकता है कि मेसोपोटैमिया के लोग कला के क्षेत्र में अनुकरणकर्ता के रूप में भी उतने सफल नहीं हो सके। जहाँ उस देश के दक्षिण-पश्चिम में उसके पड़ोसी मिश्र में कला को ऐतिहासिक प्रसिद्धि मिल चुकी है यहाँ के लोगों के पास कुछ भी ऐसी कला-कृतियाँ नहीं हैं जिन पर मेसोपोटैमिया के लोग गुमान कर सकें। केवल चमकीले ईंटों तक ही उनकी कला सीमित है जो फारस वालों को उत्तराधिकार के रूप में मिल सकी। यहाँ पर सजावट के लिए चमकीले रंगों का प्रेम अवश्य था किन्तु उस प्रकार की अभिरुचि भी सौन्दर्यहीन ही है। यहाँ, असीरिया में पशुओं का चित्रण एवं प्रस्तर-अङ्कन कुछ सीमा तक भव्य अवश्य है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। बेबीलोनिया की कला-कृतियाँ

कला-कौशल

काल-कवलित हो चुकी हैं। सुमेरों ने उर में जो कला-प्रदर्शन किया वह खंजरों, तार-यन्त्रों, बैल-सिरों, आभूषणों आदि के रूप में उपलब्ध अवश्य हैं और वह यह व्यक्त करता है कि सुमेर लोग सोनार-गिरी की कला में बहुत आगे थे। प्रस्तर-कला में मेसोपोटैमिया की सभ्यता नगण्य है। निनेवेह की इस प्रकार की कला बोझिल है और आधुनिक भारत के बनियों एवं सेठों द्वारा निर्मित मकानों की पच्ची-कारियों के समान महँगी एवं भद्दी है। हाँ, मेसोपोटैमिया अपने उत्कीर्ण लघुकाय रत्नों की अद्भुतता से अपने शिल्पकारों को महिमा प्रदान कर सका है किन्तु बड़े-बड़े पदार्थों की हस्तकारिता में वह कुछ भी प्रदर्शित करने में असमर्थ है। चाल्डिया के कलाकारों ने अपनी कृतियों के आलम्बनों को वस्त्रों, वेश-विन्यासों एवं वाह्याकरणों से इस प्रकार ढँक दिया है कि मानवाकृति-सौन्दर्य नहीं अभिव्यक्त हो सका और न मानव के शरीर के विभिन्न सुन्दर अंगों का कला-प्रदर्शन ही हो सका। यही तथ्य बेबीलोनिया की प्रस्तर-कला के विषय में भी है। लगता है, बेबीलोनिया के शिल्पकार पाठशाला के लड़कों के समान स्लेट पर पेंसिल से कोई आकृति खींच रहे हों, जिस पर ऊपर हाथ पैर आदि बढ़ा दिए गए हों। किन्तु असीरिया के तक्षण-कला-विशेषज्ञ (Sculptor) मेसोपोटैमिया की कला को कुछ गरिमा अवश्य प्रदान करते हैं। उसकी कला विश्व के किसी कोने की सुन्दर कला से लोहा ले सकती है। किन्तु यह कला केवल पशु-आकृति तक ही सीमित है। हमें प्रस्तरों में अंकित एवं उत्कीर्ण हिरन, अश्व एवं सिंह अवश्य मिलते हैं किन्तु मानव की आकृति कहीं नहीं।

नगर-राज्य एवं सामाजिक जीवन

§. [१२] नगर-राज्यों की ओर संकेत प्रकरण §. ३ में किया जा चुका है। हमने देखा है कि सुमेरिया के निवासी कई नगर राज्यों (City-states) में विभाजित थे। प्रत्येक नगर-राज्य की अपनी-अपनी पृथक् शासन-व्यवस्था थी। ये नगर-राज्य बहुत दिनों तक न चल सके, क्योंकि जैसा कि हमने विस्तार के साथ देख

लिया है, कालान्तर में ये साम्राज्य-स्थापना में क्रमशः विलीन हो गए। प्रत्येक नगर-राज्य के देवी-देवता, शासक एवं पुजारी-पुरोहित भिन्न-भिन्न थे। एक शिलालेख से पता चलता है कि नगर-राज्य एक दूसरे पर अपने प्रभुत्व-स्थापन के लिए तत्पर रहा करते थे। इरेक्ष (Erech) का नगर-राज्य साम्राज्य भी बन गया था, ऐसा एक शिलालेख से निर्देश मिलता है। इसके शासक पुरोहित भी थे। यह राज्य कालान्तर में फारस की खाड़ी से रक्त-सागर तक फैल गया।

नगर-राज्यों की कल्पना से पाठकों का ध्यान मेसोपोटेमिया के समाज पर हठात् चल गया होगा। समाज कई वर्गों में विभाजित था। प्रथम वर्ग में शासकों एवं पुरोहितों की परिगणना होती थी। दूसरा वर्ग था मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों का। तीसरा वर्ग दासों का था और इसका कार्य अपने स्वामियों एवं अन्य उच्च वर्गों के व्यक्तियों की सेवा करना था। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, पुरोहित धर्माधिकारी एवं शासन-सत्ता-नियामक था। उसे अप्रसन्न करना राजाओं के वश की बात नहीं थी। इस प्रकार देवताओं के साथ पुरोहित भी सम्मानार्ह थे। इस तथ्य से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जब एक नगर-राज्य को अन्य नगर-राज्य जीत लेता था तो उसके साथ उस राज्य के देवता एवं पुरोहित भी विजित समझे जाते थे।

धार्मिक जीवन

§. [१४] मेसोपोटेमिया के धर्म पर पहले भी प्रकाश डाला जा चुका है। हमने देख लिया है कि धर्म विज्ञान एवं कला के साथ चलता था। अतः धर्म-सम्बन्धी विश्वासों की भित्ति पर सन्देह करना सरल नहीं था। जादू-टोने में भी विश्वास था। फलित ज्योतिष के प्रादुर्भाव के कारण जीवन-सम्बन्धी भावी योजनाएँ ग्रहों एवं नक्षत्रों के प्रभावों में भी आ गयीं और ग्रहों को प्रसन्न करना जीवन-सुविधा के लिए अनिवार्य समझा गया। देवी-देवताओं के प्रकोप से बचने अथवा उन्हें प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि भी होती थी। धार्मिक उत्सव भी होते थे। देवताओं में मार्डुक सर्वश्रेष्ठ था और देवियों में इश्तर,

जो कालान्तर में, रोमवासियों की देवी वेनस (काम देवी) बनी। चैल्डिया में फलित ज्योतिष की प्रधानता थी और उसके प्रभाव में मेसोपोटैमिया की जनता आ गयी। देवी-देवताओं में अटूट विश्वास, बलि-कर्म एवं अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण जादू-टोने में धार्मिक जीवन फूलता-फलता रहा।

मेसोपोटैमिया की सभ्यता का अधःपतन

§. [१५] अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आदिकालीन मेसोपोटैमिया की इस अति प्रशस्त सभ्यता का विनाश क्योंकर हुआ। ऐतिहासिकों के मत से इस सभ्यता के अधःपतन के मूल में "मस्तीभरा जीवन" तथा "मानव-मूल्यों के वास्तविक ज्ञान का अभाव" था। "खाओ, पीओ और मस्त रहो" की व्यापक

शत्रुओं के प्रति अमानुषिक अत्याचार

जी[illegible] [illegible] के [illegible] थी, [illegible] अत्याचारों की दुर्वृत्तियों से परिपूर्ण था। अमानवी व्यवहारों का एक ज्वलन्त प्रतीक इस उक्ति से स्पष्ट है : "मैंने शत्रुओं के मुखों से उनकी जिह्वाएँ फाड़ डाली हैं, और मैंने उनके विनाश को अपने पदों से माप लिया है। जो लोग जीवित बचे उनकी मैंने बलि कर दी'''उनके अंगों को भंग कर के कुत्तों, सुअरों (?) भेड़ियों को दे दिया'''। इन कृत्यों से मैंने बड़े-बड़े देवताओं के हृदय को प्रफुल्ल कर दिया।" भला कौन पाठक ऐसा होगा जो इन अमानुषिक कृत्यों के पाठ से काँप न उठेगा!

स्त्रियों के प्रति सामाजिक अत्याचार की कहानी भी कालान्तर में, मेसोपोटैमिया के अधःपतन का कारण बनी। यद्यपि आरम्भिक कालों में नारी के प्रति सुन्दर भावनाएँ थीं, किन्तु क्रमशः वह अन्ध-विश्वासों के फन्दों में फँस गयी। मिश्र एवं रोम की अपेक्षा यहाँ की नारी की अवस्था गिरी हुई थी। विवाह-सम्बन्ध समझौते पर निर्भर

था। दहेज की प्रथा थी। हम्मुराबी की न्याय-संहिता में एक स्थान पर लिखा है, "यदि एक पुरुष ने विवाह कर लिया है, किन्तु सगाई की विधियाँ पूर्ण नहीं की गयी हैं तो वह नारी स्त्री नहीं है।" नारियों को सम्पत्ति में स्वतन्त्रता थी और वे न्याय का सहारा ले सकती थीं। नारी की प्रतिष्ठा न्याय से बँधी थी और उस पर असाधु दृष्टि फेरने वाले को दण्ड मिलता था।

सामाजिक जीवन में नारी का स्थान तथा व्यभिचार की धार्मिक रूढ़ियाँ

न्याय के अनुसार वह तलाक दे सकती थी। यदि कोई पुरुष अपनी बन्ध्या स्त्री को त्यागना चाहता था तो उसे दहेज की सारी सम्पत्ति लौटा देनी पड़ती थी। यदि कोई स्त्री अपने पति के साथ नियमानुकूल नहीं चलती थी तो उसे न्यायालय में जाना पड़ता था। लड़कियों को अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार था। किन्तु मरने के उपरान्त उसकी इस प्रकार की सम्पत्ति उसके भाइयों की हो जाती थी। यह तो एक आदर्श-मय स्थिति थी, क्योंकि अन्त में नारी समाज में दासी हो कर रह गयी। इसका प्रमुख कारण था पुरोहितों का धार्मिक अतिचार। काम-देवी इश्तर के नाम पर व्यभिचार एवं काम-वृत्तियों से प्रचालित सामाजिक प्रथाओं को धार्मिक मुहर मिल गयी और चतुर्दिक व्यभिचार की लीलाएँ पवित्र धार्मिक कृत्य समझी जाने लगीं। मन्दिरों में वेश्यावृत्ति एवं अनाचार न्यायसंगत माने जाने लगे!

युद्धों की परम्पराओं ने भी मेसोपोटेमिया को गहरे गर्त में डाल दिया। संघर्षों में प्रवृत्त नर क्रूर हो उठा। स्त्रियों पर अमानुषिक अत्याचार होने लगे। इस विषय में असीरिया के युद्धालु पुरुष बढ़े-चढ़े थे। बेबीलोनिया एवं निनेवेह के निवासी बड़े कामुक थे। उनका सौंदर्य

युद्धालु प्रवृत्ति

नारीत्व तक आकर रुक गया। युवा पुरुष अपने में नारी के सौन्दर्य की वृद्धि करने में एक-दूसरे से होड़ लेने लगे। वे अपने केशों को विशेष ढंग से घुँघराले बनाने लगे, शरीर को अंगरागों से मण्डित करने लगे, गालों में अप्राकृतिक लालिमा रगड़ने लगे और हारों, कङ्कणों,

कर्ण-फूलों आदि से अपनी शरीर-शोभा बढ़ाने में प्रवृत्त देखे गए। यह सब मेसोपोटेमिया के बल-श्री-सौन्दर्य के अधःपतन के कारण बने। जब फारस वालों ने मेसोपोटेमिया पर अधिकार कर लिया, उसका अधःपतन द्रुतगति से चल पड़ा। देशवासियों में आत्म-सम्मान की भावना का अभाव हो गया और कालान्तर में, वे अपने प्रसिद्ध आत्म-संयम को भी खो बैठे। इन्हीं कारणों से मेसोपोटेमिया की सभ्यता क्रमशः कालकवलित हो गयी।

भौतिक सुख का अतिचार

मेसोपोटेमिया के इतिहास एवं सभ्यता की देन

§. [१६] श्री वेब्स्टर ने कहा है कि ई० पू० २००० के उपरान्त विश्व-सभ्यता मिश्र एवं बेबीलोनिया से निकल कर प्रसार पाने लगी और ई० पू० ५०० के उपरान्त मिश्र एवं बेबीलोनिया ने जो कुछ सोचा तथा किया वह पूर्वी देशों में सब की सम्पत्ति हो गयी। यह सम्पत्ति क्या थी? मेसोपोटेमिया की सभ्यता का विनाश अवश्य हो गया किन्तु उसने समय की शिला पर अपने अमिट चरण-चिह्न अवश्य छोड़े। यदि हम मानव के इतिहास एवं सभ्यता का अवलोकन करें तो विदित होगा कि मेसोपोटेमिया की सभ्यता हमारे न्याय-विधान, हमारे ज्योतिष, हमारे पञ्चांग, हमारे समय-तिथि-विभाजन, हमारे बटखरों तथा हमारी वर्जन-सम्बन्धी गणना में अब भी विद्यमान है। पहियों के आविष्कार, उत्तोलन दण्ड (Levers) एवं चरखी (Pulley) के प्रयोग मेसोपोटेमिया की सभ्यता की ही कृति है। सम्भवतः गेहूँ उत्पन्न करने की चाल इसी सभ्यता की देन है।

आदि मेसोपोटैमिया का संक्षिप्त अवलोकन

[विशिष्ट तिथियाँ, काल, स्थान, व्यक्तित्व एवं घटनाएँ]

तिथियाँ	काल	स्थान	व्यक्ति एवं व्यक्तित्व	सामान्य बातें
लगभग ४५०० ई० पू०		किश		आरम्भिक
३५०० ई० पू०	सुमेरिया	लर्सा लगश, उर, निप्पर, उरुक		मन्दिर-दुर्गों एवं मन्दिर-शोध-निरीक्षण-शालाओं का निर्माण
२७७२–१७ ई० पू०	सेमेटिक	बेबीलोनिया = बैबिली, देव-द्वार	अक्कड़ एवं सुमेर के राजा सर्गों	देव मर्दुक के पुजारी
२१२३–२०८० ई० पू०			हम्मुराबी एवं उसकी न्याय-संहिता; एलाम तथा असीरिया की विजय	सुव्यवस्थित एवं न्यायानुकूल शासन-व्यवस्था की स्थापना हुई।
१७५० ई० पू०	काल-समाप्ति			
१३००–६२६ ई० पू०	असीरिया	टाइग्रिस पर आशुर	सर्गों प्रथम	असीरियों के पूर्व कस्साइटों एवं हिट्टाइटों द्वारा आक्रमण

तिथियाँ	काल	स्थान	व्यक्ति एवं व्यक्तित्व	सामान्य बातें
७२२–०५ ई० पू०		निनेवेह = दुरशा-रुकिन या सर्गोनबर्ग	सर्गों द्वितीय कम्बाडोसिया के हिब्रायटों सीरिया के आर्मीनियनों, बेबीलोनियनों से युद्ध	
७०५–६८१ ई० पू०			सेन्नाचेरिब, प्रसिद्ध योद्धा, अपने ही पुत्र को मार डाला	पुरानी बाइबिल में चर्चा
६६८–२६ ई० पू०			अस्सुर्बनिपाल (सर्दन पलस) मिश्र को जीता	३०,००० मिट्टी के ठीकरों वाला पुस्तकालय
६२६–५६१ ई० पू०	चाल्डिया	बेबीलोनिया (पुनर्निर्मित)	नेबुचाड्नेज़ार जूडाह पर आक्रमण, यहूदियों को बन्दी बनाना	बेबीलोनिया के "झूलते उपवन" (सात आश्चर्यों में एक), इस्तर का द्वार
५२६ ई० पू०	मीड एवं फारसी	नष्ट कर दिया	चाल्डिया साम्राज्य	

तीसरा अध्याय

आदि नागरिक सभ्यता का अभ्युदय :

(२) सिन्धु घाटी की सभ्यता (Indus Valley Civilisation)*

ताम्रयुगीय सिन्धु-घाटी

§. [१] जैसा कि प्रथम अध्याय में निर्देश किया जा चुका है धातु-काल के साथ-साथ मानव-सभ्यता का प्रादुर्भाव हो चुका था। इस अध्याय में हम जिस सभ्यता का उल्लेख करने जा रहे हैं उसे ताम्र-युग की सभ्यता कहते हैं, क्योंकि इसमें विशेषतः अन्य धातुओं तथा प्रस्तर के अस्त्र-शस्त्र तथा बर्तनों के अतिरिक्त, ताम्र का प्रचलन अधिक था। ताम्र और पीतल प्रचुर मात्रा में उपयोगी सिद्ध हो चुके थे। उत्तरी भारत के पश्चिम भाग की सिन्धु-घाटी में सहस्राब्दियों पूर्व, आर्यों के अभ्युदय के बहुत पहले, जिस सभ्यता ने अमिट रेखा खींच दी और जिसके भग्नावशेष आज हमें न-केवल चकित करते हैं, प्रत्युत विश्व के इतिहास में भारतीय इतिहास की महत्ता तथा उसके गौरव को बहुत बढ़ा देते हैं, उसे सिन्धु-घाटी की सभ्यता अथवा सैन्धव सभ्यता की संज्ञा दी जाती है। पंजाब के मायटगोमरी जिले में हरप्पा, सिन्धु के लरकना जिले में मोहेंजोदारो तथा बलोचिस्तान में नाल नामक स्थानों में इस सभ्यता के अवशेष मिलते हैं। हाल ही में पुरातत्त्व-विभाग द्वारा जो खुदाई हुई है और उससे प्राप्त साधनों-प्रसाधनों की जो ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक व्याख्याएँ हुई हैं वे मानव-इतिहास में सभ्यता-विकास की अद्भुत कड़ियाँ जोड़ती हैं। अभी चार-पाँच वर्ष पूर्व कुछेक विद्वानों ने अनुमान किया है कि ऐसी सभ्यता के केन्द्र गंगा की घाटी में भी मिल सकते हैं। विद्वानों ने सिन्धु-घाटी की सभ्यता तथा प्राचीन

---

* इस अध्याय का अधिकांश लेखक के बृहद् ग्रन्थ आदि भारत के तीसरे अध्याय से उद्धृत है।

मेसोपोटैमिया की सभ्यता में जो सादृश्य देखा है उसके बल पर ताम्र-युगीन सभ्यता का महत्त्व बढ़ गया है। इस सभ्यता को कुछ लोग 'ताम्र-पाषाण-सभ्यता' भी कहते हैं, क्योंकि ताम्र तथा पाषाण की वस्तुएँ यहाँ अधिकता में पायी जाती हैं।

सैन्धव सभ्यता : भारतीय सभ्यता का उषाकाल

मोहेंजोदारो शब्द का अर्थ 'मृतकों का ढूह' है। कौन जानता था कि इन शव-ढूहों के अन्तः में एक विशेष सभ्यता के अवशेष सोये पड़े हैं, जिन्हें पुरातत्त्व-वेत्ताओं के परशु तथा कुदालें एक दिन खोद निकालेंगे, और उन्हें ऐतिहासिक व्यञ्जनाओं से अनुप्राणित कर देंगे। सचमुच, 'सैन्धव सभ्यता भारतीय सभ्यता का उषाकाल' है। अपितु, यह सभ्यता अपने समय में सर्वोच्च थी और बहुत अंशों में प्राचीनतम मिश्र, एलाम तथा मेसोपोटैमिया की सभ्यताओं से आगे थी। अब हम इस सभ्यता का संक्षेप में वर्णन करेंगे। यों तो सर जॉन मार्शल ने इस सभ्यता के उद्‌घाटन में ३ बृहदाकार ग्रन्थों का सम्पादन किया है और भाँति-भाँति के विशेषज्ञों का सहारा लिया है, किन्तु हम स्थानाभाव के कारण संक्षिप्त शैली का ही सहारा लेंगे।

प्राचीन सिन्धु-घाटी का महत्त्व

§. [२] मिश्र एवं मेसोपोटैमिया की सभ्यताएँ नील, दजला-फरात एवं टाइग्रिस की जीवनदायिनी धाराओं की घाटियों में उभरी थीं। आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व भारतीय इतिहास का प्रारम्भ आर्यों के आगमन (लगभग ई० पू० १५,००) से होता था किन्तु सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियों में खुदाई के फलस्वरूप जो सामग्रियाँ उपस्थित होती हैं वे हमारे इतिहास को लगभग २५०० वर्ष और पूर्व ले जाती हैं। आधुनिक सिन्ध-प्रदेश के मरुस्थल को देख-कर कोई विश्वास नहीं कर सकता कि कभी इस भूमि पर सभ्यता के केन्द्र स्थापित थे। किन्तु आज यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि

प्राचीन काल में सिन्ध प्रान्त उर्वर था और वहाँ की जलवायु उत्तम थी, क्योंकि ऐसी स्थितियों में ही सभ्यता के केन्द्र बहुधा स्थापित होते हैं। यदि ऐसा न होता तो आज मोहेंजोदारो के खण्डहरों के विशाल मकानों की सुदृढ़ तथा गहरी नींव, भित्तियों का निर्माण, जल-निकास आदि कोई अर्थ न रखते। उन दिनों यहाँ वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती थी, यह सिद्ध है। महाभारत काल तक सिन्धु-सौवीरका मानो प्रदेश यहीं पर था। सिकन्दर के समय तक यहाँ अच्छी वर्षा थी, जैसा कि यूनानी लेखकों के विवरण से पता चलता है। प्रकृति-विपर्यय से आज सिन्ध का प्रान्त सैकड़ों की उष्ण हिलोरें ले रहा है और वहाँ उष्मा की बौछारें होती हैं। यह है काल-गति! आज पश्चिमी पाकिस्तान की राजधानी करांची मरुस्थल प्रान्त में है, किन्तु आज से लगभग छः सहस्र वर्ष पूर्व यहाँ पर वर्षा की शीतल फुहारें लहराती थीं और उनमें उन्मत्त सिन्धु-घाटी के मानव इतिहास पर सुनहले पृष्ठ लिख रहे थे।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता का समय

§. [३] पुरातत्ववेत्ताओं ने सिन्धु-घाटी के भग्नावशेषों तथा उनके विभिन्न स्तरों को पढ़ कर उसकी सभ्यता के काल के विषय में अनुमान लगाया है। खुदाई से मोहेंजोदारो में सात स्तर मिल चुके हैं। सातवें स्तर के नीचे के स्तर जलमग्न हैं। विद्वानों का मत है कि जल में अभी कई स्तर मिल सकते हैं। इस प्रकार जो स्तर हमें मिल सके हैं उन्हें दो श्रेणियों में बाँटा गया है। अत्यन्त प्राचीन अन्तिम स्तर, तीन बीच के तथा ऊपरी तीन स्तर। अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक स्तर के बसने, उन्नति करने तथा अधःपतन होने में लगभग ५०० वर्ष लगे होंगे और इस प्रकार सातों स्तरों के अभ्युदय, विकास तथा अधःपतन में लगभग ३५०० वर्षों का समय लगा होगा। किन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है। नागरिक सभ्यता के विकास में जैसा कि यहाँ स्पष्ट है, शताब्दियाँ लग जाती

लगभग ६००० वर्ष प्राचीन

हैं, तो ऐसी स्थिति में इस सभ्यता की विस्तारावधि के विषय में अभी निश्चयात्मक ढंग से कुछ नहीं कहा जाता। हाँ, इतना स्पष्ट है कि यह सभ्यता आज से लगभग छः सहस्र वर्ष पूर्व प्रस्फुटित हुई होगी।

हरप्पा एवं मोहेंजोदारो की खुदाई का इतिहास

§. [४] श्री दयाराम साहनी ने सन् १९२१ ई० में हरप्पा तथा श्री राखाल दास बैनर्जी ने सन् १९२२ ई० में मोहेंजोदारो की खुदाई करायी और प्राप्त सामग्रियों से आज से लगभग ६००० वर्ष प्राचीन सभ्यता का उद्घाटन किया। सन् १९३१ ई० तक खुदाई होती रही किन्तु अभाग्यवश धनाभाव के कारण खुदाई का कार्य स्थगित हो गया। किन्तु सर जान मार्शल, अर्नेस्ट मैके (Sir John Marshall, Ernest Mackay), श्री के० एन० दीक्षित आदि के भगीरथ प्रयत्नों से भारतीय इतिहास का एक नया आरम्भिक अध्याय आरम्भ हो गया। खुदाई का कार्य पुनः सन् १९३५ ई० में भारतीय एवं ईरानी मण्डल (The School of India and Iranian Studies, U. S A.) द्वारा आरम्भ किया गया और उसका विवरण सन् १९३६ ई० में प्रकाशित हो गया। हरप्पा तथा मोहेंजोदारो के अतिरिक्त उसी क्षेत्र में चन्हुदारो, अम्री, रूपर, नाल आदि स्थानों में भी खुदाई हुई है जो सिद्ध करती है कि सैन्धवों की सभ्यता केवल हरप्पा एवं मोहेंजोदारो तक ही सीमित नहीं थी, प्रत्युत वह दूर-दूर तक विस्तृत थी और सैन्धवों का व्यापारिक सम्बन्ध सुदूर देशों तथा प्रान्तों तक था। चाँदी के साथ विचित्र ढङ्ग से मिला हुआ मोहेंजोदारो का सुवर्ण मैसूर से ही प्राप्त हो सकता था तथा अंजन का रत्न-प्रस्तर सुदूर नीलगिरि की पहाड़ियों से ही उपलब्ध हो सकता था। सिन्धु-घाटी के मिट्टी के बर्तन, मोहरें तथा अन्य वस्तुएँ ऐसी हैं जो तुलना में मिश्र, मेसोपोटेमिया एवं क्रीट की वस्तुओं के समान हैं और निर्देश करती हैं कि सैन्धवों का सम्पर्क समकालीन पाश्चात्य देशों से अवश्य था। कुछ

क्या सुमेर लोग सैन्धव थे ?

लोगों ने तो यहाँ तक विश्वास किया है कि आदि सुमेरीय संस्कृति को भारत से ही प्रेरणा मिली थी। प्रो० चाइल्ड (Childe) ने लिखा है, यदि ऐसी बात है, तो सम्भवतः सुमेर लोग प्रथमतः सिन्धु के ही निवासी थे अथवा ऐसे क्षेत्र से मेसोपोटैमिया में पहुँचे जहाँ पर सैन्धवों का प्रचुर प्रभाव था।

हरप्पा एवं मोहेंजोदारो की तुलनात्मक विशेषता

§. [५] हरप्पा रावी नदी के एक प्राचीन कछार पर (हरप्पा रोड स्टेशन) अवस्थित है। यह सम्भवतः मोहेंजोदारो से बड़ा था किन्तु इसकी ईंटों को कालान्तर में आस-पास के निवासियों ने अपने कामों में लगा लिया और यह मोहेंजोदारो से छोटा लगने लगा। मोहेंजोदारो तो मरुभूमि में सोया पड़ा था। इसके भग्नावशेष डोकरी रेलवे स्टेशन से सात मील की दूरी पर अवस्थित हैं और लगभग एक चौथाई मील तक फैले हुए हैं। इसके ढूह दो प्रकार के हैं : (१) सबसे बड़ा १३०० फुट लम्बा तथा ६७० फुट चौड़ा है और (२) दूसरा ४४० फुट लम्बा तथा ३३० फुट चौड़ा है। इन ढूहों में प्राप्त मकानों की विशेषता यह है कि वे पक्की ईंटों से निर्मित हैं और इसी से समय की भयंकर मार से बचे भी रहे। यह बात सुमेर तथा बेबीलोनिया के साथ नहीं पायी जाती। जैसा कि प्रकरण §.३ में लिखा जा चुका है, मोहेंजोदारो में कई स्तर प्राप्त हुए हैं, एक के पश्चात् एक। ऐसी बात ट्राय नगर में भी पायी जाती है। ट्राय नगर नौ बार बना था। मोहेंजोदारो के स्तर नवीन पाषाण-काल तथा ताम्रयुगीय सभ्यताओं (Neolithic and Chalcothic Civilisations) के द्योतक हैं। अस्त्र-शस्त्र एवं बर्तनादि या तो चमकीले पत्थरों के हैं या ताम्र या काँसे के। सुवर्ण, रजत तथा अन्य मिश्रित धातुएँ पायी गयी हैं। टिन, जस्ता आदि साधारण धातुएँ भी मिलती हैं किन्तु लोहा न तो मोहेंजोदारो में मिलता न हरप्पा में। लोहा सुमेर में भी अप्राप्य है, किन्तु बेबीलोनिया में यह कुछ मात्रा में उपलब्ध हुआ है। उत्तरकालीन युग की असीरिया

में तांबे के अस्त्र-शस्त्र अवश्य मिले हैं। इसी तथ्य के आधार पर इतिहासविदों ने सिन्धु-घाटी की सभ्यता को एक विशिष्ट सभ्यता माना है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि सिन्धु-घाटी की यह सभ्यता असभ्यावस्था की द्योतक है। हरप्पा एवं मोहेंजोदारो के निवासी कान्तिवर्द्धक अंगरागों, उबटन, मनोरम आभूषणों से विमोहित होने वाले थे और जैसा कि हम आगे देखेंगे उनके भौतिक जीवन का स्तर बहुत ऊँचा था क्योंकि उनके भवनादि उनकी श्रेष्ठ सभ्यता के प्रतीक हैं।

नगर-रचना तथा भवन-स्वरूप

§. [६] मोहेंजोदारो (मृतकों का ढूह), निस्सन्देह, किसी समय एक समृद्धिशाली नगर था जिसकी रचना के पीछे कोई सुनिश्चित योजना थी। ऐसी ही बात हरप्पा के अवशेषों के विषय में भी पायी जाती है। नगर-रचना की कला उन्हें भली भाँति विदित थी; लगता है स्थापत्य-कला, वास्तु-कला के विशारदों को नगर की रचना की विशेषताओं का सम्यक् ज्ञान था। यदि हम मकानों, राजमार्गों, वीथियों आदि का अवलोकन करें तो यह उक्ति स्पष्ट हो जाती है। सड़कें और गलियाँ एक सीध में हैं और मिलन-स्थानों पर लम्बवत् मिलती हैं। राजमार्गों के दोनों ओर भव्य भवन निर्मित थे। पत्थर का सम्भवतः अभाव था अतएव दीवारों में पक्की ईंटें जुटी हैं। दीवारें मोटी एवं ईंटे सुपुष्ट हैं। भवनों की नींव गहरी तथा चौड़ी है। ईंटे काली मिट्टी एवं मारटर के गारों से जुड़ी हुई हैं। छतें भी दीवारों की भाँति सूखी ईंटों से सजी थीं। घरों की फर्श पक्की और ईंटों की है। इस सभ्यता को ईंटों के उपयोग के कारण विशेष महत्त्व दिया जाता है क्योंकि सम्भवतः आदि काल में ईंटों का उपयोग अन्यत्र नहीं होता था। घरों में द्वार एवं वातायन थे। अनेक भवनों में कई कोठे थे, कोठे पर कोठे निर्मित थे, जिनमें प्रवेश के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं जिनके भग्नावशेष आज स्पष्ट हैं। प्रायः प्रत्येक मकान में ईंटों से निर्मित कूपाकार कूप तथा स्नानागार बने थे। इनका

ही नहीं, घर की स्वच्छता के लिए गन्दे और वर्षा के जल के निकास के लिए मोरियाँ बनी थीं। कूड़ा आदि उच्छिष्ट वस्तुओं के फेंकने के लिए घिरौने बने थे। प्रत्येक घर से निकली नालियाँ क्रमशः एक दूसरे से मिलती, बड़ा रूप पकड़ती एक विशाल निकास द्वारा, जिसमें मनुष्य स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवेश पा सकता था, नगर के गन्दे जल को बाहर कर देती थीं। सचमुच, यह निकास-योजना अद्भुत है और आज के दर्शक इसे देख मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं। नागरिक जीवन की ऐसी भव्य योजना बहुत-से आधुनिक नगरों में भी नहीं पायी जाती। कूड़े डालने के निमित्त जो ऊँचे-ऊँचे बर्तन (घिरौने) मिलते हैं, वे उस स्थान के लोगों की स्वच्छता तथा सौन्दर्य-प्रियता के द्योतक हैं। मकानों की बनावट, उनके आकार तथा विशिष्ट योजना को देखकर ऐतिहासिकों ने मोहेंजोदारो के मकानों का वर्गीकरण किया है। कुछ मकान तो नागरिकों के निवास-स्थान से लगते हैं, कुछ सार्वजनिक भवन सदृश हैं, कुछ जन-साधारण के स्नानादि के लिए स्नान-कुण्ड से लगते हैं और कुछ को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये मन्दिर अथवा धर्म-स्थान हैं। भवनादि में सजावट नहीं-सी है, किन्तु पुष्टता एवं स्थायित्व पर विशिष्ट ध्यान दिया गया है।

विशाल स्नान-कुण्ड

§. [७] सैन्धवों की भवन-निर्माण-कला तथा वास्तु-कला के विषय में वर्णन करते हुए हमारा ध्यान हठात् उस विशाल स्नान-कुण्ड की ओर खिंच जाता है जो मोहेंजोदारो के भवनों में सर्वश्रेष्ठ, विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण है। यह स्नान-कुण्ड बहुत विस्तृत है। बृहत् चौकोर प्रांगण में अवस्थित, चतुर्दिक बरामदों, मार्गों (गैलरियों) तथा प्रकोष्ठों से आवृत यह विशाल स्नान-कुण्ड ईंटों का बना हुआ है। इसकी लम्बाई ३९ फुट, चौड़ाई २३ फुट तथा गहराई ८ फुट है। जलमग्न होने के पूर्व इसमें सीढ़ियों द्वारा उतरना पड़ता था। स्नान के लिए चबूतरे भी बने हुए थे। पार्श्व में ईंट-निर्मित दो कूप हैं जिनके जल से इस स्नान-

कुण्ड को भर दिया जाता था। इसकी निकास-प्रणाली ६ फुट ऊँची है जो हमारे लिए, सचमुच, आश्चर्य की एवं प्राचीन काल के लिए महान् गौरव की बात है। इस विशाल जल-कुण्ड से सम्बन्धित एक अन्य स्नान-कुण्ड है जो विद्वानों के मतानुसार सम्भवतः स्नानार्थ गरम जल का उपयोग सिद्ध करता था। ऐतिहासिकों के मतानुसार यह विशाल जल-कुण्ड धार्मिक महत्व रखता था, जिसमें विशेषतः पर्वों तथा उत्सवों में स्नान किया जाता था। कुछ लोगों का मत है कि यह तैरने अथवा सार्वजनिक मनोविनोद का साधन-मात्र था। चाहे इसका उपयोग किसी भी रूप में होता रहा हो, यह प्राचीन काल की सभ्यता के विकास का एक भव्य नमूना है।

सैन्धवों की आर्थिक अवस्थिति

.§. [८] जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है (.§. २) प्राचीन काल में सिन्ध प्रान्त हरा भरा था, वहाँ वर्षा प्रचुर मात्रा में होती थी। अतएव धन-धान्य की प्रचुरता में ही वहाँ का नागरिक जीवन इतना सुसंस्कृत था। कृषि-कार्य होता था। खुदाई में गेहूँ तथा जौ प्रमुख अन्न मिले हैं। कृषि द्वारा कई प्रकार के अन्न उपजते थे। उस समय जुताई किस प्रकार होती थी? हल चलाये जाते थे अथवा भूमि भद्दी विधि से जोती जाती थी? इस विषय में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है।

अन्न

तरकारी, फल इत्यादि भी खाये जाते थे। खजूर-फल खुदाई में मिले हैं। मांस भी खाया जाता था। वहाँ की अस्थियों के अध्ययन से पता चला है कि भेंड़ें, गायें, सुअर, मछलियाँ, अण्डे आदि खाये जाते थे। जली अस्थियों, घोंघों एवं मृतकों के श्राद्ध-स्वरूप दानों से मांस-भक्षण प्रमाणित हो जाता है। बैल, साँड़ तो थे ही, जिनकी चित्र-मूर्तियाँ आज भी उपलब्ध हैं, अतएव गायों के दुग्ध का उपयोग स्वतः सिद्ध है।

भोजन

कृषि-कर्म के लिए पशु-पालन होता ही रहा होगा। प्राप्त अस्थि-पञ्जरों से पता चलता है और ऊपर लिखा भी जा चुका है कि सैंधव लोग गायों, बैलों, सुअरों और भेड़ों के अतिरिक्त भैंसों, हाथियों, ऊँटों, जबरों, मुर्गाबियों आदि को पालते थे। उनके पशु दो प्रकार के थे : पालतू तथा जंगली। पालतू पशुओं की गणना ऊपर हो चुकी है। जंगली पशुओं में गैंड़े, भैंसे, बन्दर, व्याघ्र, बनगाय, भालू, हरिन, नेवले, खरगोश उन्हें ज्ञात थे, क्योंकि उनके चित्रादि मुद्राओं, साँचों तथा ताम्र-पत्रों पर खुदे हुए हैं। अश्वों एवं कुत्तों की अस्थियाँ भी मिली हैं। किन्तु कुछ विद्वानों के मत से ये उनके प्रिय पशु नहीं थे, क्योंकि ये अस्थियाँ पृथ्वी की ऊपरी सतह पर मिली हैं।

पशु-पालन

कृषि तथा पशु-पालन के अतिरिक्त सैन्धव कई उद्योग-धंधे भी करते थे। पुरुष-मूर्तियों के शरीरावरण से ज्ञात होता है कि ये लोग कताई-बुनाई करते थे। खुदाई में कोयले के रूप में परिवर्तित वस्त्र मिले हैं। मई सन् १९५० में पता चला कि कुछ कपड़े भी प्राप्त हुए हैं। कपास की खेती होती थी। आज भी सिन्ध प्रान्त कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध है ही। ऋतु-विशेष की अनुकूलता की पूर्ति के लिए सूती-ऊनी दोनों प्रकार के कपड़े बुने जाते थे। एक रजत कलश में चिपका हुआ जो सूती कपड़े का टुकड़ा मिला है वह बताता है कि उस समय सूती कपड़ा आज की खादी के सदृश था। सूतों को लपेटने वाली नारियाँ प्रभूत संख्या में प्राप्त हुई हैं और द्योतित करती हैं कि उन दिनों मोहेंजोदारो के घर-घर में, चाहे वह धनी हो या दरिद्र, सूत कातने एवं पिरोने की प्रथा प्रचलित थी।

उद्योग-धन्धे

सामान्य जीवन के उपकरण

६. [६] सैन्धवों की वेश-भूषा पुरुष-मूर्तियों से प्रकट होती है। कुछ मूर्तियाँ नंगी हैं। किन्तु वे धर्मपरक हैं। वास्तव में, सभी

लोग कपड़ों का व्यवहार करते थे। मूर्तियों को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि सैन्धव बहुधा ऊपरी अंग को शाल या चद्दर से ढँकते थे। भोजन तथा वसन की चर्चा तो हो चुकी, अब हम उनके आभूषणों का रूप देखें जो उनकी आर्थिक अवस्थिति के परिचायक हैं।

वेश-भूषा, आभूषणालंकार

सैन्धव आभूषण-अलंकार प्रचुर मात्रा तथा संख्या में पहनते थे। नर-नारी सभी इनके प्रेमी थे। दोनों कान के गहने, हार, पैरों के कड़े और मनक-मेखलाएँ धारण करते थे। हाँ, धनी और दरिद्र में विभेद अवश्य था। जहाँ धनिक सैन्धवों के आभूषण सुवर्ण, रजत, हाथी-दन्त तथा अनमोल पत्थर-रत्नों, यथा—पन्ना, लाल, मूँगे आदि के बने होते थे, दरिद्र सैन्धव ताम्र, अस्थि अथवा मिट्टी के गहने धारण करते थे। पुरुष दाढ़ी-मूछें रखते थे और नारियाँ केश-विन्यास-प्रिय थीं। शृंगार के लिए धातु-विशेष को चमका कर दर्पण का काम लिया जाता था।

धातु-प्रयोग, लौह का अभाव

सैन्धव पत्थरों का उपयोग नहीं करते थे। आवश्यक वस्तुएँ, जैसे—ओखल, चक्की, चौखट आदि के लिए पत्थर दूर-दूर से अवश्य लाए जाते थे। धातुओं में केवल सुवर्ण, रजत, ताम्र, वंग (टिन) तथा राँगे का उपयोग करते थे। मोहेंजोदारो में सबसे निचले स्तर में पीतल भी मिला है, जो सिद्ध करता है कि वहाँ के लोग पीतल के उपयोग से अपरिचित नहीं थे। किन्तु सैन्धव तलहटी में लौह का अभाव है।

बर्तनादि

बर्तन तथा भाण्डादि प्रायः मिट्टी के होते थे, किन्तु ताम्र और पीतल का भी प्रयोग होता था। मिट्टी की कटोरे-कटोरियाँ, कलश, थालियाँ, सुराहियाँ, भाण्ड आदि अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं। ये बर्तन कुम्हारों की चाकों पर निर्मित होते थे। उन्हें चित्रित भी किया जाता था। बहुत-से बर्तनों पर चमक भी है जिससे सिद्ध है उन पर ग्लेज़ भी किया जाता था।

तौल के बटखरे तथा खिलौने पत्थर के होते थे। और प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। तिकोने तथा कोणकाकार (ऊपरी कोने के) के बहुत-से बटखरे स्लेटी पत्थर के बने हैं। ये बटखरे सच्चाई और एकरूपता में, पुरातत्व-वेत्ताओं के कथनानुसार मेसोपोटैमिया तथा एलाम के बटखरों से कहीं अधिक खरे और ठीक हैं। पाँसा खेला जाता था और उनकी गोटियाँ पत्थर की होती थीं। बच्चों के मनोरञ्जनार्थ बहुत-से खिलौने निर्मित होते थे और ये हैं: गाड़ियाँ, झुनझुने, चिड़ियाएँ, छोटे-छोटे नर-नारी तथा पशु। ये खिलौने अपनी विविधता से सैन्धव समाज का अच्छा चित्र देते हैं।

बटखरे, खेल के उपकरणादि

सैन्धव सभ्यता के लोगों के अस्त्र-शस्त्र, भाले, कटार, परशु, गदा, तीर-धनुष, ढेलवाँस आदि थे। ये अस्त्र-शस्त्र ताम्रयुगीय विशेषताओं से परिवेष्ठित थे। ताम्र एवं पीतल ने इस युग में पत्थर का स्थान ग्रहण कर लिया था। अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग युद्धों एवं आखेट-आक्रमणों के समय होता था। ये हथियार बहुधा आक्रमण-प्रधान थे, लगता है, सुरक्षा के साधन, तथा—ढाल, कवच तथा शिरस्त्राण सम्भवतः उन्हें नहीं ज्ञात थे। इस सिलसिले में हमें जो सामग्री मिली है उसमें तलवार नहीं मिली। इससे विदित होता है कि सैन्धव लोग तलवार का उपयोग तथा प्रयोग नहीं करते थे।

अस्त्र-शस्त्र

सैन्धवों की कला

§. [१०] गत प्रकरणों से स्पष्ट है कि सिन्धु की तलहटी के लोग कला-मर्मज्ञ थे और इस विषय में उन्होंने पर्याप्त विकास-रेखाएँ खींच ली थीं। बर्तनों, भाण्डों आदि पर जो चित्र खचित एवं उत्कीर्ण हैं उनकी कला-प्रियता की ओर संकेत करते हैं। रंग-चित्र-कला की जो वस्तुएँ खुदाई में मिली हैं उनसे सैन्धव सभ्यता का

चित्र-कला, भवन-निर्माण-कला

कला-गौरव व्यक्त हो जाता है। भवन-निर्माण की विशेषताओं से हम पहले ही परिचित हो गए हैं (§. ६-७)। यद्यपि भवनों में बाह्य तड़क-भड़क का अभाव है, किन्तु उनका भव्याकार तथा सुडौलपन उनके निर्माताओं की कला-स्वच्छता का परिचय देता है। मूर्तिकला का प्रथम रूप हमें यहीं मिलता है। हमें बड़ी संख्या में जो मानव अथवा पशु-मूर्तियाँ मिली हैं वे अन्य पदार्थों के साथ कला की अनुकृतियों-सी लगती हैं। पत्थर तथा पीतल की मढ़ी हुई मूर्तियाँ शारीरिक गठन के सौष्ठव तथा कुशलता को प्रदर्शित करती हुई अपने कलाकारों के भाव-रसों को बताती हैं। एक नर्तकी की कांस्यमूर्ति मूर्ति-कला-विशेषज्ञों को चकित कर देती है। कटि-प्रदेश पर एक हाथ रखे त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी यह मूर्ति, लगता है, नाचने के लिए उद्यत बायाँ पैर आगे बढ़ा रही है। 'इस अभिप्राय (मॉडल) में ऐसी गति है, जो ऐतिहासिक काल की मूर्तिकला में सर्वथा दुष्प्राप्य है।' जब नृत्य की मुद्रा इतनी मार्मिक है और जब उसमें ताल एवं लय का समन्वय झलकता है, तो स्पष्ट है कि संगीत का प्रचलन भी अवश्य रहा होगा यद्यपि खुदाई से प्राप्त कोई भी वस्तु हमें इस विषय में कोई विशिष्ट निर्देश नहीं देती। छोटी-छोटी मुहरों एवं ताबीजों पर चित्रों, मूर्तियों तथा रेखाओं पर जो अङ्कन है वह सबसे अधिक सुन्दर तथा महत्वपूर्ण माना जाता है। पशुओं में विशेष कर जो साँड का अभिचित्र अङ्कित है वह प्रतिकृति-स्वरूपों के विषय में विस्मयोत्पादक है। ये रेखा-चित्रण सैन्धवों की कला-कुशलता, प्रतिकृति-उत्पादन-चातुरी के ऐसे उदाहरण हैं जो उन्हें हठात् सभ्यता के आरम्भिक काल में विशेष योग्यताओं से परिपूर्ण होने का प्रमाण देते हैं।

मूर्ति-कला

नृत्य एवं संगीत-कला

साँड का अभिचित्र तथा सैन्धवों का रेखालेखन

सैन्धव लोग लेखन-शैली में भिज्ञ थे, जैसा कि हमें मुद्राओं,

मोहरों, ताबीजों, बर्तनों, भाण्डों, चूड़ियों आदि से ज्ञात होता है।

लेखन-कला

किन्तु अभाग्यवश ये लेख अभी पढ़े नहीं जा सके हैं। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि लिपि प्रायः चित्र-लिपि अथवा चित्र-लेख के रूप में है जो दाएँ से बाएँ लिखी जाती थी। चित्र-लेखों से ३१६ चिह्न एकत्र हुए हैं जो सांकेतिक माने जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि मोहरों की लिपि प्रथम पंक्ति में दाएँ से बाएँ तथा दूसरी पंक्ति में बाएँ से दाएँ है और इसी प्रकार उसका क्रम चलता रहता है। ऐतिहासिकों ने कहा है कि यह सैन्धव लिपि प्राचीन सुमेर, एलाम तथा मिश्र के लिपियों के सन्निकट है। फादर हैराज् के कथनानुसार यह लिपि और इसकी भाषा द्रविड़ है। किन्तु कुछ लोगों का मत इससे भिन्न है, उनका कहना है कि यह लिपि ब्राह्मी की पूर्ववर्ती आर्य-लिपि है और इसकी भाषा भी आर्य-भाषा है।



सैन्धवों की लेखन-कला का एक नमूना

सैन्धवों का धर्म

§. [११] मोहरों, ताम्र-पत्रों, धातु, पाषाण तथा मिट्टी की मूर्तियों के अध्ययन के फलस्वरूप हमें सिन्धु की घाटी की सभ्यता के विषय में कुछ आभास मिल जाता है। ऐतिहासिकों ने यह जानकर आश्चर्य प्रकट किया है कि इस प्राचीन काल की धार्मिक भावना के अन्तः में आधुनिक हिन्दू-धर्म के विशिष्ट अंगों में कई झलक उठते हैं।

मातृ-देवी या प्रकृति-देवी

मूर्तियों में मातृ-देवी या प्रकृति-देवी की मूर्ति सबसे महत्वपूर्ण है। मातृ-शक्ति के प्रतीक, आधुनिक काली या दुर्गा की मूर्ति के समान ही बहुत-सी मूर्तियाँ हैं। भारतवर्ष अति प्राचीन

काल से ही प्रकृति, पृथिवी तथा अनेकधा ग्राम-देवताओं की पूजा करता आया है, यह स्पष्ट है। एक मूर्ति-विशेष पर पुरुष-देवता का त्रिमुखी प्रतीक है। योग-मुद्रा में बैठा तथा पशुओं की विभिन्न आकृतियों से संयुक्त यह देवता शिव की कल्पना के प्रतीक-सा लगता है। सच है, शङ्कर भगवान 'पशुपति' भी कहे जाते हैं। बहुत सम्भव हो, यह शिव का पूर्वरूप है। यदि यह बात है तो शिव-पूजा अथवा शैव-धर्म सब धर्मों से प्राचीन है। यह तो हुई पशुपति और योगी शिव की मूर्ति-पूजा अथवा उनके मूर्त स्वरूप की पूजा अथवा उपासना। प्राप्त वस्तुओं में बहुत-से लिंग तथा योनि-प्रतिमाएँ हैं जो बताती हैं कि उन दिनों जननेंद्रियों की पूजा भी होती थी। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि शिव-पूजा अमूर्त रूप में भी प्रचलित थी।

योग-मुद्रा में पुरुष-देवता; शिव-पूजा (?)

कुछ उपलब्ध मोहरों के अङ्कित चित्रों के आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि सैन्धव लोग वृक्ष-पूजा तथा पशु-पूजा भी करते थे। उसी प्रकार कुछ मुहरें तथा तख्तियाँ नाग-पूजा भी सिद्ध करती हैं। कुण्ड-स्थानों के प्रचलन से यह भी विदित होता है कि वे लोग जल की पवित्रता में विश्वास करते थे और विशिष्ट पर्वों में नदी या कुण्डों में स्नान कर पुण्य के भागी होते थे। यहाँ भी अग्नि-कुण्डों को देखकर अग्नि-पूजा और यज्ञादि का भी अनुमान लगाया गया है।

वृक्ष-पूजा, पशु-पूजा, जल या सरित-पूजा एवं अग्नि-पूजा, यज्ञादि

सैन्धवों के धार्मिक जीवन का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त एक बात हठात् सिद्ध हो जाती है कि अर्वाचीन भारतीय संस्कृति की कड़ियाँ सहस्रों वर्षों से अटूट शृंखला में बद्ध हैं, क्योंकि आज के धार्मिक व्यामोह में शक्ति-पूजा, शिव-पूजा, लिंग-पूजा, पितृ-पूजा, पृथिवी-पूजा, वृक्ष-पूजा, पशु-पूजा, सरिता-पूजा, अग्नि-पूजा आदि भारतीय जन

धर्म-सम्बन्धी निष्कर्ष

साधारण में अविच्छेद्य रूप से विराजमान है।

.§. [१२] सैंधवों के धार्मिक जीवन का दूसरा पहलू है उनका मृतक-संस्कार जो बहुत मनोरंजक-सा लगता है। भारतीय उत्तर पाषाण-काल में 'भूतवाद' एवं 'पुनर्जीवन' में विश्वास हो गया था। अपनी विकास-गति में ये भाव ताम्र-काल में और भी सुदृढ़ हो गए। मृतात्मा की शान्ति अथवा उसके सुख के लिए मृतक-क्रियाएँ विधिवत् की जाती थीं। मृतक-संस्कार के तीन प्रकार माने गए हैं : (१) पूर्ण समाधि अर्थात् पूरे शव को पृथिवी में गाड़ना, (२) पशु-पक्षियों के भोजनार्थ डाल देने पर अवशेष को गाड़ना तथा (३) शवों को प्रथम जलाना फिर भस्मीभूत रूपों को किसी भाण्ड में रखकर गाड़ना। ये क्रियाएँ किसी-न-किसी रूप में हरप्पा और मोहेंजोदारो दोनों स्थानों में पायी जाती हैं। थोड़ा-सा अन्तर है। मोहेंजोदारो में कोई समाधि-स्थल नहीं मिलता, किन्तु हरप्पा में एक मिला है। लगता है, मोहें-जोदारो में तीसरे प्रकार का मृतक-संस्कार प्रचलित था, क्योंकि बहुत-से ऐसे कलश मिले हैं जिनमें भस्म, अस्थि और कोयले भरे पड़े हैं। यहाँ सड़कों, वीथियों, कमरों और घरों में कई एक शरीर-ढाँचे मिले हैं। सम्पूर्ण शव के पास उसके सुख-आराम की सारी सामग्रियाँ गाड़ दी जाती थीं, किन्तु दाह-संस्कार की विधि बढ़ती जा रही थी, यह स्पष्ट है।

मृतक-संस्कार

ये सैन्धव कौन थे?

.§. [१३] इस विचित्र और अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के निर्माता, नियामक एवं प्रबोधक कौन थे? यह एक विवाद-ग्रस्त विषय है। मानव-विज्ञान-वेत्ताओं, प्राणि-शास्त्रज्ञों तथा ऐतिहासिकों ने उपलब्ध मानव-शरीर-अवशेषों तथा खोपड़ियों को ध्यान से पढ़ा है। सिर की लम्बाई-चौड़ाई के माप-वर्गीकरण से यह सिद्ध हुआ है कि यहाँ विश्व की प्रायः सभी जातियों के लोग रहते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि

हरप्पा तथा मोहेंजोदारो के निवासी मिश्रित थे। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सैंधवों का देश समृद्ध था और सम्भवतः व्यापारिक केन्द्र होने के कारण अन्य देशों के लोग यहाँ आते जाते रहे होंगे और कुछेक जाति-विशेष व्यापारी-वर्ग यहाँ बस भी गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि सिन्धु-घाटी की जन-संख्या में प्रधानतः चार जातियाँ थीं: अल्पाइन, किरात, भूमध्य सागर के निवासी तथा आदि आस्ट्रोल्वाएड लोग। किन्तु इसमें वास्तविक सैन्धव कौन थे? कुछ विद्वानों ने सिन्धु-घाटी के निर्माताओं को आर्य कहा है, कुछ लोगों ने उन्हें आर्येतर और द्रविड़ माना है। सैन्धवों को अश्व और श्वान अज्ञात थे, क्योंकि यह दोनों पशु उनके भग्नावशेषों में उपलब्ध नहीं होते, किन्तु दो-एक चिह्न मिले भी हैं तो वे ऊपरी स्तर के थे। इनके आधार पर यह कहा जाता है कि सैन्धव आर्य नहीं थे, क्योंकि आर्यों को ये दोनों पशु भली भाँति ज्ञात थे। यह भी कहा गया है कि सम्भवतः आर्य लोग सैन्धवों के विध्वंसक भी थे। ऐसी स्थिति में वे निर्माता नहीं ठहरते हैं। वैदिक तथा पौराणिक अनुश्रुतियों के आधार पर यह भी कहा जाता है कि आर्यों को अपने प्रसार के सिलसिले में पश्चिमोत्तर भारत में असुरों से लड़ना पड़ा था। ये ही असुर सिन्धु-घाटी की सभ्यता के निर्माता थे, ऐसा मत भी उद्घोषित किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि आर्यों से पराजित होकर असुर लोग अन्त में ईरान अक्कड़ (अक्काद), सुमेर, असीरिया आदि स्थानों में बस गए (देखिये द्वितीय अध्याय, प्रकरण §. ३, ४ आदि)। इसी तर्क द्वारा यह भी स्पष्ट किया जाता है कि आज हमें सिन्धु और सुमेर की सभ्यताओं में जो सदृश्यता दृष्टिगोचर होती है, उसके मूल में असुरों का आर्यों से पराजित होकर सिन्धु की घाटी को छोड़ सुमेर आदि स्थानों में चला जाना है और वहाँ अपनी सभ्यता के मूल

क्या ये लोग आर्य थे?

क्या ये अन्त में सुमेर बने?

तत्वों का फिर से विस्तार करना है। किन्तु अभी इस बात को लोग सर्वथा सत्य मानने को सन्नद्ध नहीं हैं। भाण्डों और प्रणालियों के सम्बन्ध में एक बात प्रसारित की जाती है। सुमेर और सिन्धु-घाटी दोनों स्थानों में ये चिह्न मिलते हैं, किन्तु ये सुमेर के निचले स्तर में तथा सिन्धु की ऊपरी स्तर में मिलते हैं। इस बात से सुमेर की सभ्यता अधिक प्राचीन ठहरती है और इसी लिए सैन्धव लोग सुमेर अथवा असुर नहीं थे। कुछ विद्वान् सैंधवों को द्रविड़ कहते हैं। बलोचिस्तान से 'ब्राहुई' भाषा का प्रमाण देकर भी यह बात सिद्ध की जाती है। 'ब्राहुई' एक द्रविड़-भाषा है।

सम्भवतः सैन्धव द्रविड़ ही थे

ऐतिहासिकों ने अनुमान लगाया है कि आर्यों से पराजित होकर सैन्धव लोग दक्षिण में भाग गए, किन्तु कुछ लोग बच गए जो आज भी 'ब्राहुई' बोलते हैं। किन्तु अभी यह बात भी निर्विवाद नहीं है। अभी तक प्राप्त अनुसंधानों के आधार पर इस विषय में कोई भी बात निर्धारित नहीं की जा सकती। जब तक कोई अन्य सुदृढ़ प्रमाण उपस्थित नहीं होता सिन्धु-घाटी निर्माता सैन्धवों को हम द्रविड़ की उपाधि से विभूषित कर सकते हैं।

आदि पश्चिमी एशिया

[विशिष्ट तिथियाँ, स्थान, व्यक्तित्व एवं घटनाएँ]

तिथियाँ	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
२८०० ई० पू०	कप्पाडिसिया (कुर्दिस्तान)	अक्कद के सर्गों	सर्गों के साथ हिट्टाइटी-प्राचीनता
१९२५ ई० पू०	बेबीलोनिया		हिट्टाइटियों की बेबीलोनिया-विजय
ल० १४०० ई० पू०	खत्ती (बोगाज-क्वेई)		शिलालेख में इन्द्र, वरुण, मित्र की चर्चा
ल० १३८५-१३४५ ई० पू०	शुब्बिलूली-उमा		
१३००—१२३४ ई० पू०	मिश्र कार्चेमिश	रामेसेस-द्वितीय	ई० पू० १२९५ में कदेश स्थान पर हिट्टाइटों को हराया कुर्दिस्तान में हिट्टाइटी ध्वंसावशेष
१२०० ई० पू०			हिट्टाइटों ने एशिया माइनर में लोहा का प्रचार किया
१४७६—४७ ई० पू०	पैलेस्टाइन	मोजेज	मिश्र के इत्शेप्सुत का समकालीन
१०१५—९७५ ई० पू०		सोलोमन	ज्ञान, समृद्धि एवं नारियों के लिए प्रसिद्ध
५८६ ई० पू०	जेरूसलम	नेबुचाद्रे-ज्जार	इजरायल का खाल्डियन द्वारा नाश

तिथियाँ	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
६६० ई० पू०	टायर, सिडोन बिब्लोस	हिरम प्रथम	आमिएन तथा फोनिसिएन : आदि सभ्यता के वाहक : वर्णमाला, तौल बटखरे, मसि, कागद का आविष्कार
	एकबतना		मीडों की राजधानी
६०६–१२ ई० पू०	निनेवेह		मीडों ने असीरियनों को हराया
५५०–२६ ई० पू०	सूसा	साइरस	पश्चिम-दक्षिणी एशिया पर फारस का साम्राज्य
५२६–२२ ई० पू०		कम्बीसेस	
५२१–४८६ ई० पू०		दारा	

चौथा अध्याय

ई० पू० छठीं शताब्दी की सर्वव्यापी धार्मिक सुधारणाएँ

[Reformation Movements in the 6th Century B. C.]

.§. [१] विश्व-इतिहास में छठीं शताब्दी धार्मिक सुधारणाओं के सम्बन्ध में एक विशेष महत्व रखती है। कई देशों में असाधारण आध्यात्मिक लहर उठ खड़ी हुई थी। इस समय के लगभग ईरान में जरतुश्त तथा यूनान में हिराक्लिटस महोदय अपनी धार्मिक शिक्षाओं तथा सुधारणाओं का प्रचार कर रहे थे और चीन के धार्मिक तथा नैतिक विषयों के प्रसिद्ध व्याख्याता कनफ्यूकस तथा लाओ-त्सी महोदय अपने देशवासियों के कान में अमृतोपदेश के शब्द ढाल रहे थे। भारत में दो धर्मों ने जन्म लिया : जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म। इन दोनों के मूल में एक व्यापक धार्मिक आक्रोश था जिसकी शान्ति उपनिषदों के ज्ञानपरक दार्शनिक तत्वों से न हो सकी थी। इन धार्मिक उत्क्रान्तियों को समझने के पूर्व हम, बहुत ही संक्षेप में, छठीं शताब्दी तक चले आए हुए मानव-विकास का सिंहावलोकन करेंगे जिससे उस शताब्दी की सर्वव्यापी धार्मिक सुधारणाओं का महत्व स्पष्ट हो जाय।

पूर्वाभास

विश्व-इतिहास में सुधारणाओं की पूर्व पीठिका

.§. [२] मानव सतत विकासशील रहा है और विश्व-इतिहास का एक अद्भुत पात्र रहा है। मानव की प्रगति एवं विकास सर्वव्यापी रहा है। उसकी सभ्यता एवं संस्कृति अगणित उत्थान-पतन, उत्कर्षापकर्ष, घुमाव-फिराव में सतत प्रक्रियाशील रही और वह कल्पनातिरेक में, अपनी नयी-नयी विशेषताओं की प्रेरणा में, अपनी बुद्धि के प्रयत्नों में तथा विकास-मात्र में विश्वास की

आदिकालीन मानव-विकास तथा उसका अन्तः

भित्ति पर टिका रहा है। 'विश्वास' एक ऐसा आलम्बन है जो मानव-मात्र की विशेषताओं एवं लक्षणों में सार्वभौम सत्ता रखता है। इस विषय में सभी मानव एक हैं और आज के "पौर्वात्य" एवं "पाश्चात्य" एक हैं। 'पृथिवी का सूर्य एक बार एक ही ओर अपनी प्रकाश-किरणें फेंकता है किन्तु सारी पृथिवी उससे उद्भासित होती ही है।'

'विश्वास' का आलम्बन

मानव (*Homo sapiens*) ने अपनी विशेषताएँ क्रमशः प्राप्त की हैं। उसे बुद्धि प्राप्त है जिसके सहारे वह अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक प्रक्रियाशील एवं उत्कर्षोन्मुख रहा है। उसे वाणी प्राप्त है जो उसकी प्रथम विशिष्टता है। क्रमशः वाणी से उत्पन्न शब्दों को उसने भाषा-बद्ध किया और फिर उसे लिखा। मानव-विकास की यह एक अद्भुत देन है। "आरम्भ में 'शब्द' था और शब्द 'ईश्वर' था"। फिर क्या था, मानव सामाजिक एवं व्यवस्था-प्रिय जीव बन गया। फिर उसने हथियार बनाए। मानव अनुसंधान कर सकता है। हमने गत अध्यायों में देख लिया है कि मानव क्रमशः पूर्व पाषाण-काल, मध्य पाषाण-काल, उत्तर पाषाण-काल, धातु-काल (जो क्रमशः ताम्र, काँसा, एवं लौह के युगों में परिणत हुआ) के विभिन्न युगों में विचरण करता रहा। मानव वैज्ञानिक एवं कलात्मक हुआ। मानव ने अग्नि के आविष्कार से अपने को प्रकाशमान् कर दिया जिसके फलस्वरूप उसकी अन्ध दुनिया में क्रमशः विकास की रेखाएँ स्पष्ट होती चली गयीं। यह सब तो हुआ, किन्तु अग्नि आयी कहाँ से ? मानव कल्पनाशील हो उठा : सम्भवतः सुदूर 'सूर्य' ही उसका केन्द्र है! ऐसा मानव ने समझा। सूर्य से उसे जीवन का वास्तविक तापक्रम मिलता था। यहीं धर्म तथा दर्शन का जन्म हुआ। सूर्य-पूजा की परम्परा यहीं से चल पड़ी। मिश्रवासियों के लिए वह एमन-रा या एटन (Amon-

वाणी, भाषा

धर्म का उद्भव

Ra or Aton) हो गया और फैरोआ राजा सूर्य का पुत्र बना! जोरास्ट्रियनों (Zoroastrians) के लिए वह अहुरमज्द Ahur-Mazda) का मूर्त रूप था जो जीवन, प्रकाश, एवं नैतिकता का स्रोत था और था मृत्यु, अन्धकार एवं राक्षस अहिरमन (Ahirman) का शत्रु। भारतीय आर्यों के लिए वह सविता, आदित्य अथवा सूर्य, सम्पूर्ण जीवन एवं बुद्धि को बढ़ाने वाला था।

सूर्य-पूजा

इस प्रकार मिश्र के अखनाटन (Akhnaton) से लेकर अकबर एवं आधुनिक काल तक सूर्य-पूजा एक महान् पूजा समझी गयी। सूर्य ने यूरोप के देशों में भी वही मूर्ति धारण की। यूनानियों ने उसे अपोलो (Apollo) कहा, रोमकों ने मिथ्र (Mithra)। भारतवर्ष में तो उसी के नाम से सूर्य-वंश का नामकरण हुआ। हम देखते हैं कि धर्म का जो इस प्रकार जन्म हुआ वह कालान्तर में पुरोहितों अथवा धर्माधिकारियों द्वारा रहस्यात्मकता के प्रसारीकरण के रंग से दूषित मनोभावों का द्योतक हुआ और राजा-महाराजाओं के दुरुपयोग की भित्ति बना।

इस प्रकार मानव बढ़ता रहा और वह क्रमशः भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के दो पलड़ों पर झूलता रहा। भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के विशिष्ट लक्षण मानव इतिहास के

भौतिकता एवं आध्यात्मिकता

प्रत्येक युग में विद्यमान रहे हैं। आवश्यकताओं की दो युग्मज (Twins) सन्तानें हैं जो सभी आविष्कारों के मूल में हैं: भौतिकता एवं आध्यात्मिकता। भौतिकता से तात्पर्य है सभी मूर्त अथवा इन्द्रिय-ज्ञान की सीमा में बँधी हुई वस्तुओं से नैकट्य-स्थापन और आध्यात्मिकता बुद्धि एवं कल्पना से परिज्ञान में लायी जाने वाली अमूर्त वस्तुओं से सम्बन्ध रखती है। हमारा शरीर भौतिक है किन्तु उसकी शक्ति, मन तथा कल्पना आध्यात्मिक है। वास्तव में, मानव-इतिहास मानव-जीवन के उन्हीं द्विधा स्वरूपों का आलेखन है। ये दोनों अविच्छेद्य हैं और मानव ने इन्हीं दोनों के अनुसंधान तथा तत्सम्बन्धी आविष्कारों में अपना

इतिहास लिखा है।

सभ्यता आवश्यकताओं का विस्तारीकरण एवं परिष्कार कही जाती है। मानव की आवश्यकताएँ द्विधा हैं : प्रमुख एवं गौण। प्रमुख आवश्यकताओं यथा, भोजन, वस्त्र, आश्रयण (कदाचित् काम) की पूर्ति के अभाव में हम जी नहीं सकते। प्रमुख आवश्यकताओं को सन्तोष देने के उपरान्त हम गौण आवश्यकताओं की ओर उन्मुख होते हैं। इस प्रकार धर्म, कला तथा अन्य साधनोपसाधन गौण आवश्यकताएँ हैं। इन्हीं दोनों प्रकार की आवश्यकताओं से सम्बन्धित मावन-सभ्यता अपनी रेखाएँ खींचती आयी है। मानव एवं पशु में इन्हीं आवश्यकताओं को लेकर अन्तर पाया जाता है। पशु, जो कुछ प्रकृति-प्रदत्त है उसी पर निर्भर करता है, किन्तु मानव कल्पना की शक्ति रखता है और है आविष्कारकर्ता। आरम्भ में मानव भी प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं पर निर्भर करता था। क्रमशः वह प्रक्रियाशील हुआ। वह अपनी बुद्धि-सामर्थ्य से पशु से ऊपर उठ गया और कालान्तर में पृथिवी एवं प्रकृति का स्वामी बन बैठा। मानव इस प्रकार अपनी व्यवस्था-शक्ति की सीमा के भीतर अपनी नियति का स्वामी बन गया।

सभ्यता-विकास के मूल में आवश्यताओं की पूर्ति

क्रमशः मानव क्षुधा-संवेग से सञ्चालित खाद्य-संग्रह के लिए आखेट करना छोड़ खाद्योपार्जन में संलग्न हुआ और सामाजिकता के बन्धन से जकड़ उठा। काम-प्रवृत्ति तथा वाणी-शक्ति से प्रचालित वह कौटुम्बिक हुआ। उसका कौटुम्बिक जीवन क्रमशः वंश, वर्ग, जाति, राष्ट्र एवं राज्य (Clan, tribe, race, nation and state) की अपेक्षाकृत बड़ी-बड़ी सामाजिक व्यवस्थाओं में विकसित हो उठा। उसका कुटुम्ब पितापक्षीय या मातापक्षीय (Patriarchal or Matriarchal) था जिसमें ज्येष्ठ सन्तानों में लड़का या लड़की सर्वशक्ति की प्रतीक बनी। कुटुम्ब का आचार-

सामाजिता तथा अन्य विकासशील सामाजिक व्यवस्थाएँ

व्यवहार गृहस्वामी द्वारा संयमित था। वंश एक लम्बा कुटुम्ब बना, तथा बृहत् वंश-वर्ग का द्योतक हुआ। आरम्भिक मानव-सभ्यता में इसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाएँ एक प्रकार की संयमित शासन-प्रणाली के साथ चल पड़ीं और पितापक्षीय, मातापक्षीय, राजापक्षीय (Monarchical) जनतन्त्रीय, अथवा धर्मतन्त्रीय (Republican or Theocratic) आदि विभिन्न रूपों में खिल उठीं। ये व्यवस्थाएँ शान्ति एवं युद्ध दोनों के लिए समान रूप से प्रचलित थीं।

न्याय-विधान एवं सुधारणाएँ

क्रमशः न्याय-विधान की व्यवस्था हुई। न्याय रीतियों एवं परम्पराओं पर आधारित धार्मिक विचार-धाराओं एवं विश्वासों से प्रभावित हुआ। कालान्तर में, संहिताओं (Codes) के रूप में न्याय-विधान खिल उठा। हम्मुराबी (देखिए द्वितीय अध्याय प्रकरण .§. ५), मोज़ेज (Moses) तथा मनु की संहिताएँ इस विषय में प्रसिद्ध हैं। न्याय-विधान कालान्तर में, ज़ोरास्टर, कंफ्यूकस (Zoroaster, Confucius) तथा बुद्ध ऐसे उच्चाशयों द्वारा बौद्धिक व्याख्या पा सका। "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति" की परम्परा के अनुसार जब कभी मानव-विकास की सुष्ठु अभियोजनाओं में अगति आ जाती है तो महान् व्यक्तियों का "सृजाम्यहं" वाक्य गूँज उठता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा था। मिश्र, मेसोपोटेमिया, पैलेस्टाइन, फारस, भारत तथा चीन में बड़े-बड़े महान् व्यक्तियों का उद्भव हुआ। मिश्र में मानवों के उद्धार हेतु राक्षसीय एवं क्रूर देवी-देवताओं से छुटकारा दिलाने के लिए अख्नाटन (Akhnaton) का अवतार हुआ, हम्मुराबी (Hammurabi) एवं मोज़ेज ने बेबीलोनिया तथा इज़राइलियों (Babylonians and Israelites) के तत्कालीन समाज के लिए सुन्दर न्याय-विधान दिए, कंफ्यूकस ने चीन को लाओ-त्सी (Loa-tze) के ज्ञान-विरोधवाद (Obscurantism) से त्राण दिया, बुद्ध ने ब्राह्मणवाद के अतिचार से बचने के लिए भारत को नया जीवन या नयी धार्मिक सुधारणा दी तथा जोरास्टर ने इन्द्रजाल-

पीड़ित (Magirridda) फारस के समाज को नया प्राण दिया।

आदिकालीन मानव-सभ्यता का सबसे निकृष्ट दोष था दास-प्रथा। यह प्रथा यूनानी-रोमक समाज में व्यावहारिक एवं न्यायानुसंगत रूप में विद्यमान थी। इसका मूलोच्छेदन उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इसके पीछे शताब्दियों की लम्बी-लम्बी सुधारणाएँ हैं। दासों की दशा बड़ी करुणाजनक थी। स्वामी के आज्ञोल्लङ्घन से उसकी हत्या कर दी जाती थी। स्वयं हम्मुराबी की न्याय-संहिता में लिखा है कि यदि दास यह कहे "आप मेरे स्वामी नहीं हैं" तो उसपर अभियोग चलेगा और स्वामी उसका कान काट लेंगे। किन्तु हम्मुराबी न्याय-संहिता क्रूर नहीं है, यद्यपि उसमें दास पर अभियोग चलाने की बात आयी है, क्योंकि उसमें लिखा है कि बाहर से लाए गए दासों की सन्तानें दास नहीं मानी जा सकतीं। हम्मुराबी का यह सुधारणा-व्यंजक न्याय था।

दास-प्रथा

मानव-सभ्यता में साधु एवं असाधु प्रवृत्तियाँ फूलती-फलती रही हैं। जहाँ एक ओर मिश्र में फैरोआह के साम्राज्य, पश्चिमी एशिया में दारा के साम्राज्य, चीन में शिह हुआंग-ती के साम्राज्य आदि बने वहीं सहस्रों व्यक्तियों को कठिन परिश्रम करना पड़ा और मिश्र के पिरामिड तथा चीन की बृहत् दीवार आदि का निर्माण हुआ। ये स्मारक न-केवल सम्राटों के गौरव के चिह्न हैं प्रत्युत निर्माण-कला के द्योतक भी हैं। मानवी कृतियों में सभ्यता द्वारा उत्पन्न अमानुषिक लक्षण भी पाये जाते हैं। मानव-मानव में भेद पाया जाता है।

साधु एवं असाधु प्रवृत्तियाँ

एशिया के अन्तः में चीन, फारस, पैलेस्टाइन ऐसे शान्तिप्रेमी देश भी रहे हैं। यहाँ की प्रतिभा बहुधा प्रकृतिवादी ही रही है, यद्यपि जहाँ-तहाँ बड़े-बड़े नगरों का निर्माण भी हुआ था। भारत के वेद तथा उपनिषद् उसी के हैं, उनका निर्माण अन्य देशों में दुर्लभ था बुद्ध तथा अशोक ऐसे व्यक्ति भारत में ही उत्पन्न हो सकते थे। चीन

की भी यही दशा थी। वहाँ के लोग शान्ति एवं सौन्दर्य के प्रेमी रहे हैं। चीनियों ने घरेलू गुणों को महत्ता दी थी और पितृ-पूजा में अपनी मुक्ति समझते थे। उनके प्रतिनिधि-स्वरूप लाओ-सी तथा कंफ्यूकस ऐसे महानुभावों ने शान्ति का ही सदोपदेश किया। दोनों ने दूसरों पर आक्रमण न करने की प्रेरणा दी तथा आत्म-निग्रहयुक्त नैतिकता की शिक्षा दी। चीन की दीवार सुरक्षा एवं पृथकत्व की भावना का प्रतीक है। फारस न तो अत्यधिक अध्यात्मवादी था और न अत्यधिक शान्तिप्रेमी। वह निर्माण एवं सहिष्णुता में विश्वास करता था। फारस ने असीरिया से साम्राज्यवादी प्रेरणाएँ अवश्य ग्रहण कीं किन्तु उनमें मानवतावाद भर दिया। सूर्य की पूजा करते-करते वह पूर्व में प्रकाशदाता हो गया। उसका पैगम्बर जोराअस्टर था जो असाधु वृत्तियों की प्रतिमूर्ति अहिरमन का प्रबल विरोधी तथा अहुरमज्द का पुजारी था। फारस ने बेबीलोनिया से छुड़ा कर इज्राइल को स्वतन्त्र किया और उसे पैलेस्टाइन को दे दिया और उसी स्वतन्त्र देश के वासी यहूदियों के यहाँ क्राइस्ट ऐसे महान् व्यक्ति का जन्म हुआ।

एशिया की साधु प्रवृत्तियाँ

इस प्रकार देखते हैं कि आदिकालीन मानव-सभ्यता क्रमशः विकास-पथ पर चलती रही और उसमें भाँति-भाँति के साधु एवं असाधु प्रयत्न होते रहे। आगे के प्रकरणों में हम छठीं शताब्दी की सुधारणाओं का वर्णन करेंगे।

(१) भारतीय धार्मिक उत्क्रान्तियाँ

§. [२] धर्म तथा दर्शन की परम्परा में वैदिक काल में जो क्रान्तियाँ हुईं उनका प्रवाह रुका नहीं, कालान्तर में, वे विविध रूपों में स्पष्ट होती रहीं। (१) ब्राह्मण-धर्म ने, रहस्यात्मक रूढ़ियों में, धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को जकड़ रखा था। उपनिषत्काल की बौद्धिक तथा चिन्तनशील प्रणाली केवल ज्ञान-परम्परा

ब्राह्मण धर्म के मूल में (१) वेदवाद

तक सीमित थी। उसमें बल अधिक था, किन्तु प्रभाव उतना सार्वजनीन न हो सका। इसके मूल में ब्राह्मण-धर्म का अन्धविश्वास-अतिचार था। ब्राह्मणों ने वेदों की आड़ में वेदवाद चलाया जिसके मूल में वेदों के प्रति अटूट श्रद्धा थी। जन साधारण वेदों के प्रमाणों के विरुद्ध नहीं जा सकता था। विशेष चिन्तकों के समस्त धार्मिक तथा सामाजिक प्रश्न ज्यों-के-त्यों पड़े थे। वेदों की स्थिति के युगों पश्चात् जीवन, अपने विविध पहलुओं से आकुल, रूढ़ियों से बद्ध हो चुका था। वेद चिन्तकों के बौद्धिक जीवन को सन्तोष नहीं दे सकते थे, किन्तु वेदवाद जनसाधारण के गले में डिमडिम स्वर करता चला जा रहा था।

(२) बहुदेवतावाद

(२) इतना ही नहीं, ऋग्वेद के पश्चात् जो धार्मिक परिवर्तन हुआ उससे 'बहुदेवतावाद' के साथ-साथ ईश्वर की कल्पना ने मानव के मन को भय-संकुल कर दिया। पूर्व आर्यों के जीवन से ऋग्वैदिक देवता तथा ईश्वर सीधा प्रकृति-सम्पर्क रखते थे, उत्तरकाल में देवता तथा ईश्वर दोनों उनके मित्र ही थे। किन्तु क्रमशः 'देववाद' ने आर्यों के उत्तरकालीन जीवन को देवताओं तथा ईश्वर से बहुत दूर फेंक दिया। ईश्वर सर्वप्रधान 'अनियन्त्रित शासक' तथा देवता उसके 'सामन्त' ठहराये गए। अब क्या था, मानव स्वयं, अपनी कल्पना-शक्तियों से निर्मित देवताओं का दास बन गया, 'भिखारी' बन गया। सचमुच, अन्ध-विश्वास के सहारे उसके आत्म-बल ने उसका साथ छोड़ना आरम्भ कर दिया, वह अपना 'व्यक्तित्व' खो बैठा।

(३) कर्मकाण्डवाद

(३) ब्राह्मण-धर्म की तीसरी शक्ति 'कर्मकाण्ड' ने साधारण जीवन को और भी बोझिल बना डाला। अगणित यज्ञ तथा उनमें से कुछेक की लम्बी अवधि (कई यज्ञ बारह-बारह वर्षों तक चलते थे), उनके अनुष्ठानों में प्रभूत पशु-बलि, व्यय आदि क्रमशः 'वितण्डावाद' के रूप में परिणत हो गए। सीधा, सरल, स्वाभाविक तथा सन्तोष-प्रद

जीवन बोझिल, अस्वाभाविक, व्ययसाध्य, तथा घृणास्पद हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कालान्तर में, ब्राह्मण-धर्म के तीन रूप अर्थात् वेदवाद, देववाद तथा कर्मकाण्डवाद ने भारतीय जीवन को मथ डाला और उसे भयंकर लहरों में भ्रमित कर दिया। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक-सा हो गया था कि धर्म के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन हों, क्योंकि सर्वसुलभ धर्म की मान्यताओं की माँग मौन रूप से प्रबल हो गयी थी।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के उद्भव के मूल कारण

§. [४] ऊपर की व्याख्या के उपरान्त भारत में जो धार्मिक सुधारणाएँ हुईं उनमें जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म अपनी विशेष महत्ता रखते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है (§. १) इन दोनों क्रान्तियों के मूल में एक व्यापक धार्मिक आक्रोश था जिसकी शान्ति उपनिषदों के ज्ञानपरक दार्शनिक तत्वों से नहीं हो सकती थी। किन्तु यहाँ दो-एक बातें विचारणीय हैं। कुछ विद्वानों ने इन दोनों धर्मों के दो कारण बताये हैं: जातीय तथा सामाजिक। इन लोगों ने यह प्रतिपादित करने का उद्योग किया है कि ईसा के ७०० या ६०० वर्ष पूर्व किरात (मंगोल) जाति आयी जिसने लोकतान्त्रिक राज्य-प्रणाली स्थापित की और परम्पराविरोधी अर्थात् अवैदिक धर्म चलाया। प्रस्तुत लेखक विनम्र भाव से इस मत का खण्डन करता है। भारत में तो बहुत प्राचीन काल से क्रिया-प्रक्रिया की धारा बहती आ रही थी और यहाँ लोकतन्त्रात्मक राज्य-प्रणाली भी पहले से ही विद्यमान थी। भगवान् बुद्ध ने जिस धर्म-विशेष की क्रियाएँ स्थापित कीं उनमें परम्परा का विशेष विरोध नहीं था। स्वयं उन्होंने अपने धर्म को 'आर्य धर्म' की उपाधि दी है, और अपने धार्मिक सिद्धान्तों को 'चत्वारि आर्यसत्यानि' कहा है। अतः यह सत्य है कि धार्मिक उत्क्रान्तियों के मूल में भारतीयता है न कि विदेशी धर्म-तत्व। दूसरा मत सामाजिक कारणों को लेकर उद्घोषित किया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि जैनधर्म

तथा बौद्धधर्म 'वर्णाश्रमधर्म' के विरोध में चले थे। किन्तु ऐसी बात निर्मूल है। वास्तव में, इन धर्मों ने वर्णों के गुणों और कर्मों पर ध्यान दिया है। उन्होंने अन्धविश्वासपरक प्रवृत्तियों, यज्ञों आदि का विरोध अवश्य किया है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय अथवा निष्पक्ष जाँच की जाय तो यह झलकता है कि जैन अथवा बौद्धधर्म के विधायकों ने मानव-जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर तत्कालीन जनता का ध्यान आकृष्ट किया है। अतः हम किसी भी प्रकार इन धार्मिक उत्क्रान्तियों में जातीयता अथवा सामाजिकता का रंग नहीं पाते, प्रत्युत इनमें सार्वभौमिकता का दर्शन पाते हैं और मानव-कल्याण की ओर एक गहरा धार्मिक निर्देश पाते हैं।

जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के पूर्व की उत्क्रान्तियों का स्वरूप

§. [५] जैनधर्म एवं बौद्धधर्म के पूर्व कितने ही गम्भीर दार्शनिक आन्दोलन हुए, किन्तु उनके प्रवर्तकों द्वारा कोई सम्प्रदाय नहीं चला। हाँ, उसी प्रणाली में दूसरे वर्ग के लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने वैदिक प्रभावों (वेदवाद), देववाद, कर्म-काण्ड आदि का घोर विरोध किया। ऐसे लोग 'भौतिकवादी' अथवा 'भोगवादी' कहे गए। इनमें चार्वाक मुख्य हैं। चार्वाकों की भाँति अन्य सम्प्रदायों का उदय हुआ जो क्रम से प्रमाण, ईश्वर, मोक्ष-मार्ग आदि विषयों पर विभिन्न मत देनेवाले नास्तिक, सन्देहवादी, भौतिकतावादी भोगवादी, तपोमार्गी आदि नामों से पुकारे जाते हैं। वे विभिन्न मत-मतान्तर जनपद-काल तक निर्बाध रूप से चलते आए। जिस युग में इन विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तकों का अभ्युदय हुआ हम उसे "अध्यात्म-युग" तथा "धार्मिक उत्क्रान्ति" का युग कह सकते हैं। पालि-ग्रन्थों से हमें ज्ञात है कि बुद्ध के धर्म-प्रचार के समय भारतवर्ष में ६२ विविध सम्प्रदाय थे जिनमें आजीवक, जटिलक, मुण्ड-श्रावक, परिव्राजक, मागन्दिक, गोतमक, तेदण्डिक आदि मुख्य थे। उस काल के अन्य आध्यात्मिक व्याख्याता पुराण-कश्यप, मक्खलि-गोसाल, निग्रन्थ-ज्ञाति-पुत्र अजितकेश कम्बलिन पकुद्ध-कच्चायन, मोग्गलान,

संजय-वेलट्ठपुत्त आदि थे। जैनों ने तो विविध सम्प्रदायों को ३६३ की संख्या दी है। इस प्रकार हमें स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म अथवा बौद्धधर्म के मूल में अनेक व्यापक सम्प्रदाय थे जो काल-प्रभाव से विलीन हो गए थे। केवल ये दो धर्म जीवित रहे जिन्होंने आज पृथिवी के एक बहुत बड़े भाग को प्रभावित कर रखा है और जिनकी भारतीय संस्कृति की मर्यादा अक्षुण्ण है।

[क] जैन धर्म

जैन धर्म के प्रवर्तक: ऋषभदेव—पार्श्वनाथ तथा महावीर

.§. [६] जैन आचार्यों के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों ने उनके धर्म-विशेष को समय-समय पर जगाया। पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर थे जिनके पूर्व के तीर्थंकरों का ऐतिह्य सन्देहात्मक है। प्रथम तीर्थंकर जैन-धर्म के प्रवर्तक श्री ऋषभदेव मानव वंशी (सूर्य-वंशी) थे। श्री पार्श्व ने प्राचीन परम्परा में ही जैन-धर्म को प्रकाशित किया। इनके चार उपदेश या व्रत थे: (१)अहिंसा, (२) सत्य, (३) आस्तेय (चोरी न करना) तथा (४) अपरिग्रह (परित्याग)। इनके अनुयायी कालान्तर में, श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के प्रवर्तक हुए। इनकी शिक्षाओं का प्रचार २५० वर्ष उपरान्त चौबीसवें तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने किया। ये भी क्षत्रिय थे। ३० वर्ष की अवस्था तक इन्होंने पार्श्वनाथ की भाँति गृहस्थाश्रम किया। १२—१३ वर्षों तक घोर तपस्या में इन्होंने अपने शरीर को जर्जर कर दिया और अन्त में केवल-ज्ञान (कैवल्य) प्राप्त किया। इन्हें कई उपाधियों से विभूषित किया गया है, यथा—निर्ग्रन्थ, महावीर, 'जिन' 'केवलिन' तथा 'अर्हत्'। 'जिन' शब्द से ही उनके अनुयायियों को जैन की उपाधि मिली है। इन्होंने अपने मत का प्रचार पैदल घूम-घूम कर अपने समय के सभी पूर्वी जनपदों में किया। महावीर बुद्ध के समकालीन थे ही अतः उन्हें अधिकतर बौद्धों तथा अन्य मतावलम्बियों से वाक्-युद्ध करना पड़ा। इनका निर्वाण-काल लगभग ईसा

के ५२७ वर्ष पूर्व माना जाता है।

महावीर ने पार्श्वनाथ के चार सिद्धान्तों या उपदेशों के साथ एक पाँचवाँ व्रत 'ब्रह्मचर्य' जोड़ दिया। उन्होंने भौतिक रूप भेदों का सर्व प्रकार से तिरस्कार कर दिया। वे सचमुच, निर्ग्रन्थ थे। वस्त्रों तक को उन्होंने बन्धन समझा। वे नग्न घूमा करते थे और कालान्तर में 'दिगम्बर सम्प्रदाय' के प्रतीक हुए। सत्य की प्रतिष्ठा में वेद-प्रमाण को अस्वीकार कर अर्हतों के 'केवल-ज्ञान' को और उनके वचनों को महावीर ने प्रमाण माना है। अतः जैनों के लिए वेद अपौरुषेय नहीं है। उन्होंने यज्ञों का घोर विरोध किया। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु में, अणु-परमाणु में जीव पाया जाता है। इसी कारण जैनों में 'अहिंसा' का प्रभूत महत्व पाया जाता है।

महावीर के सिद्धान्त

§. [७] जैन-धर्म के अनुसार कोई भी अर्हत् अथवा योग्य व्यक्ति अपनी अनुभूतियों के अनुसार सत्य के पहलुओं का उद्घाटन कर सकता है। यह है जैन-धर्म की बौद्धिक उदारता। महावीर ने 'अनेकान्तवाद' या स्याद्वाद' का प्रचार किया है जो न 'आत्मवाद' है और न नास्तिकवाद का प्रतीक एकान्तवाद है। महावीर आत्मा में विश्वास करते हैं और उसमें जीव का प्रतिष्ठापन करते हैं जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस (गतियुक्त) में पाया जाता है। प्रकृति तथा सृष्टि अनादि है, सृष्टि को चलानेवाली कोई एक सत्ता नहीं है। आत्मा कर्म-बन्धनों में चक्कर काटती रहती है और अन्त में शुद्ध कर्म, साधना, तपस्या आदि से मुक्त हो जाती है। कर्म-मुक्ति के साधन तीन हैं: सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् आचरण। इन्हें त्रिरत्न कहा जाता है। नैतिकता के लिए पाँच महा व्रत हैं: सत्य, अहिंसा, आस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। तप दो प्रकार का है: वाह्य एवं आभ्यन्तर। पहले में अनशन, चान्द्रायण व्रत (अवमोदरिका), भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, कायक्लेश आदि सम्मि-

जैन धर्म का प्रमुख स्वरूप

लित हैं। दूसरे में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त (सेवा), स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग (शरीर-त्याग) की गणना होती है। स्पष्ट होता है कि जैन-धर्म में कायिक यातना तथा यौगिक क्रियाओं को अधिक महत्व है। अन्न छोड़ कर मर जाना अच्छा समझा जाता है।

§. [८] महावीर के अनुयायियों में बिम्बिसार, अजातशत्रु, लिच्छवि और मल्ल लोग थे। किन्तु महावीर के धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म के समक्ष अधिक नहीं हुआ। इसके कई कारण हैं। महावीर ने बीच का मार्ग ग्रहण किया। वे न तो पूर्ण आत्मवादी थे और न नास्तिक अतः उनका मत-विशेष आकर्षक नहीं सिद्ध हुआ। उनकी मान्यताएँ एवं धारणाएँ अति कठोर थीं। अहिंसा का कठोर पालन सब जातियों के लिए असम्भव था।

जैन-धर्म का प्रभाव

[ख] बौद्ध धर्म

§. [९] दूसरी धार्मिक उत्क्रान्ति बौद्ध धर्म के रूप में प्रकट हुई। इसके प्रवर्तक हुए गौतम बुद्ध। इनका जन्म ई० पू० ५६२ में प्रख्यात शाक्य कुल में हुआ। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। बचपन से ही ये चिन्तनशील, उदार एवं विरागप्रेमी थे। प्राणियों के दुख को देखकर इन्हें दुख होता था और सोचा करते थे कि प्राणियों के दुखों का विमोचन किस प्रकार होगा। इनके पिता शुद्धोधन बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह कर दिया और उन्हें सुख के सारे उपकरणों से आवृत कर दिया। किन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। लगभग बारह वर्ष तक उन्होंने गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन किया। उन्हें राहुल नामक पुत्र भी हुआ। किन्तु संसार से वे विमोहित न हो सके। जीवन, मरण, जरा तथा व्याधि के अनेकानेक दृश्य उन्हें अनुदिन विकल करने लगे। एक दिन उन्होंने घर छोड़ दिया और विश्व-कल्याण के मार्ग का अनु-

भगवान बुद्ध तथा उनकी तपस्या

संधान करने के लिए संसार में निकल पड़े। इस घटना को बौद्ध-धर्म के इतिहास में 'महाभिनिष्क्रमण' कहा जाता है।

बाहर आ उन्होंने बहुत दिनों तक प्रख्यात विद्वानों, पण्डितों, साधु-संन्यासियों से कथा-वार्ता, दर्शन-विषयक बातें कीं। राजगृह में आचार्य आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्त से दार्शनिक विवेचनाएँ कीं। किन्तु उन्हें कहीं भी सन्तोष नहीं हुआ। राजगृह से वे गया आये। निरञ्जना नदी के तट पर उरुवेला नामक वन में अपने पाँच साथियों के साथ घोर तपस्या आरम्भ कर दी और शरीर को जर्जर कर डाला। उरुवेला की नर्तकियाँ गाती हुई निकलीं। उन्होंने गाया—वीणा के तारों को अत्यन्त ढीला न करो, नहीं तो वे नहीं बजेंगे; वीणा के तारों को अधिक न खींचो, नहीं तो वे टूट जायँगे। इन शब्दों में उन्हें "मध्यम मार्ग" का दर्शन हुआ। सुजाता नामक एक स्त्री वृक्ष-पूजार्थ खीर लेकर आयी और उन्होंने उससे माँगकर खीर खा ली और निश्चिन्त हो एक पीपल के वृक्ष के नीचे आसन मार कर बैठ गए। उनके पाँचों साथियों ने उन्हें भोगवादी कहकर उनका तिरस्कार किया और उन्हें छोड़ काशी चले गए। इस प्रकार ३५ वर्ष की अवस्था में उस पीपल वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान-प्रकाश मिला। लगा, वे 'महामोह-निद्रा' से उठे हैं। उन्हें 'सम्बोधि' प्राप्ति हुई और गौतम सिद्धार्थ सम्यक् सम्बुद्ध हुए। उस घटना को बौद्ध धर्म में महान् गौरव प्राप्त है।

गया से वे काशी आए और वहाँ वे ऋषिपत्तन (सारनाथ) में अपने साथियों को अपनी प्रकाश-किरणों से अभिषिक्त किया और कहा, "ओ भिक्षुओ, मार्ग दो हैं: अत्यन्त तप वाला एवं अत्यन्त विलास वाला। मैं इनके बीच में स्थित हूँ।" इसी मार्ग को 'मध्यम प्रतिपदा का मार्ग' (मज्झिम पतिपदा) कहा जाता है। इस धार्मिक घटना को 'महाधर्म-चक्र प्रवर्तन' की संज्ञा दी गयी है।

सारनाथ के उपरान्त वे उरुवेला, राजगृह, कपिलवस्तु, मल्ल-देश आदि स्थानों में उपदेश करने लगे और क्रमशः अंग, मगध, वज्जि, काशी, मल्ल, शाक्य, कोलिय, मौर्य, कोसल, वत्स, शूरसेन आदि जन-

पदों में उन्होंने अपने प्रकाश को बिखेरा। अन्त में ८० वर्ष की अवस्था में मल्लों की राजधानी कुशीनगर में उन्होंने संसार को छोड़ दिया। इस घटना को बौद्ध धर्म में 'महापरिनिर्वाण' कहा जाता है। इनकी मृत्यु ई० पू० ४८३ में हुई।

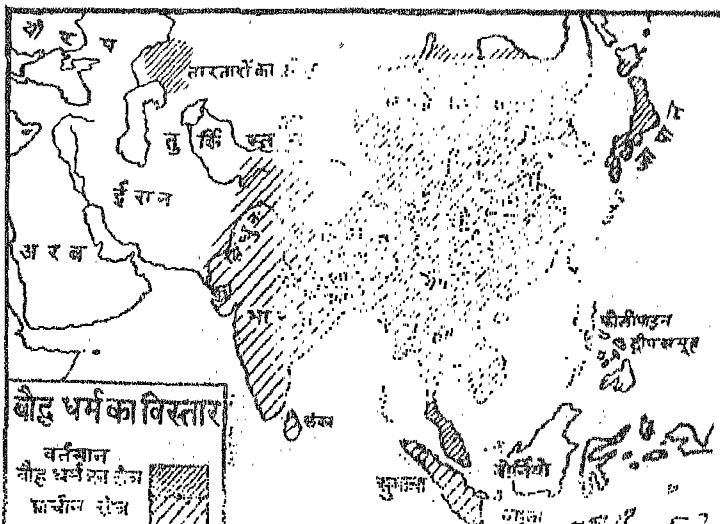
§. [१०] बुद्ध के उपदेशों में चार सत्य अधिक प्रसिद्ध हैं : दुःख, समुदय, निरोध तथा मार्ग। उन्होंने कहा, विश्व में दुःख ही दुःख है : सर्वं दुःखं दुःखम्। जन्म, मरण, जरा, व्याधि सब दुःख ही हैं। इन दुःखों के समुदय (कारण) भी हैं। तृष्णा दुखों के मूल में है, इसी से क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अहंकार आदि की सृष्टि होती है। तीसरा सत्य उन्होंने निरोध के रूप में स्पष्ट किया और कहा कि जिस प्रकार दुख की स्थिति है, उसके कारण हैं, उसी प्रकार उसे दूर भी किया जा सकता है। यदि हम तृष्णा के फेर में न पड़ें तो जन्म, मरण, जरा, व्याधि से छुटकारा पा सकते हैं। तृष्णा-नाश से दुःखरहित होने पर निर्वाण मिलता है। इसी सिलसिले में उन्होंने चौथे सत्य का उद्घाटन किया जो मार्ग के रूप में वर्णित है। दुख के निरोध (निवारण) के लिए आठ मार्ग हैं : सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, (जीविका), सम्यक् व्यायाम (उचित प्रयत्न), सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। ये आष्टांगिक मार्ग उनकी स्वानुभूतियाँ थीं जो उनके दर्शन के रूप में प्रतिफलित हुईं और यही था उनका मध्यम मार्ग जिसे भिक्षु तथा गृहस्थ पालन करके निर्वाण प्राप्त करते थे। यहीं पर बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। जैन धर्म में कठिन शारीर-तप को विशिष्ट स्थान दिया गया है किन्तु बौद्ध धर्म में उचित मात्रा में आहार-विहार को प्रतिष्ठा दी गयी है। बुद्ध ने नैतिकता के लिए दस शील भी निर्धारित किए हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (संग्रह न करना), ब्रह्मचर्य, नृत्य-गान-त्याग, पुष्प तथा अन्य सुगन्धित वस्तुओं का त्याग, असमय में भोजन-त्याग,

बुद्ध के उपदेश

सुखकर शय्या-त्याग तथा कामिनी-कांचन का त्याग। इन दशधा शीलों में प्रथम पाँच अप्रव्रजित गृहस्थों के लिए तथा सभी दस भिक्षुओं के लिए अनिवार्य हैं।

बौद्ध धर्म विश्व-धर्म हो गया

§. [११] बुद्ध की उपदेश-शैली, उनके सरल, सुबोध, मार्मिक, उपदेश तथा उनके दार्शनिक विचार बहुत ही शीघ्र जन-जन में शान्ति के मन्त्र फूँकने लगे। उनके धर्म के प्रबल वेग से बहने के कई कारण थे: (१) सरल शैली, (२) जाति-बन्धन का अभाव, (३) उनका व्यक्तित्व, (४) जन-भाषा का प्रयोग, (५) संघ-निर्माण, (६) राजकीय सहायता तथा (७) सीमातिरेक से दूर—मध्यम मार्ग। इन्हीं कारणों से बौद्ध धर्म क्रमशः प्रसारित होता चला गया और विश्व-धर्म हो गया।



चित्र १०—प्राचीन एवं वर्तमान बौद्ध-भूमि

(ग) धार्मिक सुधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन

§. [१२] जैन तथा बौद्ध धर्म धार्मिक सुधारणाओं के प्रतीक थे। दोनों के उदय के मूल में जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक व्यापक धार्मिक तथा सामाजिक विक्षोभ था। अतः दोनों समानताओं का पाया जाना सम्भव ही है।

(१) दोनों ने समान रूप से वेदों के प्रमाणों का बहिष्कार किया। (२) दोनों ने वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञानुष्ठानों, पशु-बलि आदि का विरोध किया। (३) अहिंसा तथा सदाचार-सम्बन्धी कार्यों का प्रतिपादन दोनों में पाया जाता है। जैनों ने अहिंसा पर अधिक बल दिया।

दोनों में समानताएँ

(४) ईश्वरपरक बातों पर दोनों ने अविश्वास-दृष्टि फेरी। (५) सामाजिक व्यवधानों को समान दृष्टि से दोनों धर्मावलम्बियों ने अग्राह्य समझा। वर्ण तथा जातिगत विशेषताओं को मानने में दोनों ने न-केवल नकारात्मक उत्तर दिया प्रत्युत सब वर्णों के लोगों को अपने संघों, मठों तथा विहारों में समान आसन दिया। (६) पुनर्जन्म, कर्म, मोक्ष आदि सिद्धान्तों में दोनों ने अटूट विश्वास घोषित किया। (७) भिक्षु-धर्म दोनों धर्मों के संगठन का आधार था। (८) दोनों में 'त्रिरत्न' में शरण लेने की आज्ञा है। जैन धर्म के त्रिरत्न हैं: (i) सम्यक् दर्शन, (ii) सम्यक् ज्ञान तथा (iii) सम्यक् चरित्र और बौद्ध के हैं: (i) बुद्ध, (ii) संघ तथा (iii) धर्म। (९) दोनों में अन्ध-विश्वास पाया जाता है, जिससे कालान्तर में दोनों में पुराण तथा असंख्य देवताओं की सृष्टि हो गयी।

दोनों धर्मों में मौलिक विभेद भी हैं जिनके फलस्वरूप दोनों धर्म दो विशिष्ट धार्मिक उत्क्रान्तियों और सामाजिक सुधारणाओं के रूप में देखे गए। (१) बौद्ध धर्म अनात्मवादी था, किन्तु जैन धर्म में आत्मा की स्थिति स्पष्ट है। बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी था, किन्तु जैन धर्म ने सृष्टि-कर्ता-विषयक बातों में यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर उत्पादक अथवा पालक

विभिन्नताएँ

के रूप में कुछ नहीं है। संसार की प्रत्येक वस्तु में जीव है, जीव में ही निहित शक्तियों का उच्चतम रूप ईश्वर का हो सकता है। अतः जैन धर्म वैदिक दृष्टिकोण से नास्तिक है, किन्तु है आत्मवादी। (२) जैन धर्म कठोर तपस्या में विश्वास करता है। उपवास, व्रत, केशलुञ्चन, अनशन से प्राण-त्याग आदि मोक्ष-साधन के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। बौद्ध धर्म ने मध्यम मार्ग अपनाया है। (३) बौद्ध धर्म ने अहिंसा की एकान्तप्रियता के अतिरेक को नहीं माना है, जैनों में अहिंसा के प्रति अटूट श्रद्धा है। (४) दोनों धर्मों में यद्यपि निर्वाण एवं मोक्ष में विश्वास है, किन्तु इनके साध्य के साधनों में मौलिक अन्तर है। (५) बौद्धों ने जन-साधारण की भाषा पालि को अपनाया किन्तु जैनों के अधिकांश ग्रन्थ प्रायः अभिजात-भाषा संस्कृत अथवा प्राकृत में हैं।

(घ) धार्मिक सुधारणाएँ एवं वैदिक धर्म

§. [१३] जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म के प्रचलन से भारतीय संस्कृति में अनेक नयी धार्मिक सुधारणाएँ आयीं। जिस प्रकार का विरोध इन सुधारणाओं ने उपस्थित किया और आर्यों के जीवन में नई धार्मिक क्रान्ति की चिनगारी फूँक दी उसे पढ़ते हुए यदि हम उत्तर-कालीन वैदिक साहित्य का अनुशीलन करें तो प्रकट होगा कि ऐसी विरोधी बातें भारतीयता के मूल में थीं। स्वयं वेद में कई स्थानों पर देवताओं की शक्ति में अविश्वास पाया गया है। उपनिषद् तो वेद-विरोधी थे ही। उन्होंने अपरा विद्याओं में वेदों को रखा है। उन्होंने 'त्रयी' (ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद) तथा कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कहा है कि ज्ञान की प्राप्ति इनसे नहीं हो सकती। तो, यदि जैन तथा बौद्ध धर्मों ने वेदों तथा उनसे प्रचालित विधि-प्रक्रियाओं से मतभेद उपस्थित किया है तो कोई नयी बात नहीं है। हाँ, इन दोनों धर्मों ने अपने स्वर को अधिक प्रबल किया और समय ऐसा था कि उनसे एक धार्मिक क्रान्ति का उद्भव हुआ जिसने शताब्दियों तक भारत-भूमि को नयी सुधारणाओं, नयी धार्मिक प्रेरणाओं तथा नये जीवन-दर्शनों

से अनुप्राणित कर रखा। वास्तव में, दोनों धर्म एक ही मूल धर्म और संस्कृति की दो विशिष्ट धाराएँ हैं। इन धर्मों की भौतिकता, नैतिकता, सामाजिकता तथा दार्शनिकता के मूल तत्वों का आधार वास्तव में, एक ही धर्म तथा संस्कृति है। तो, वैदिक धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म एक ही मूल संस्कृति-स्रोत से निकली तीन विशिष्ट धाराएँ हैं। कालान्तर में, हिन्दू धर्म में इन तीनों के मूल मन्त्र घुल-मिल गए। आज भी जैन हैं, बौद्ध हैं, किन्तु वे अपने को न-केवल भारतीय कहते हैं, प्रत्युत हिन्दू धर्म के ही अन्तर्गत विशिष्ट धर्म सम्प्रदायावलम्बी कहते हैं। आर्य धर्म ने एक ही मूल लेकर क्रमशः वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्मों में अपने को अनुप्राणित किया।

[२] चीन की धार्मिक सुधारणाएँ : लाओ-सी एवं कन्फ्यूकस [Lao-tze and Confucius]

§. [१४] चीन की धार्मिक सुधारणाओं के सम्यक् परिज्ञान के लिए उस देश की प्राचीनता एवं महत्ता के विषय में कुछ जान लेना परमावश्यक है। अतः, बहुत ही संक्षेप में, चीन के इतिहास एवं सभ्यता की चर्चा यहाँ की जायेगी। चीन के लोग विश्व के इतिहास में अपना पृथक् महत्व रखते हैं। उनके इतिहास की प्रमुख विशेषता है आदिकाल से चली आती हुई परम्पराओं की एकरसता एवं अपनी एकान्त मौलिकता। लगभग १५,००,००० वर्गमील में चीन की जन-संख्या ४० करोड़ से ऊपर है। चीन के इतिहास को भी नदियों की धाराओं ने अपने उतार-चढ़ाव से लिखा है। याँगटिसी क्याँग (Yangtze-Kiang) तथा ह्वांगहो (Whang-Ho) की उपजाऊ घाटियों में ही इसके प्रमुख अध्याय आलिखित हैं। पूर्वी तिब्बत में योंगटिसी से उत्पन्न मार्ग द्वारा ही भारत एवं चीन में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हुआ।

§. [१५] भारतवर्ष के समान ही चीन की सभ्यता अति प्राचीन है। जब से दोनों में सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ दोनों ने एक

दूसरे से बहुत कुछ सीखा। चीन तो धार्मिक क्षेत्र में भारत का बहुत ऋणी है। बौद्ध धर्म ने चीन पर भारतीयता की छाप अमिट कर दी। चीनी विचार-धारा कालान्तर में, बौद्ध धर्म के प्रसार के कारण तथा

चीन तथा भारत

विद्वानों के आवागमन से बहुत अंशों में भारतीय संस्कृति के पास आ गयी। भारत तथा चीन की सभ्यताओं में बहुत अनुरूपताएँ हैं। दोनों ने शान्ति-पथ का अनुसरण किया। दोनों देशों ने पारिवारिक जीवन को महत्त्व दिया। दोनों बाह्याक्रमणों से परिवर्तन के लिए बाध्य हुए। दोनों देशों में भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक प्रश्रय मिला। शिक्षा-क्षेत्र में दोनों ने महत्वपूर्ण एवं श्लाघनीय प्रयत्न किये। दोनों की सभ्यताएँ आज तक विद्यमान हैं।

§. [१६] भारत के समान चीनी इतिहास भी सहस्रों वर्ष पूर्व चला जाता है। किम्वदन्तियों के अनुसार चीन का प्रथम पुरुष पानकु (Pan Ku) माना जाता है जो १८००० वर्षों तक जीवित रहा। उसी ने ही इस विश्व को ई० पू० २,२२६,००० वर्ष निर्मित किया। फु-शी (Fu-Hsi) नामक व्यक्ति ने चीन की

चीन का प्राचीन इतिहास

चित्रवत् लिपि का निर्माण किया और चीन को पंचांग, वाद्ययन्त्र, तथा अन्य सामाजिक व्यवस्थाएँ दीं। उसने ई० पू० २८५२-२७३८ तक राज्य किया। उसका पुत्र शेन नुंग (Shen-Nung), जिसने ई० पू० २७३७-२७०५ तक राज्य किया, कृषि, व्यापार एवं आयुर्वेद-शास्त्र का जनक कहा जाता है। हुआंग-टी (Huang-Ti) ने जो पीत सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध है, ई० पू० २६९७-२५९८ तक राज्य किया और नौका एवं पहियों वाली गाड़ियों एवं कुतुबनुमा का आविष्कार

第一百四十八條 權利之行使,不得以損害他
人為主要目的。

चित्र ११—चीनी लिपि का नमूना

किया। चीनी वस्त्र, धनुष-बाण, मुद्रा तथा शव-वस्त्र उसी के आविष्कार माने जाते हैं! उसकी रानी रेशम के धंधे की जननी कही जाती है।

ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में चीन का प्रारम्भिक इतिहासकार सू-मा चीएन (Su-ma Chien) हुआ। उसने पीत सम्राट् यू (Yellow Emperor Yu) के, जिसने ई० पू० २२०५–२१९० तक राज्य किया, शासन-काल से इतिहास आरम्भ किया है। यू 'सिया' (Hsia) नामक वंश का प्रवर्तक माना जाता है। सिया का अर्थ है सभ्यता। इस वंश का राज्य ई० पू० २२०५ से १७६६ अर्थात् ४३९ वर्षों तक चलता रहा और १७ सम्राट् हुए। यिन या शैंग राजवंश (Yin or Shang = १७६६–११२२ ई० पू०) के काल में अधिक उन्नति हुई। इसमें २८ सम्राटों ने ६४४ वर्षों तक राज्य किया। कला और व्यवसाय की प्रभूत उन्नति हुई जिसका प्रभाव ईसा के पश्चात् बारहवीं शताब्दी तक अक्षुण्ण रहा। बारहवीं शताब्दी की एक पुस्तक में शैंग-काल के काँसे के बर्तनों का चित्रण है। होनान (Honan) की खुदाइयों से हरिण के सींगों, कछुआ की खोपड़ियों की कलात्मक चातुरी तथा प्राचीन शैन-लिपि का उद्घाटन हुआ है। चाऊ सिन (Chou Hsin) सम्राट् के, जो तत्कालीन युग के गौरव एवं अधःपतन का द्योतक था, पश्चात् शैंग-वंश का नाश हो गया। इसके उपरान्त फा (Fa) ने चाऊ राज्य-वंश की परम्परा चलाई।

चाऊ-वंश का काल (ई० पू० ११२२–२५५) चीन के इतिहास-गौरव का काल कहा जाता है। इस वंश में ३७ सम्राट् हुए। इस काल में बहुत-सी पाठशालाओं एवं अनाथालयों की स्थापना हुई। आधुनिक चीनी लेखक तान युन-शान (Tan Yun-Shan) ने लिखा है कि इस राज्य-काल में चीनी सभ्यता एवं संस्कृति की बड़ी उन्नति हुई। इस युग में बड़े-बड़े संन्यासी एवं विद्वान् हुए जिनमें कंफ्यूकस, लाओ-त्से, मेंसियस (Confucius, Loa-tze and Mencius) विश्व-विश्रुत हो गए। इस युग में विचार-स्वातन्त्र्य तथा विद्या की प्रभूत

उन्नति हुई। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से इस काल को सामन्त-काल कहा जाता है।

.§. [१७] हमने बहुत ही संक्षेप में ऊपर चीन के राजनीतिक इतिहास का पर्यवलोकन किया। अब हम ई० पू० छठी शताब्दी की सुधारणाओं का वर्णन करेंगे। हमने देख लिया है कि चीनी सभ्यता अपनी मौलिकता एवं शाश्वतता के लिए विश्व-इतिहास में अपना पृथक् स्थान रखती है। कुतुबनुमा, बारूद, कागद, मुद्रण, शीशा, रेशम, चाय, चीनी बर्तन, सोयाबीन आदि चीन की ही देन हैं। चीन एक विशाल देश है अतः चीनियों के हृदय की विशालता प्रसिद्ध है। चीनियों में कौटुम्बिक प्रेम एवं पितृश्रद्धा उनकी विशिष्ट संस्कृति की द्योतक है। ये सम्पूर्ण संसार को एक कुटुम्ब मानते हैं। चीनी बहुत ही उदार होते हैं, वे धार्मिक एवं जातीय विभेदों को महत्त्व नहीं देते। सांस्कृतिक रूप से सम्पूर्ण चीन एक है। चीन में सैनिक होना अच्छा नहीं माना जाता। चीनी विद्या के प्रेमी रहे हैं, अतः चीनी समाज में विद्वानों को सर्वश्रेष्ठ पद मिलता रहा है। उनके साहित्य में मधुर न्याय्यता, आशावादिता, सरलता एवं शान्ति अविच्छेद्य रूप से विराजमान है। चीन में लाओ-सी, (जन्म-काल, लगभग ई० पू० ५७०) कन्फ्यूकस (जन्म-काल लगभग ई० पू० ५५१) ऐसे प्रसिद्ध रहस्यवादी दार्शनिक, विचारक एवं सुधारक भी हुए हैं। इनका प्रभाव चीनी सभ्यता एवं संस्कृति पर अक्षुण्ण है। हम, बहुत ही संक्षेप में, इन महान् व्यक्तियों की सुधारणाओं पर प्रकाश डालते हैं।

चीनी सभ्यता तथा सुधारणाएँ

[क] लाओ-सी

.§. [१८] लाओ-सी के जीवन-वृत्त के विषय में हमें विशेष नहीं ज्ञात है। वे चाऊ-वंश के एक पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। वे रहस्यवादी थे। अतः उनकी शिक्षाएँ रहस्यपूर्ण एवं दुर्बोध थीं। उनकी शिक्षाएँ 'लाओवाद' (Taoism)

लाओवाद

के नाम से प्रसिद्ध है। ताओ का तात्पर्य प्रेम तथा संन्यास के द्वारा सहभाव, समलयता एवं एकरसता उत्पन्न करने से है। लाओ-सी ने कहा है : "उनके लिए जो साधु या अच्छे हैं मैं अच्छा हूँ, उनके लिए भी जो असाधु या बुरे हैं मैं अच्छा हूँ।" लाओ-सी की शिक्षाएँ निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती हैं :

ताओ महान् है,
पृथिवी महान् है
राजा भी महान् है।
ये ही अखिल ब्रह्माण्ड के त्रिरत्न हैं,
और इनमें राजा भी है।
मानव पृथिवी के अनुरूप अपना निर्माण करता है;
पृथिवी स्वर्ग के अनुरूप अपना निर्माण करती है,
स्वर्ग ताओ के अनुरूप अपना निर्माण करता है,
ताओ प्रकृति के अनुरूप अपना निर्माण करता है।

×× ×× ××

व्यक्ति में उत्पन्न सद्गुण शुद्ध होता है;
कुटुम्ब में उत्पन्न सद्गुण अधिक होता है;
ग्राम में उत्पन्न सद्गुण कई गुना बढ़ जाता है;
राज्य में उत्पन्न सद्गुण फूलता-फलता है;
किरण में उत्पन्न सद्गुण अखिल ब्रह्माण्ड में समा जाता है।

देखिए, कितने सुन्दर भाव हैं! भारतीय आदर्श के कितने अनुरूप ये आदर्श वाक्य हैं! सच है, अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्बकम्॥

लाओ-सी के सिद्धान्त ईसा के सिद्धान्तों से मिलते हैं। कालान्तर में, उनकी शिक्षाएँ लुप्त हो गयीं और उनके स्थान पर अन्धविश्वासों एवं जादू-टोनों ने घर कर लिया। ऐसा तो सभी सुधारणाओं का अन्तिम परिणाम होता है। भारतवर्ष में जैन एवं बौद्ध धर्म की सुधारणाएँ भी अन्त में अन्धविश्वासों, तान्त्रिक मान्यताओं एवं वितण्डावाद के घेरे

में पड़ गयीं।

[ख] कन्फ्यूकस

§. [१६] भाग्यवश लाओ-सी की अपेक्षा कन्फ्यूकस के विषय में हमें कुछ विशेष बातें ज्ञात हैं। वे आधुनिक शाँतुंग (Shantung) में लू (Lu) नामक प्रदेश में ई० पू० ५५१ में उत्पन्न हुए थे। बाईस वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपना जीवन एक अध्यापक के रूप में आरम्भ किया। लू के शासक ने प्रसन्न होकर उन्हें एक नगर का शासक नियुक्त कर दिया। कन्फ्यूकस ने अपने को निर्माता एवं प्रवर्तक नहीं कहा है बल्कि साधु बातों का प्रचारक कहा है। वे एक बहुत बड़े सुधारक कहे जाते हैं। उन्होंने अपने समय की सामाजिक एवं राजनीतिक कुरीतियों को दूर करने का अथक प्रयत्न किया। अपनी साठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने लिखा: "मैं वह व्यक्ति हूँ जो ज्ञान की खोज में भोजन की सुधि नहीं लेता, ज्ञान-प्राप्ति के उल्लास में दुःखों को भूल जाता हूँ तथा मैं वह व्यक्ति हूँ जो आसन्न बुढ़ौती का परिज्ञान नहीं करता।" यह सम्पूर्णतः चीनी स्वभाव का द्योतक है। उन्होंने मनुष्य के सद्गुणों की प्रशंसा की है, परमार्थ, त्याग, सच्चाई, ईमानदारी ऐसे सदाचारों के लिए देश-वासियों को उद्बोधित किया है। कन्फ्यूकस ने भगवान् बुद्ध के समान (वे भगवान बुद्ध के समकालीन भी थे) देवी-देवताओं की चर्चा नहीं की। उन्होंने कहा "जब तक आप अपने को नहीं जानेंगे (सम्यक् ज्ञान) आप मृत्यु के विषय में क्या जानेंगे? जब तक आप मानव की सेवा नहीं कर सकेंगे देवी-देवताओं की पूजा क्या कर सकेंगे?" लाओ-सी की भाँति वे दुर्बोध नहीं थे। उन्हों ने कहा, "दया का प्रतिदान दया से दो किन्तु न्याय से अन्याय का उत्तर दो। उन्होंने साम्राज्यों एवं राष्ट्रों के शासकों के लिए नवधा शिक्षाएँ उपस्थित कीं: (१) व्यक्तिगत आचरण का सुधार, (२) योग्य व्यक्तियों का आदर (३) बन्धु-बान्धवों के प्रति कर्तव्य करते हुए उनसे श्रद्धा की माँग करना,

उनकी दार्शनिक शिक्षाएँ

(४) राज्य के उच्चाधिकारियों के प्रति सम्मान प्रकट करना, (५) जनता के अधिकारियों के साथ जन-कल्याण के लिए अपने को तदनुरूप बनाना, (६) जन-साधारण के लिए पितृवत् व्यवहार करना, (७) सभी प्रकार की व्यावहारिक कलाओं के लिए प्रेरणा करना, (८) विदेशों से आए हुए लोगों के प्रति प्रेम-स्नेह-श्रद्धा का व्यवहार करना तथा (९) साम्राज्य के राजाओं के कल्याण में अभिरुचि करना। कन्फ्यूकस की ये शिक्षाएँ दो सहस्त्र वर्षों से अधिक चीनी मन को परिमार्जित करती रहीं और उस पर दार्शनिक शासन करती रहीं।

कन्फ्यूकस की लोक-प्रियता बढ़ी, किन्तु शत्रुओं एवं विद्वेषियों ने उनके विरुद्ध स्वर ऊँचा किया और वे अपने शासक-पद से च्युत कर दिए गए। वे चाहते थे कि वे स्वयं अपने सिद्धान्तों को शासक रूप में रह कर, कार्यान्वित करें। उनकी यह अभिलाषा अन्त तक अपूर्ण रही। वे ई० पू० ४७९ में मर गए। उनके मरने के पश्चात् चीनियों ने उनके मूल्य को आँका।



चित्र १२—महापुरुष कन्फ्यूकस

लाओ-सी तथा कन्फ्यूकस की शिक्षाओं का चीन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके सम्मान में बहुत से मन्दिरों का निर्माण हुआ। उत्तरी चीन में कन्फ्यूकस तथा दक्षिणी चीन में लाओ-सी की विचार-धाराओं का प्रभाव रहा और दोनों विचार-धाराओं में प्रभूत संघर्ष भी रहा,

जैसा कि हम भारतवर्ष में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के विषय में पाते हैं। भारतीय एवं चीनी सुधारणाओं में अन्तर होते हुए भी बहुत समानता है। ये सुधारणाएँ छठीं शताब्दी में ही जाग्रत हुईं अतः विश्व के इतिहास में, जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है, उनका विशेष महत्व है। चीन की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक विचार-धाराएँ लाओ-सी एवं कन्फ्यूकस के सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित रहीं।

[३] फारस की धार्मिक सुधारणा

§. [२०] हमने यह बहुत पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि विश्व-धर्म के इतिहास में एशियाई धार्मिक सुधारणाओं का विशेष महत्व है। फिलस्तीन में यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म, ईरान में पारसियों का धर्म, भारत में आर्य धर्म, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म, चीन में लाओ-सी एवं कन्फ्यूकस के धर्म तथा कालान्तर में अरब का इस्लाम धर्म एशिया की ही सम्पत्ति हैं। यदि यह कहा जाय कि एशिया विश्व का धर्म-गुरु है तो अत्युक्ति न होगी। छठीं शताब्दी तो धार्मिक सुधारणाओं में विशेष महत्व रखती ही है। इस युग के विशेष धर्मों में भारतीय एवं चीनी धर्मों एवं उनसे प्रचालित सुधारणाओं का वर्णन हमने गत प्रकरणों में कर दिया है। अब हम ईरान में जरतुश्त द्वारा प्रचालित सुधारणा की विवेचना करेंगे।

एशिया—विश्व का धर्म-गुरु

§. [२१] पारसी (फारस के रहने वाले) आर्य थे अतः आर्यों एवं पारसियों के धर्मों में बहुत समानताएँ हैं। काल-चक्र से आज पारसियों का प्राचीन धर्म उनके स्थान में नहीं पाया जाता, क्योंकि वहाँ इस्लाम धर्म का बोल-बाला है। केवल अल्प-संख्यक भारतीय पारसी तथा कुछ ईरानी ही उस धर्म को लेकर अपने प्राचीन धर्म की विशिष्टता को प्रदर्शित करने वाले हैं। पारसियों की पवित्र धर्म-पुस्तक है ज़ेन्द

फारस एवं भारत

अवेस्ता (Zend Avesta)। यह ज़ेन्द भाषा में लिखित है किन्तु ऋग्वेद से बहुत अंशों में मिलती है। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र जेन्द अवेस्ता में तथा जेन्द अवेस्ता के बहुत-से मन्त्र ऋग्वेद में थोड़े परिवर्तनों के साथ रखे जा सकते हैं। ऐसा क्यों है? यह एक मौलिक प्रश्न है जिसके समाधान में कई विवादग्रस्त प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। विद्वानों का कथन है कि आर्य लोग भारत में आने के पूर्व फारस में बहुत दिनों तक रहे और ऋग्वेद का बहुत-सा अंश फारस में ही लिखा गया था। कालान्तर में, फारसी आर्यों एवं भारतीय आर्यों की दो पृथक् परम्पराएँ चलीं।

पारसी एवं आर्य एक ही थे

ऋग्वेद में 'असुर' शब्द का तात्पर्य आज के 'असुर' शब्द से नहीं है। जेन्द अवेस्ता का 'अहुर' (असुर) ऋग्वेद का 'असुर' शब्द ही है। लगता है, फारस वालों के विरोध में ही भारतीय आर्यों ने कालान्तर में, 'असुर' शब्द को 'राक्षस' का अर्थ दिया। जो हो, इसमें सन्देह नहीं है कि फारस एवं भारत के निवासी आरम्भ में एक ही थे, उनकी संस्कृति एक ही थी।

§. [२२] फारस वालों (पारसियों) ने भी आर्यों के समान कृषि को प्रधान जीवन-व्यवसाय माना, किन्तु उन्होंने बहुत पहले ही एक

धार्मिक गुरु ज़रतुश्त

ईश्वर की कल्पना कर ली और उसे अहुर-मज़्द (Ahura-Mazda) कहा। (फारस में 'स' 'ह' का सूचक है, यथा सिन्धु = हिन्दु; असुर = अहुर इत्यादि) अहुर-मज्द प्रकाश, सद् मन, सच्चाई, राज्य, पवित्रता, कल्याण तथा अमरता के प्रतीक माने जाते हैं। फारस वालों के धार्मिक गुरु हुए ज़रतुश्त (Zarathushtra)। ज़रतुश्त ने इस विश्व को द्वन्द्वात्मक माना और कहा कि बारह सहस्र वर्षों तक देव अहुर-मज्द तथा राक्षस अहिरमन (Ahirman) में भयङ्कर संघर्ष चलता रहा। यह उक्ति दैवी एवं आसुरी प्रवृत्तियों के द्वन्द्व की सूचक है। कितनी यथार्थ आर्यकालीन आर्य-धर्म-सम्बन्धी उक्ति है यह! वास्तव में,

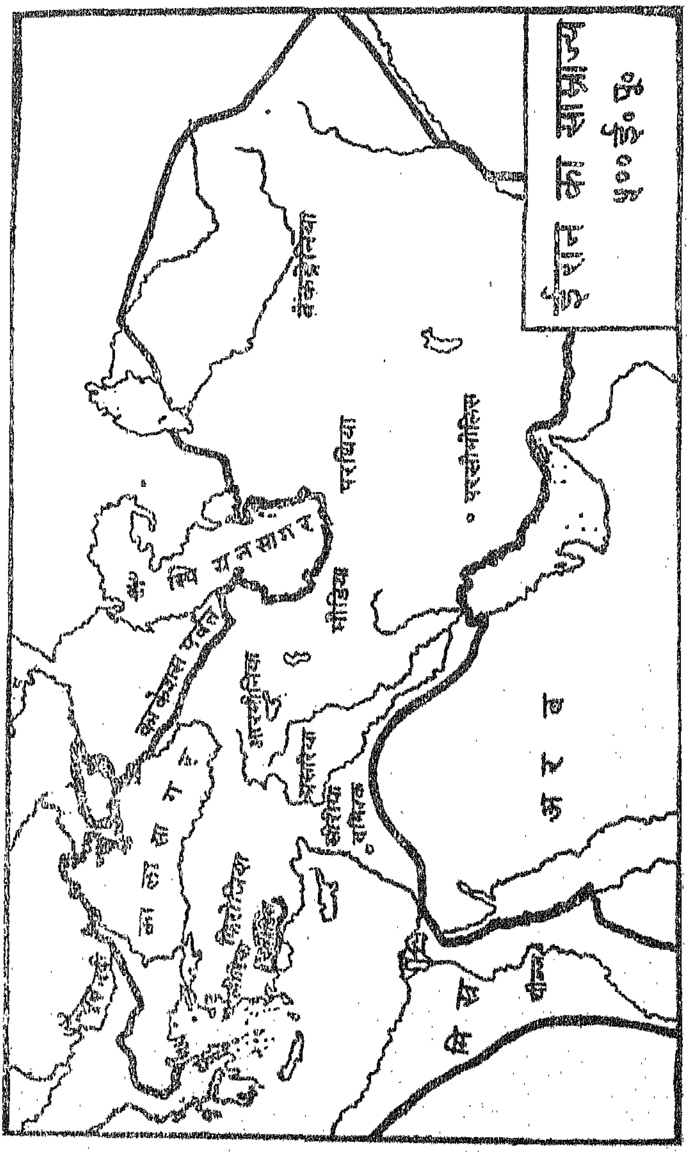
जहाँ अहुर मज्द प्रेम और सत्यता का प्रतीक है, अहिरमन घृणा और असत्य व्यवहारों का। पवित्र आचरणों से ही अमरता मिलती है, ऐसा संकेत मिलता है। मृतकों को इस धर्म के अनुसार गाड़ा या जलाया नहीं जाता, प्रत्युत वे मांस-भक्षी पशुओं एवं पक्षियों को दे दिए जाते हैं।

§. [२३] पारसी लोग सूर्य एवं अग्नि को पवित्र समझते हैं। यह है विश्व-धर्म की प्राचीनतम धारणा (Concept) क्योंकि सूर्य जो अग्नि का प्रतीक है, जीवन एवं प्रकाश का दाता है, सारी प्रकृति उसी से प्रकाशित है। सूर्य अग्नि भगवान् के ही प्रतीक माने जाते हैं। ज़रतुश्त ने बुद्ध एवं ईसा मसीह के समान ही उक्तियाँ उद्घोषित की हैं। उसी व्यक्ति की प्रकृति साधु है जो अन्य व्यक्तियों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करता जो उसके लिए अशोभनीय है। मानव के कर्तव्य त्रिधा हैं: (१) अमित्र को मित्र बनाना, (२) पापात्मा को पुण्यात्मा बनाना तथा (३) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना। पाठकों को इस विषय में उपनिषदों के वाक्य एवं बुद्ध की शिक्षाएँ स्मरण करनी चाहिए।

शिक्षाएँ

§. [२४] पारसियों का धर्म वास्तव में, बहुत सरल एवं भव्य था। किन्तु कालान्तर में, वह अपने धर्मावलम्बियों के अन्ध-विश्वासों के कारण असाधु आवरणों से ढँक दिया गया। पुरोहितों ने उसे नया आवरण दिया और रहस्यात्मिकता तथा धार्मिक अतिचारों के फलस्वरूप उसका स्वच्छ रूप छिप गया। फारसी पौरोहित्य (Magi) ही इसका प्रमुख कारण बना। यह 'मैजी' शब्द कालान्तर में, 'मैजिक' (जादू या इन्द्रजाल) शब्द का द्योतक हुआ। सूर्य-पूजा ज्यों-की-त्यों चलती रही। सूर्य को फारसी भाषा में या जेन्द अवेस्ता में मिथ्र (Mithra = Mitra = मित्र या आर्य मित्र, जो सूर्य देव का पर्यायवाची है) कहा जाता है। आज के ईरानी एवं भारतीय पारसी ही इस प्राचीन धर्म के पोषक रह गए हैं।

पारसी धर्म का कालान्तर रूप



चित्र १३

आदि चीन का सँक्षिप्त अवलोकन

[विशिष्ट तिथियाँ, युग, सम्राट् एवं घटनाएँ]

तिथियाँ	युग-विशेष	सम्राट्	विशेष व्यक्तित्व	घटनाएँ
२,२२६,०० ई० पू०	अनुश्रुतिपूर्ण	पाँकू		प्रथम मानव ने १८,००० वर्ष जीवित रहकर विश्व का निर्माण किया।
२८५२–२७३८ ई० पू०	अर्द्ध ऐतिहासिक	फू हेसी		लिपि, पंचाग आदि का निर्माणकर्ता
२७३७–२७०५ ई० पू०	,,	शेननुंग		कृषि, व्यापार, औषधि
२६६७–२५९८ ई० पू०	इतिहास का उषा काल	हुआंग–ती = पीत सम्राट्		नौका-यातायात, कुतुबनुमा, मुद्रा, रेशम-उद्योग आदि
२२०५–१७६६ ई० पू० २२०५–२१९७ ई० पू०	हसिया-वंश (४३९ वर्ष)	यू		वंश-परम्परा का नाम—सभ्यता—१७ सम्राट
१७६६–११२२ ई० पू०	चीन या शैङ्ग (६४४ वर्ष)			होनान खुदाई से शैंग-ध्वंसावशेष प्राप्त है; २८ सम्राट्

तिथियाँ	युग-विशेष	सम्राट्	विशेष व्यक्तित्व	घटनाएँ
११२२–२५५ ई० पू०	चाऊ (४६७ वर्ष)		कंफ्यूकस (५५१-४७६ ई० पू०) लाओ सी ५७० ई० पू०) मेंशिएस (३७२–२८६ ई० पू०)	संस्कृति का स्वर्ण-युग; ३७ सम्राट्
२५५–२०६ ई० पू० २४५–२१० ई० पू०	चीन-वंश	चेन तथा शिह हुआंग-ती	लिस्सु (मन्त्री)	चीन की दीवार बनायी कंफ्यूकस के साहित्य को नष्ट किया
२०६ ई० पू० २१६ ई० ८–२३ ई०	हैन-वंश	वाँग मैंग		कंफ्यूकस के साहित्य का पुनरुद्धार, शासन में समाजवादी, प्रयोग भूमि का राष्ट्रीयकरण एवं समान वितरण
६१८–९०७ ई० ६२७–४६ ई०	तैंग-वंश	ताइत्सुंग		साम्राज्य - विस्तार एवं शासन-व्यवस्था
९६० ई० १०२१–८६ ई०	सुंग वंश	ताइ त्सू	वाँग ऐंशिह (मन्त्री)	राज्य-द्वारा व्यापार एवं उद्योग का प्रबन्ध

आदि भारत का संक्षिप्त अवलोकन

[विशिष्ट तिथियाँ, युग, स्थान, व्यक्तित्व एवं घटनाएँ]

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
३५००—२५०० ई० पू०	सैन्धव सभ्यता	मोहेंजोदारो हरप्पा आदि		नगर-योजना, प्रणाली, मोहरें एवं प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था
२०००—१००० ई० पू०	वैदिक युग	आर्यावर्त		१४०० ई० पू० के हिट्टाइटी लेख में इन्द्र, वरुण, दशरथ की चर्चा
१०००—५०० ई० पू० ५६३—४८६ ई० पू०	महाकाव्य-काल बौद्ध काल	भारतवर्ष कपिलवस्तु	गौतम बुद्ध, महावीर	भारत का आर्यकरण, जटिल सभ्यता; बलि, रहस्यवाद, जाति एवं धर्माचारिता के प्रति विरोध
५२१—४८६ ई० पू० ३५६—३२३ ई० पू०	वाह्याक्रमण	पश्चिमी-पंजाब	दारा सिकन्दर	फारसी प्रभाव यूनानी प्रभाव

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
३२३ ई० पू० २७३–२३७ ई० पू०	मौर्यकाल	मगध पाटलिपुत्र	चन्द्रगुप्त मौर्य अशोक	प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य; धर्म-विजय एवं न्याय
१८५ ई० पू०	शुंग-काल		पुष्यमित्र शुंग	ब्राह्मणवाद
१८०–१६० ई० पू० ल० १२०–१६२ ई०	यवन कुषाण	पंजाब	मेनेन्द्र कनिष्क	मलिन्द-पन्हो महायान
३२०–४७० ई० ४०५–४११ ई०	गुप्त काल	हिन्दुस्तान	चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य फाहियान	हिन्दू सभ्यता का स्वर्ण-युग : वृहत्तर भारत, भारत-भ्रमण
६०६–६४७ ई०			हर्षवर्द्धन युवाँ च्वाँग	हिन्दू भारत का अन्तिम युग

पाँचवाँ अध्याय

यूनानी इतिहास एवं सभ्यता

[१] यूनानी इतिहास

पूर्वाभास

§. [१] ग्रीक के रहनेवालों को यूनानी कहा जाता है। ग्रीक ग्रेसी (Graeci) शब्द से निकला है। रोम वालों ने ही यह नाम दिया है। आदिकालीन यूनानी इतिहासकार होमर (Homer) ने ग्रीक नाम नहीं लिया है। उसने एचियन, आर्चीव (Achaens and Archives) आदि नाम अवश्य लिए हैं। हेसाएड (Hesiod) ने प्रथम बार ग्रीकों को विदेशियों या बर्बरों से पृथक् करने के लिए हेलेन (Hellenes) कहा। हेलेन किम्वदन्तियों में प्रचलित कोई पूर्वज था और उसी के नाम से उसकी भूमि का नाम हेलास (Hellas) पड़ा। हेलेन उन दिनों आधुनिक ग्रीस से बड़ा था। इसका इतिहास होमर से बहुत प्राचीन है। हेलों या हेलेन के बसने के सहस्रों वर्षों के उपरान्त होमर ने अपनी "इलिएड" तथा "ओडिसी" (Iliad and Odyssey) के महाकाव्य लिखे। लगभग ई० पू० २००० वर्ष पूर्व हेलेन लोग कैस्पिएन सागर से ग्रीस की ओर गए। ये आर्य ही थे और इस प्रकार भारतीय आर्यों, पारसियों तथा हिट्टाइटों के ही भाई-बन्धु थे। उनके जाने के पूर्व भूमध्यसागरी प्रदेशों में एजिएन, क्रीटिएन, माइनोन या मीसेनोयन सभ्यताएँ (Aegian, Cretan, Minoan or Mycenoam Civilisations) फूल-फल चुकी थीं। इस प्रकार पूर्व से ही पश्चिम की ओर सभ्यता-प्रकाश फैलता रहा।

यूनान का प्राचीन इतिहास

§ [२] होमर ने यूनानियों के प्राचीनतम इतिहास पर प्रकाश डाला है। क्रमशः भ्रमणशील प्रकृतिवाले यूनानी आर्य गाँवों में बसने लगे। ये गाँव कालान्तर में नगरों में परिवर्तित हो गए और वहाँ नगर-राज्य (City-States) बन गए। नगर-राज्य के राजा शासन में परामर्श

के लिए धनाढ्य एवं प्रभावशाली व्यक्तियों की परिषदों तथा नागरिकों से चुनी हुई विधान-सभाओं से सहायता लेते थे, किन्तु ये सभाएँ (Councils and Assemblies) नाम मात्र को थीं। राजा सर्वोपरि था। वही युद्ध-सञ्चालक अथवा पुरोहित था। कालान्तर में, धनाढ्य लोगों की कौंसिलों ने अपना प्रभुत्व जमा लिया और जन-साधारण की असेम्बलियों का प्रभाव कम कर दिया। लगभग ई० पू० आठवीं शताब्दी में नगर-राज्य के राज-तन्त्र बलहीन हो गए। उनके स्थान पर धनिकों के उच्च तन्त्र स्थापित हुए। किन्तु क्रमशः उनकी सत्ता भी समाप्त हो गयी और निरंकुश शासकों की शासन-व्यवस्था स्थिर हुई जो ई० पू० पाँचवीं शताब्दी तक चलती रही। इन विविध राजनीतिक परिवर्तनों के कारण जनता में क्षोभ उत्पन्न हुआ और उसमें अधिकांश अन्य देशों में जाने लगे। इस प्रकार यूनानियों के उपनिवेशों की परम्परा आरम्भ हो गयी। काले सागर के पास के उपनिवेशों से अनाज तथा कच्चा माल यूनान जाने लगा और क्रमशः व्यापार-वाणिज्य की परम्पराएँ बँधीं। क्रमशः जहाज-निर्माण की कला के आविर्भाव से यूनानी व्यापार बढ़ने लगा।

राजनीतिक विप्लवों के फलस्वरूप कालान्तर में निरंकुश शासकों की शक्ति को रोकने के लिए प्रचलित राजकीय व्यवहारों (कानूनों) का संग्रह हुआ। ड्रेको (Dracos) ने यूनानियों के लिए ई० पू० ६२४ में एक न्याय-संहिता उपस्थित की। सोलन (Solon) को कर-कानूनों को नम्र बनाने का कार्य सौंपा गया और उसने ई० पू० ५६४ में विनम्र कानूनों की संहिता बनाई। इस काल में उपनिवेश तो स्थापित हुए ही, साथ-ही-साथ कला-साहित्य की विशेष उन्नति हुई जिसका वर्णन हम आगे के प्रकरणों में उपस्थित करेंगे। सोलन ने न्याय-संहिता तो उपस्थित की किन्तु वह निरंकुश सत्ताधारियों की शक्ति कम न कर सका। क्रमशः राजनीतिक विप्लव हुए जिसके फलस्वरूप यूनान में निरंकुशता के स्थान पर प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। यूनान में राजनीतिक प्रयोग विश्व-इतिहास में अपना पृथक स्थान रखते हैं।

§. [२] हमने पहले ही कहा है कि ईरानी भी आर्य थे। उन्होंने एशिया के पश्चिमी भाग में अपना एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था जो मकदूनिया से भारतवर्ष का छोर छूता था। प्रजातन्त्र की स्थापना के पश्चात् यूनानियों ने पूर्व की ओर बढ़ना आरम्भ किया। इधर ईरानी पश्चिम की ओर उन्मुख थे। अतः दोनों में संघर्ष अवश्यम्भावी था। ईरानी राजा दारा ने लीडिया जीता और माइनर में स्थित यूनानियों को परास्त किया। उसने अपनी महत्वाकांक्षा के आगे यूनान को बड़ी बाधा के रूप में देखा। उसने एक सामुद्रिक सेना का निर्माण किया और ई० पू० ४९० में एथेंस से २० मील की दूरी पर माराथान स्थान पर अपना बेड़ा जमाया। एथेंस वालों के लिए यह भयंकर विपत्ति थी। उन्होंने स्पार्टा से सहायता माँगी, किन्तु व्यर्थ। अन्त में राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित एथेंसवासियों ने जीवन-मरण का युद्ध किया और अन्त में विजयी हुए। दारा अपना-सा मुँह लेकर लौट आया। अब यूनानियों ने स्वयं सामुद्रिक सेना का निर्माण किया। इस विषय में माराथान-युद्ध के विजेता थैमिस्टोक्लीज़ का नाम यूनान के राजनीतिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। जब दारा के पुत्र ज़रसीज़ ने ई० पू० ४८० में यूनान पर आक्रमण किया तो थैमिस्टोक्लीज़ द्वारा निर्मित जहाजी बेड़े की सहायता से सेलमिस नामक स्थान पर यूनानियों ने ईरानी जहाजी बेड़े को परास्त कर दिया। किन्तु विपत्ति अभी नहीं टली। भला, ईरानी (पारसीक या फारस वाले) अपनी पराजय को कब तक सह सकते थे? ज़रसीज़ ने पुनः एक विशाल सेना के साथ यूनान-विजय के लिए प्रस्थान किया। उसने जल-सेना और स्थल-सेना की सहायता से यूनानियों से थर्मापोली नामक स्थान पर मुठभेड़ की। इस भयंकर युद्ध में यूनान के अन्य राज्यों के लोग मिले हुए थे। स्पार्टा का वीर योद्धा ल्यानिडास भी उपस्थित था। स्वतन्त्रता के पुजारियों ने अपने रक्त से राष्ट्र की

यूनानी प्रजातन्त्र का ईरान से युद्ध

सामुद्रिक सेना का निर्माण

रक्षा की। ईरानियों की विशाल सेना आगे बढ़ रही थी, यूनानी कटे जा रहे थे, किन्तु अन्त में राष्ट्र-प्रेम की विजय हुई। ईरानियों के स्वप्न सदा के लिए टूट गए। थर्मापोली स्थान पर ल्यानिडास की मूर्ति स्थापित है जो आज भी यूनानियों के देश-प्रेम, त्याग, बलिदान का प्रतीक है। माराथान तथा थर्मापोली के साथ-साथ सेलमिस, प्लेटिया तथा माइकेल के युद्ध भी इस विषय में प्रसिद्ध हैं जो यूनानियों की वीरता के द्योतक हैं।

§. [४] इतिहासकारों ने ई० पू० ४७६ से लेकर ई० पू० ३३८ तक के यूनानी इतिहास को स्वर्णाक्षरों में लिखा है। इसी काल में विश्व-साहित्य के अनमोल नाटक प्रणीत हुए जिनके प्रणेता थे विश्व-विश्रुत सोफोक्लीज, ऐसकीलस एवं यूरीपाइडीज्। वास्तु-कला की अद्वितीय उन्नति के प्रतीक यूनानी कलात्मक भवन इसी काल में निर्मित हुए। विश्व-दर्शन में अनूठा एवं विचारकों की श्रेणी में अपने ढंग का अकेला दार्शनिक एवं विचारक सुकरात इसी काल में अवतरित हुआ। यह सब तो हुआ ही जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में एथेंस एवं स्पार्टा के बीच साम्राज्यवादी नीति को लेकर भयंकर विप्लव हुआ। स्पार्टा प्रजातान्त्रिक नीति का समर्थक था, किन्तु विजेता थैमोस्टोक्लीज् साम्राज्यवादी वृत्ति का पोषक था। अन्त में साम्राज्यवादी नीति की विजय रही जिसके फलस्वरूप ईरान के बन्धन से मुक्त यूनानी नगर-राज्यों ने एक दल बनाया जो डेलिया-लीग के नाम से यूनानी इतिहास में विख्यात है। इस लीग ने एशिया से ईरानियों को मार भगाया।

यूनान का स्वर्ण-युग

एथेंस एवं स्पार्टा का गृह-कलह

इतना ही नहीं, एथेंस वालों को स्पार्टा से भी राजनीतिक नीति को लेकर युद्ध करना पड़ा। स्पार्टा से १३ वर्षों तक युद्ध चलता रहा जिसमें नेता पेरिक्लीज् ने प्रमुख भाग लिया। इन युद्धों में गृह-कलह को प्रधानता मिली। अन्त में एथेंस को स्पार्टा से सन्धि करनी पड़ी

जो ३० वर्षों तक चलती रही। एथेंस और स्पार्टा में कई बार सन्धि एवं युद्ध होता रहा जो एथेंस के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुआ। अन्त में स्पार्टा का गौरव बढ़ा जो ई० पू० ४०४ से लेकर ३७१ तक सुदृढ़ रहा। सैनिक शासन की प्रधानता बढ़ गयी। अन्त में ई० पू० ३७१ में स्पार्टा की शक्ति क्षीण हो गयी और थीबिया वालों की विजय हुई। कालान्तर में मकदूनिया के राजा फिलिप ने ई० पू० ३३८ में यूनान पर अपना अधिकार कर लिया।

साम्राज्यवादी यूनान तथा मकदूनिया का गौरव

§. [५] फिलिप की मृत्यु ई० पू० ३३६ में हो गयी। उसका पुत्र सिकन्दर, जो विश्व-इतिहास में सिकन्दर महान् के नाम से विश्रुत है, विश्व-विजय की अभिकांक्षा से मचल उठा। वह ईरान को अधीनस्थ करके मिश्र पर सरलता से टूट पड़ा और विजय-श्री लेकर पूर्व की ओर अग्रसर हुआ। वह बेबीलोनिया, ईरान आदि देशों को रौंदता पञ्जाब तक चढ़ आया। वहाँ के राजा पुरु को उसने प्रसिद्ध झेलम-युद्ध में परास्त किया। किन्तु पूर्वी भारत में न बढ़ सका, क्योंकि उसकी सेना थक गयी थी और आगे बढ़ने में उसे सेना-विषयक असन्तोष स्पष्ट दीख पड़ा। वह लौट पड़ा। लौटते समय ई० पू० ३२३ में बेबीलोनिया में अधकचरी अवस्था में ही भौतिक शरीर से छुटकारा पा गया। हाय रे मानव!

महान् विजेता सिकन्दर

क्या है उसकी महत्त्वाकांक्षा, जन-जन के नाश पर स्थिर होकर नाचने वाली! वह विश्व-विजय का स्वप्न देख रहा था और उसने बहुत कुछ जीता भी, किन्तु अकाल ही महान् हो चल पड़ा। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका साम्राज्य तीन भागों में बँट गया। एशियाई भाग पर, जो भूमध्य सागर से दजला तक विस्तृत था, उसका एक सेनापति सिल्यूकस स्वामी हो गया। दूसरे भाग पर, जो मकदूनिया तथा यूनान को मिलाकर एक था, एण्टीगोनस अधिकारी हो गया। अफ्रीका के भाग पर टाल्मी अधीश्वर बना। सिल्यूकस के वंशजों का नाश

क्रमशः हो गया और उनके राज्य पर सीरिया का प्रभाव जम गया।

रोमकों का आधिपत्य

अफ्रीका के टाल्मी के वंशज शक्तिशाली हुए, उन्होंने बहुत दिनों तक भूमध्यसागर पर अपना प्रभुत्व स्थिर रखा। अन्त में रोमकों ने क्रमशः यूनानी राज्यों पर अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। मिश्र की पराजय ई० पू० ३० में हुई। उसके उपरान्त रोमकों का अभ्युदय बढ़ा।

[२] यूनानी सभ्यता

पूर्वाभास

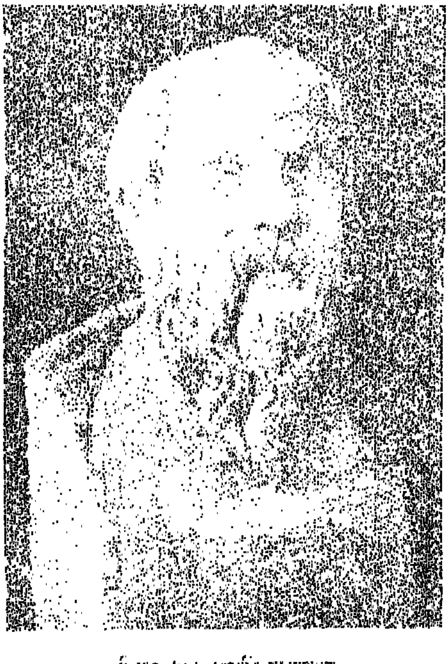
§. [६] गत प्रकरणों में हमने बहुत संक्षेप में यूनान की राजनीतिक अवस्थिति पर प्रकाश डाला। वास्तव में, इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है यूनानी सभ्यता का दिग्दर्शन कराना। यूनान का वास्तविक इतिहास, जो विश्व में पूजनीय है, उसके राजनीतिक नेताओं, साहित्यकों, विद्वानों एवं विचारकों का है, जिससे हमारा सांस्कृतिक मोह है। राजनीतिक विप्लवों के बीच पेरिक्लीज एवं प्लेटो की जो विश्व-विश्रुत देन है वह विश्व-इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। संक्षेप में, इस प्रकरण में इतना कहना आवश्यक है कि प्राचीन यूनानियों का जीवन घोर व्यावहारिक एवं कलापूर्ण था। वहाँ के कला-प्रेमियों, दार्शनिकों एवं साहित्यकों ने जीवन के तीन प्रमुख मूल्यों (Values of life) सत्यं, शिवं, सुन्दरं (Truth, Goodness and Beauty) को अपने जीवन में उतारा। राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में उन्होंने इन तीन मूल्यों को प्रधानता दी। राजनीतिक स्वाधीनता प्रजातन्त्र एवं नगर-राज्य की स्थापना में फलीभूत हुई, जिसके फलस्वरूप सभी नागरिक उन मूल्यों को अपनी स्वानुभूतियों से अपनाने में समर्थ हुए। शरीर, मन, आत्मा की उन्नति में ही उनकी भौतिक विजय निहित थी। जहाँ स्पार्टा ने व्यक्ति-विकास को सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन समझा, एथेंस ने व्यक्तिवाद (Individualism) पर विशेष बल दिया। ज्ञान-प्राप्ति

के बिना व्यक्तिवाद एवं सामाजिकता खिल नहीं सकती अतएव यूनानियों ने शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया। "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन" (Sound mind in a sound body) की परम्परा यूनानियों की विशद भौतिक योजना का ही प्रतिफल है। राजनीतिक शिक्षा को महानता दी गयी थी। अब हम क्रमशः यूनानी सभ्यता-सम्बन्धी विशेष तथ्यों का उद्घाटन करेंगे।

यूनानी राजनीति

§. [७] यूनानी राजनीति में पेरिक्लीज़ (Pericles) का विशेष महत्व है। उसने ३० वर्षों तक एथेंस की राजनीति को स्वर्ण-काल का गौरव प्रदान किया। उसका राजनीतिक सिद्धान्त था कि प्रत्येक नागरिक में राजनीतिक क्षमता हो, अतः इसकी प्राप्ति के लिए सभी नागरिकों को सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेना पड़ता था। प्रत्येक नागरिक को नगर-राज्य की असेम्बली में भाग लेना पड़ता था और उसे न्याय-कार्य में सच्ची अभिरुचि रखनी पड़ती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक नागरिक अपने अधिकार एवं कर्तव्य की ओर उन्मुख हो सकता था। राजनीति एवं न्याय में सभी बराबर थे, किसी व्यक्ति-विशेष की लोकप्रियता क्षम्य नहीं थी। इस विषय में एरिसटाइट की लोकप्रियता एवं उसका विरोध ऐतिहासिक हो गया है। ऐथेंसवासियों ने उसका घोर विरोध किया, क्योंकि उसकी लोकप्रियता से शासन-विधान का भविष्य अन्धकार में जा सकता था। इस प्रकार की राजनीतिक मान्यता को परोक्ष प्रजातन्त्र की उपाधि दी गयी है। इस मान्यता की पूर्ति के लिए समुचित शिक्षा की योजना अनिवार्य थी। पेरिक्लीज़ ने शिक्षा की सुन्दर योजनाएँ प्रस्तुत कराईं और प्रत्येक नागरिक को व्यवहार-कुशल एवं देश-भक्त होने में राजकीय सहयोग दिया। देश-भक्ति की उमड़ती सरिता की बाढ़ में ही ईरानी जहाजी बेड़े बह गए, नहीं तो कहाँ ईरान की विशाल सेना और कहाँ

एथेंस की प्रजातान्त्रिक परम्परा, पेरिक्लीज़



चित्र १४—ऋषि सुकरात

(देखिए पृष्ठ १०७—८)



चित्र १५—ऋषि अरस्तु

(देखिए पृष्ठ १०७—८)

मुट्ठी भर यूनानी ? यह सब ऐथेंस की राजनीतिक परम्परा की ही विशेषता थी कि यूनान आगे बढ़ सका और उसकी राजनीतिक मर्यादा इतिहास में प्रसिद्ध हो गयी।

§. [८] स्पार्टा में राजतन्त्र का बोलबाला था, वहाँ एथेंस की राजनीतिक व्यवस्था प्रतिफलित न हो सकी। हमने देख लिया है कि एथेंस में ड्रेको तथा सोलन कानूनों के निर्माता थे जिनकी प्रणालियों में ऐथेंस ने एक नवीन राजनीतिक योजना उपस्थित की थी। उसी प्रकार लाइगरस ने स्पार्टा को नयी प्रणाली दी। लाइगरस के अनुसार सामाजिक जीवन कई श्रेणियों में विभक्त था। पहली श्रेणी में विशुद्ध नागरिक थे जो अपनी शुद्ध आनुवंशिकता के लिए विख्यात थे। दूसरी श्रेणी वर्णसंकरों की थी। तीसरी श्रेणी में दासों की गणना होती थी। स्पार्टा में राज्य-सत्ता कई राजाओं के हाथ में थी जिससे एक की शक्ति अधिक बढ़ने न पावे। पहली श्रेणी में ये ही लोग आते थे। ये लोग व्यवसाय, व्यापार आदि नहीं कर सकते थे। ये भारतीय क्षत्रियों की भाँति देश-रक्षा में संलग्न रहा करते थे। जन्म के समय प्रत्येक बच्चे की शक्ति की परीक्षा ली जाती थी। निर्बल बच्चों को जीने की आशा नहीं थी, वे पर्वतों पर पटक दिए जाते थे। केवल बलिष्ठ बालक ही स्पार्टा की राजनीति-प्रणाली में फूल-फल सकते थे। स्पार्टा ने दूसरे देशों पर भी अधिकार किया था, किन्तु वह अन्य देश के वासियों से हिलता-मिलता नहीं था। उसकी नीति सदा कठोर रही और वह किसी दूसरे से कुछ ले न सका।

स्पार्टा की राजनीतिक प्रणाली

§. [९] यूनानियों ने शरीर-सौष्ठव के लिए कई योजनाएँ बना डाली थीं। खेल, मल्ल-युद्ध आदि की प्रतिद्वन्द्विताएँ हुआ करती थीं। ओलम्पी पर्वत पर इनके खेल हुआ करते थे और उसी विश्व-विश्रुत परम्परा में आज विश्व में ओलम्पिक खेल हुआ करते हैं जिनमें आज विश्व के सारे देशों के खिलाड़ी भाग लेते हैं। इन ओलम्पिक खेलों

यूनानी राष्ट्रीयता

के विजेताओं को सम्मान दिया जाता था। यूनानी राष्ट्रीयता में उन खेलों का बहुत महत्व था। यूनानी राष्ट्रीयता के उद्बोधन में होमर के महाकाव्य बड़े ही प्रेरक सिद्ध हुए। होमर यूनान में भारतीय व्यास एवं वाल्मीकि की भाँति पूजित थे। होमर की कृतियाँ स्थान-स्थान पर पढ़ी जाती थीं और यूनानियों में प्रेरणाएँ भरती थीं। वीर-भाव से प्रेरित हो नागरिक यूनानी राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहा करते थे। यूनान के कितने नाटककारों ने होमर के उपाख्यानों को नाटकीयता प्रदान की। कलाकार चित्रों, वास्तु-विद्या-विशारद मूर्तियों तथा साहित्यकार अपनी कृतियों में होमर की साहित्य-श्री को उतारते थे। यूनान में राजनीतिक विषमता थी, किन्तु सांस्कृतिकता के कारण सभी यूनानी एक थे अतः यूनान की राष्ट्रीयता उसके सभी स्वतन्त्र नगर-राज्यों के नागरिकों में लहरें ले रही थीं।

§. [१०] यूनान की सभ्यता की प्रखर किरणों में उससे प्रतिफलित कला, साहित्य एवं दर्शन का विश्व-इतिहास में विशिष्ट स्थान है। यूनानियों के इतिहास का जो इतना महत्व है उसमें इन्हीं भौतिकवादी वृत्तियों से उत्पन्न जीवन-सौष्ठव एवं अभिचेतनाओं का हाथ है। होमर की कृतियों का प्रभाव युगोत्तर था। उसकी साहित्यिक गरिमा तो उसके समय में विशेष महत्व रखती ही थी साथ ही साथ यूनानी साहित्यिक अभिरुचियों, राष्ट्रीयता, कलात्मक कृतियों तथा दार्शनिक विचार-धाराओं पर उसका जो प्रभाव पड़ा वह अक्षुण्ण था। युगों पश्चात् वह बड़े-बड़े यूरोपीय कलाकारों साहित्यिकों आदि के लिए प्रेरणा बना रहा। मिल्टन, दाँते तथा वर्जिल ने उससे प्रभूत चेतनाएँ एवं प्रेरणाएँ ग्रहण कीं।

यूनानी कला, साहित्य एवं दर्शन

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हरबर्ट ने होमर की कृतियों को बच्चों के पाठ्य ग्रन्थों में सर्व प्रथम स्थान देकर उसकी सांस्कृतिक महत्ता स्वीकार की है। होमर के चरित्र इस पृथ्वी के मांस-पिण्ड से बने व्यक्तित्व हैं अतः उनका व्यावहारिक महत्व यूनानी सभ्यता में विशिष्ट स्थान रखता है। इलिएड

होमर की महानता

एवं ओडिसी की गणना विश्व की महान् कृतियों में होती है। यूनानी धर्म व्यावहारिक जीवन में उतर सका, इसका श्रेय होमर की कृतियों को ही है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं के जीवन-मूल्यों की सुष्ठु प्राप्ति में यूनानी धार्मिक, कलात्मक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक कृतियाँ यूनान के जन-साधारण में भी उतर आयी थीं। होमर, हेसिएड, पिण्डार, सेफों आदि की कृतियाँ यूनानी सभ्यता की विशिष्ट देन हैं। यूनानी नाटककारों में एसकिलस, सोफोक्लीज, यूरीपाइडीज, एरिस्टोफेन आदि अपनी

नाटककार

नाटकीय प्रणाली एवं व्यावहारिकता में यूनान के आदर्शों की ही साक्षी देते हैं। दुःखान्त नाटकों के प्रणेता एसकिलस न-केवल एक नाटककार था, प्रत्युत वह योद्धा भी था और उसने सलेमिस एवं मराथान के युद्धों में भी सक्रिय भाग लिया। इन्हीं लेखकों की कृतियों की प्रेरणा के कारण कालान्तर में यूरोप के विद्वानों, लेखकों एवं चिन्तकों ने आधुनिक युग में ग्रीस की स्वतन्त्रता के लिए यूरोपवासियों को प्रेरित किया। एरिस्टोफेन ने अपने सुखान्त नाटकों से एथेंस की जनतन्त्र-प्रणाली के दोषों को स्पष्ट किया। एथेंस के दो प्रसिद्ध इतिहासकार हिरोडोटस एवं थुसीडाइडस विश्व के प्रसिद्ध इतिहासकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन इतिहासकारों ने पक्षपात से दूर अपने इतिहास की परम्पराओं का भली-भाँति दिग्दर्शन कराया है। इन इतिहासकारों ने अपने सुझाव भी दिये हैं।

यूनानी विचार-धाराओं एवं उनसे उत्पन्न प्रणालियों का उत्तर था एक महान् व्यक्तित्व सुकरात जिसने एथेंस की अज्ञानता एवं अंधविश्वास

सुकरात

को दूर करने में अपना विश्व-विश्रुत बलिदान कर दिया और सदा के लिए अपने को अमर कर दिया। उनकी तर्क-प्रणाली विचित्र थी। वे किसी भी विचार-धारा को स्वीकार करने के पूर्व उसे अपने तर्क की कसौटी पर कसते थे। बहुत-से युवक उनकी प्रणाली से विमोहित हो उठे। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुदार एवं अन्धविश्वासी व्यक्ति उनके विरुद्ध हो गए और कहने लगे कि सुकरात आने वाली

पीढ़ियों को पथ-भ्रष्ट कर रहा है। सुकरात को विष-प्रयोग से मरने की आज्ञा हुई और वे सत्य की आराधना में मर कर अमर हो गए। उन्होंने कहा, "मैं सत्यान्वेषण नहीं छोड़ सकता, मैं मृत्यु को नहीं जानता, मैं यही जानता हूँ कि सत्य की पहुँच के लिए सब से सुन्दर मार्ग क्या है और मैं मरणपर्यन्त अपने मार्ग से विचलित नहीं हूँगा।"

सुकरात के उपरान्त उनके शिष्य प्लेटो (अफलातून) ने अपने गुरु की प्रणाली को यथावत् रखा। वे भी प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने

प्लेटो

प्रजातन्त्रवाद पर एक पुस्तक (Republic) लिख कर अपने को अमर कर दिया है। उन्होंने लोकमत में दार्शनिक वर्ग को सर्वोपरि स्थान दिया है। उनका कहना है कि राज्य का प्रधान कर्तव्य न्याय-सम्पादन है और यह दुष्कर कार्य केवल संयत एवं शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही सम्भव है। इस विषय में वे अपने गुरु सुकरात से आगे थे। उन्होंने एक नयी पुस्तक 'कानून' (Laws) में न्याय-विधान को एक नयी दिशा दी। उनकी शिक्षा-प्रणाली उनकी दार्शनिक विचार-धारा पर ही आधारित है।

सुकरात एवं प्लेटो की दार्शनिक परम्परा में ही प्लेटो के शिष्य अरिस्टाटिल (अरस्तू) हुए। उन्होंने भी अपने विकट पाण्डित्य का

अरस्तू

प्रदर्शन राजनीति, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र, विज्ञान एवं साहित्य के सुष्ठु विषयों पर अपनी अमर लेखनी चलाकर किया। अरिस्टाटिल एक महान् वैज्ञानिक थे, क्योंकि उनके विषयों का प्रतिपादन वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित था। वे सर्व प्रथम यूनानी थे जिसने भौतिक विज्ञान की शाखाओं पर अपने मत प्रकाशित किए। उनका ग्रन्थ 'राजनीति' (Politics) विश्व के लिए एक अद्भुत देन है। उन्होंने यूरोप का पथ-प्रदर्शन उन्नीसवीं शताब्दी तक किया। उनकी विचार-धाराएँ उच्च कक्षाओं में अब भी मनन की बातों के रूप में स्पष्ट ही हैं। अरिस्टाटिल संसार के इने-गिने विद्वानों, विचारकों, दार्शनिकों, साहित्य-शास्त्रियों में स्थान रखते हैं।

वैज्ञानिक प्रयत्न

विशुद्ध वैज्ञानिक उन्नति में भी यूनानी सभ्यता प्राचीन काल में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह उन्नति साहित्यिक एवं दार्शनिक उन्नति से किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं थी। गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, चिकित्सा आदि वैज्ञानिक विषयों में भी यूनानी पारंगत हुए। प्रसिद्ध गणितज्ञ यूक्लिड ने ज्यामिति-शास्त्र की भित्ति खड़ी की। पैथागोरस ने रेखागणित पर कई ग्रन्थ लिखे। इन दोनों गणितज्ञों की कृतियाँ सर्वथा मौलिक थीं। विज्ञान में प्रयोगात्मक प्रणाली को जन्म देने वाले हिमोक्रेटीज़ यूनान के ही थे। शल्य-चिकित्सा-शास्त्र की भी उन्नति हुई।

कलात्मक प्रयत्न

प्राचीन युग में यूनानी कला अपनी शैली की विशिष्टता रखती है। वास्तु-कला, प्रस्तर-कला तथा चित्र-कला में यूनानी अपने सारे भौतिक प्रयत्नों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए। इन कलाओं में यूनानी जीवनादर्श सुष्ठु रूप में खिल उठे। सत्यं, शिवं, सुन्दरं के जीवन-मूल्यों की अभिचेतनाएँ इन त्रिधा कलाओं में पर्याप्त उद्भावित हुईं। वास्तु-कला के क्षेत्र में अकरोपोलिस नामक पर्वत पर, जो भारत के कैलाश पर्वत के समान सम्मानार्ह है, एथीना का मन्दिर सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। फिडियास नामक कलाकार अद्वितीय हो गया है। एथीना का मन्दिर उसकी ही कला का ज्वलन्त प्रमाण है। ओलम्पिया में ज्यूस की मूर्ति भी उसकी अमर कृति है। चित्र-कला-विशेषज्ञों में प्रोटोजिनीज़ एवं ज्यूसिस की कृतियाँ अमर कही जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनान की सभ्यता उच्च कोटि की थी। इस सभ्यता ने कालान्तर में यूरोपीय सभ्यता को अनुप्राणित कर दिया। यूरोप के पुनरुद्धार के साथ यूनानी बुद्धिवाद एवं अभिचेतनाएँ पुनः विकसित हुईं और उन्होंने यूरोपीय इतिहास एवं सभ्यता पर अपने अमर चिह्न छोड़ दिए। आधुनिक यूरोप राजनीतिक, कलात्मक, साहित्यिक, दार्शनिक, सामाजिक, वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से यूनानी सभ्यता का बहुत ऋणी है।

आदि यूनान का संक्षिप्त अवलोकन

[विशिष्ट तिथियाँ, युग, स्थान, व्यक्तित्व एवं घटनाएँ]

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
३६००–१२०० ई० पू०	एजियन सभ्यता	क्रीट, क्नोसैन, मीसेनी तिरींस ट्रॉय	मिनॉस	इवान ने क्लोसस का राजभवन खोजा; श्लीमैन ने ट्रॉय, मीसेनी तथा तिरींस का पता चलाया।
११०० ई० पू०	आर्य			
ला० १५००–७०० ई०पू०	ताम्र-काल	पूर्वी भूमध्य सागर	होमरीय चरित्र (नायक-नायिकाएँ)	आयोनी कवि होमर : इलिएड एवं ओडिसी
६००–५०० ई० पू०	आततायियों तथा न्याय-व्यवस्थापकों का युग	एथेंस एवं स्पार्टा	पेइस्ट्रेटस, लाइकरगस सोलोन	आइनियन एवं डोरियन विशेषताएँ

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
४९६–४७९ ई० पू०	फारसी आक्रमण	मराथॉन, सलैमिस थर्मापोली	दारा, ज़ेरक्सीज़ : मिल्टियाड्स, थेमीस्टोक्लीज लेयोनिडास	यूनानी विजय से यूनानी प्रतिभा खिली।
४६९–३९९ ई० पू० ४६०–२९ ई० पू० ४२७–३४७ ई० पू० ३८५–३२२ ई० पू०	पेरिक्लीज़ का युग	एथेंस	सुकरात पेरिक्लीज़ प्लेटो एवं अरिस्टॉटिल	यूनानी सभ्यता का अत्युच्च युग
३५९–२३ ई० पू० ३२६ ई० पू०	मकदूनिया का उदय	मकदूनिया सिन्धु	फिलिप तथा सिकन्दर	यूनानी सभ्यता का प्रसार सिन्धु-घाटी में सिकन्दर

छठाँ अध्याय

रोम का इतिहास एवं सभ्यता

[१] रोम का इतिहास

.§. [१] गत अध्याय में हमने देखा कि यूनानी इतिहास एवं सभ्यता में बुद्धिवादी अभिचेतनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई हैं। यूनानियों ने अपनी छाप से सारे यूरोप को विमोहित किया। जहाँ यूनानी अपने बुद्धिवाद के लिए प्रसिद्ध हैं, रोमक लोग अपनी संगठन-शक्ति के लिए विख्यात हैं। रोमकों ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जो एक समय उत्तर में इङ्गलैण्ड से लेकर दक्षिण में अफ्रीका के छोर तक तथा पश्चिम में स्पेन से लेकर पूर्व में बेबीलोनिया तक विस्तृत था। रोमक लोग अपनी शासन-सुव्यवस्था तथा राजकीय गरिमा के लिए विश्व-इतिहास में अमर रहेंगे। एकतान्त्रिक अथवा साम्राज्यवादी अभिचेतनाओं के प्रवर्द्धन में रोमक लोग अद्वितीय सिद्ध हुए हैं। उनकी राजनीतिक परम्परा में सभ्यता की कई शृंखलाएँ एक सूत्र में बँधी।

पूर्वाभास

.§. [२] इसमें सन्देह नहीं कि रोमकों का ऐतिहासिक विकास प्राचीन काल में हुआ किन्तु वे यूनानियों के उपरान्त ही विशिष्टता के प्रतीक हो सके। रोमक आर्य ही थे, किन्तु उन्होंने इटली में कब अपना आसन जमाया अभी विवाद-ग्रस्त है। अनुश्रुतियों के आधार पर ई० पू० ७५३ में रोमलुस तथा रोमस ने रोम नगर की स्थापना की थी। रोमकों का जातीय ऐतिह्य ई० पू० ५०९ से आरम्भ होता है क्योंकि उसी समय रोमक प्रजातन्त्रात्मक शासन की स्थापना हुई थी। प्रजातन्त्र के पूर्व उनके देश में धनाढ्य लोगों का आधिपत्य था और उस शासन के पूर्व एकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था प्रचलित थी। यदि हम आदिकालीन रोमकों के इतिहास का

प्राचीन रोम की नगर-प्रजातान्त्रिक प्रणाली का उद्भव

परिशीलन करें तो पता चलेगा कि ईसा के एक सहस्र वर्ष पूर्व रोमक सभ्य हो चुके थे और उन्होंने राजा की कल्पना कर ली थी। राजसत्तात्मक शासन का विनाश ई० पू० ५०६ में हुआ। प्राचीन शासन-प्रणाली के स्थान पर प्रजातान्त्रिक प्रणाली ने बल पकड़ा। सीनेट सब से बड़ी सभा थी जिसके सदस्य धनी नागरिक हुआ करते थे। इसके नीचे कौंसिलें थीं जिनके सदस्य एसेम्बली द्वारा मनोनीत होते थे। स्पष्ट है, शासनाधिकार सीनेट के हाथ में था जिसमें धनाढ्य नागरिकों की ही तूती बोलती थी। क्रमशः यह व्यवस्था बिगड़ती गयी, क्योंकि धनिक लोग स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश सिद्ध हो गए। रोमकों को यह दशा जँची नहीं, उन्होंने राज्य छोड़ एक उपनिवेश की स्थापना की बात चलाई। धनिकों के कान खुले और उन्होंने कुछ सुविधाएँ उपस्थित कीं, यथा—नये-नये कानूनों का निर्माण, ऋण-क्षमा। अब सर्वसाधारण (प्लीबियन) को अपने अधिकारी (Tribune) मनोनीत करने की सुविधा मिली। कालान्तर में कुछ अन्य राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त हुए और ई० पू० ४६७ में सर्वसाधारण को अपनी कौंसिल के निर्माण के अधिकार मिले। अब धनिक और सर्वसाधारण का विभेद दूर कर दिया गया। ई० पू० ४५० में न्याय-संहिता बनी जो अस्तों के पत्रों पर उत्कीर्ण कर दी गयी। कानूनों का सम्मान बढ़ा। इस विषय में रोमकों ने यूनानियों से आगे जाने का प्रयत्न किया, क्योंकि नागरिक सम्पत्ति एवं जीवन-रक्षा-सम्बन्धी कानून बने, न्यायालय स्थापित हुए जिसमें आपसी झगड़ों का निर्णय होने लगा। दीवानी एवं फौजदारी विषयों के निर्णयार्थ पृथक्-पृथक् कानूनों का निर्माण हुआ। यह रोमकों की ही देन है जो सम्पूर्ण यूरोप में फैल गयी। आज भारतवर्ष में भी इसी की प्रथा है जो अंग्रेजों द्वारा यहाँ प्रचलित की गयी थी।

§. [३] आरम्भिक कालों के प्रजातान्त्रिक प्रयत्नों के फलस्वरूप रोमकों की राजनीति में बड़ा परिवर्तन हुआ। सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करनेवाली असेम्बली क्रमशः बलवती हो गयी और उसे सीनेट के अधिकार भी प्राप्त हो गए। इस सम्मिलित शक्ति से रोम में साम्राज्य-

वादी अभिचेतनाएँ जगीं और यूनानियों के सदृश रोमकों ने भी अन्य देशों को अधीनस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। सर्व प्रथम एटरुसन आदि जातियाँ निगल ली गयीं। सिसली के यूनानी अधिकारी तथा कार्थेज-निवासी रोमकों के परम शत्रु बन गए, और उन्होंने गाल (आधुनिक फ्रांस) के साथ मिल कर रोमकों का प्रबल विरोध किया, किन्तु विजय रोमकों के ही हाथ लगी। अब रोम एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में निखरने लगा। ई० पू० तीसरी शताब्दी तक मध्य इटली तथा उसके सन्निकट के देश रोम के अधीनस्थ हो गए। राजधानी रोम से सञ्चालित कार्थेज के जहाजी बेड़ों ने सिकन्दर के वंशज पिरहस को हराया। अब दक्षिणी इटली भी रोमकों के अधिकार में चली आयी। अन्त में क्रमशः रोमक समस्त भूमध्यसागरीय प्रदेशों के स्वामी बन बैठे। रोमकों को अपने मित्र कार्थेजों से भी युद्ध करना पड़ा था क्योंकि वे कालान्तर में सम्भल गए थे। कार्थेज में भी प्रजातन्त्र राज्य था। दोनों प्रजातान्त्रिक शक्तियों के युद्धों को 'प्यूनिक' युद्ध कहते हैं। स्पेन से लेकर यूनान तक रोमक साम्राज्य विस्तृत हो गया। अब रोमकों को दूर-दूर से अन्न एवं कर प्राप्त होने लगे; किन्तु इससे केवल धनिक वर्ग का ही अधिक लाभ हुआ। सर्वसाधारण जनता युद्धों के परिणामों को भोगती रही। धनिकों ने अपने मनोविनोदों से निर्धनों को फँसा रखा। क्या दयनीय दशा समाज की हो गयी! दासों के अखाड़ों में मल्ल-युद्ध होते थे। घायल व्यक्तियों की दुर्दशा होती थी। मृतक व्यक्ति को एक हुक से उठा कर दूर फेंक दिया जाता था और दूसरा दल मल्ल-युद्ध में प्रेरित हो आता था। यह था तत्कालीन साम्राज्यवादी रोमकों का अमानुषिक व्यवहार जिसे पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। चारों ओर घूस और बेईमानी की तूती बोलती थी। रोमक नाविक भूमध्य सागर में लूट-खसोट करते थे। ऐसा क्यों न हो, जब शासक ही ऐसे थे! इटली का शासक वेरस महान् पातकी था। उसने प्रजा-जीवन को भारी-भारी करों से बोझिल कर दिया और

साम्राज्यवाद का उद्भव

धनिकों के धन को बलपूर्वक हड़पना आरम्भ कर दिया। धनिकों के घर से जिस किसी अनमोल वस्तु; यथा—सोने, चाँदी या हाथी दाँत के बर्तन आभूषणादि पर दृष्टि पड़ी उसे ले लेना उसके बाएँ हाथ का खेल था। किन्तु इस प्रकार की अन्यायपूर्ण कृतियों का बहुत दिनों तक चलना सम्भव नहीं था। रोमकों में समझदार भी थे। क्रमशः सीज़र, केशिएस तथा पाम्पी ऐसे सेनापतियों में चेतनाएँ फूँटीं और जनता ने करवटें लीं। किन्तु इन तीनों सेनापतियों में भी संघर्ष आरम्भ हो ही गया। पाम्पी और सीज़र तो बहुत दिनों तक आपसी युद्ध में लगे रहे। दोनों की शक्ति सीनेट के ऊपर हो गयी। अन्त में सीज़र विजयी हुआ और प्रमुख रोमक हुआ। उसकी बढ़ती शक्ति से सीनेट ने उसे अपना अभिनायक चुना। किन्तु हाय रे मानव की महत्वाकांक्षा! रोमकों की परम्परा तो प्रजातान्त्रिक थी। ब्रूटस ने सीज़र का बध कर डाला और यह कृत्य सीनेट-भवन के समक्ष ही हुआ। इस मार्मिक कथा को महान् नाटककार शेक्सपीयर ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'सीज़र' में लिखा है।

§. [४] सीज़र का बध साम्राज्यवाद की जीत होकर रहा। उसका दत्तक पुत्र आक्टेवियन प्रमुख शासक (प्रिंसेप) बन गया। वह इतिहास में आगस्टस सीज़र के नाम से विख्यात है। उसने ई० पू० २१ से १४ तक राज्य किया और इतिहास में अमर हो गया। उसके शासन-काल से रोम में वास्तविक साम्राज्यवाद की परम्पराएँ बढ़ीं। यह साम्राज्यवाद लगभग पाँच शताब्दियों (ई० पू० २१ से ४७६ ई०) तक चलता रहा। सम्राट् ट्राजन के शासन में रोमकों का साम्राज्य सब से अधिक प्रशस्त था और वह १८० ई० तक गौरवपूर्ण रहा। मार्कस आरिलिएस सन् १८० ई० तक रोमक सम्राट् था। किन्तु कालान्तर में युद्ध-विग्रह के बादल रोमक साम्राज्य के विस्तृत आकाश में मँडराने लगे। कान्स्टेंटाइन महान् ने युद्धों का अन्त किया और उसने रोम के स्थान पर कुस्तुन्तुनिया (Constantinople) को

साम्राज्यवाद का उत्कर्ष

अपनी राजधानी बनाया। अब रोमक साम्राज्य के दो अङ्ग हो गये : पूर्वी एवं पश्चिमी साम्राज्य। पश्चिमी भाग की राजधानी थी रोम और पूर्वी भाग की कुस्तुन्तुनिया। किन्तु युगों के पश्चात् सन् १४५३ ई० में तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार रोमक साम्राज्य का विनाश हो गया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रोमक साम्राज्य लगभग ५०० वर्षों तक चलता रहा। इस बीच में आगस्टस के निर्बल उत्तराधिकारी १०० वर्षों तक शासन करते रहे। ईसा की दूसरी शताब्दी में अपेक्षाकृत कुछ योग्य एवं सबल शासक हुए जिन्होंने साम्राज्य को बढ़ाया एवं शक्ति स्थापित की। किन्तु मारकस आर्लिएस की मृत्यु के उपरान्त सन् १८० ई० में रोम का पतन आरम्भ हो गया था।

§. [५] ऊपर हमने, बहुत ही संक्षेप में, रोम के राजनीतिक इतिहास का पर्यवेक्षण किया। हमने देखा कि नगर-राज्य से लेकर उच्च जन-तन्त्र, जनतन्त्र तथा साम्राज्यवाद की क्रमशः स्थापनाएँ हुईं और भाँति-भाँति के राजनीतिक प्रयत्न चलते रहे।

साम्राज्यवादी रोम में राजा का स्थान

रोमक शासन की मुख्य विशेषता थी सैनिक आधिपत्य और सम्भवतः यही उसकी सब से दुर्बलता भी थी। युद्ध ही उत्तराधिकारी का निर्णय करता था। योग्य शासक की मृत्यु के पश्चात् अयोग्य उत्तराधिकारी टिक नहीं सकता था। उत्तराधिकार के युद्ध में जो विजयी होता था वही शासक नियुक्त हो जाता था। किन्तु रोमक लोग अपने शासक को देवता की भाँति पूजते थे। राजाओं की मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित होती थीं। जो लोग उनकी पूजा नहीं करते थे उन्हें दण्ड मिलता था। ईसाई धर्माव-लम्बियों ने राजा की पूजा नहीं की। विश्व-इतिहास जानता है कि शान्ति-दूत ईसा मसीह को इसलिए सूली दी गयी कि उन्होंने रोमक सम्राट् की पूजा करने में अपनी घोर असहमति घोषित की थी। राज्य-धर्म सम्राट्-पूजा में निहित था और जो इस नियम के विरुद्ध जाता था उसे विद्रोही समझा जाता था। यह था रोमक साम्राज्यवाद का सब से गर्हित स्वरूप जो कालान्तर में उसके विनाश का कारण बना।

§. [६] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रोमक साम्राज्य के अधःपतन में उसकी नीति थी। (१) सैनिक शासन बहुत दिनों तक नहीं टिक सकता, क्योंकि इससे दमन का बोलबाला आरम्भ हो जाता है तथा अमानुषिक अत्याचार होने लगते हैं। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की कहावत के अनुसार रोमकों में वही शासक होता था जो गृह-कलह एवं उत्तराधिकार के युद्धों में सफल होता था। इस प्रकार स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता की प्रेरणाएँ बलवती होती जाती थीं। रोमक शासक सेना की कृपा पर स्थिर रहते थे अतः उसे धन देना पड़ता था। और यह धन आए कहाँ से? जनता के पसीने की गाढ़ी कमाई इस प्रकार शासकों के अभ्युत्थान में स्वाहा हो जाती थी। अतः रोम के साम्राज्य के पतन का पहला कारण था लोकमत के विरुद्ध सैनिक शासन-व्यवस्था। (२) दूसरा कारण था दास की प्रथा। दास-प्रथा से रोमक समाज गौरवपूर्ण न हो सका। दासों के क्रय के लिए व्यापारी नियत थे। दूर-दूर देशों से तथा विजित राष्ट्रों से दास लाये जाते थे। डेलोस का टापू दास-व्यापार के लिये प्रसिद्ध था। इन दासों पर अमानुषिक अत्याचार होते थे। उन्हें धनिकों एवं सम्राटों की निकृष्ट से निकृष्ट सेवाएँ करनी पड़ती थीं और उनके मनोविनोद के लिए अपने प्राणों की बलि देनी पड़ती थी। अखाड़ों में उन्हें मरण-खेल करने पड़ते थे। एक बार इन दासों ने अपनी मुक्ति के लिए युद्ध भी किया था, किन्तु उन्हें पुनः कुचल डाला गया। इस बर्बरता के कारण रोमक सभ्यता क्रमशः अधःपतित हो गयी, क्योंकि रोमकों में जीवन-विलास की मात्राएँ अधिकाधिक बढ़ गयीं। (३) तीसरा कारण था रोमकों की चरित्र-भ्रष्टता जो उनके जीवन के प्रत्येक पहलू से टपकती थी। समाज में दो ही वर्ग थे। एक धनिक तथा दूसरा दरिद्र। न्याय के अनुसार एक व्यक्ति को अपने वंश का ही व्यवसाय करना पड़ता था। सम्पूर्ण साम्राज्य एक बन्दीगृह के समान था जहाँ प्रत्येक व्यक्ति बँधी परम्परा में ही घूम-फिर सकता था। रोमक विवाह-प्रथा बड़ी दूषित थी।

रोमक साम्राज्य के अधःपतन के कारण

वैवाहिक ढंग से सन्तानोत्पत्ति अभिशापमय था। विशुद्ध रोमकों की संख्या न्यून होने लगी और दास-दासियों की संख्या में बढ़ती! साम्राज्यवादी वैभव के भीतर सामाजिक आख्यान कलुषपूर्ण अक्षरों से लिखे जा रहे थे। भोग-विलास से समाज खोखला होता चला गया। नवजात शिशुओं की हत्या करना एक साधारण बात थी। इस विषय में हम रोमकों की तुलना भारत एवं चीन से कर सकते हैं। भारत एवं चीन की सभ्यता अपने गौरवपूर्ण आख्यानों के साथ आज तक विद्यमान है और रोमक सभ्यता कालकवलित हो गयी।

[२] रोमक सभ्यता

§. [७] आदिकालीन यूरोप की सभ्यता के विकास में यूनान एवं रोम का विशिष्ट हाथ रहा है। यूनान की देन के विषय में हमने गत अध्याय में पढ़ लिया है। रोमक लोग, जैसा कि हम गत प्रकरणों में देख चुके हैं, राजकीय ऐश्वर्य के पीछे पड़े थे। अतः यूनानियों के समान साहित्य-श्री, कला-प्रेम आदि व्यापक जीवन की प्रेरणाएं न ग्रहण कर सके, तथापि उनकी अपनी विशिष्टताएँ हैं ही। आगस्टस के राजत्व-काल (ई० पू० ३१—१४ ई०) में विश्व-विख्यात वर्जिल तथा होरेस की अमर कृतियाँ प्रकाश में आईं। वर्जिल की एनीड एक महान् ग्रन्थ है। रोमक साहित्य के अन्य अद्वितीय प्रतिभाशाली लेखक हैं सिसरो, सीज़र, लिवी, ओविड, ल्यूक्रीटस आदि। जिस शताब्दी में ये लेखक उदित हुए वह इटली के इतिहास में स्वर्ण युग का परिचायक है। यह शताब्दी ईसा पश्चात् प्रथम शताब्दी है। इस युग में रोम का प्रजातन्त्र साम्राज्यवाद में परिणत हुआ और यरूजलम में एक नये धर्म का उद्भव हुआ जो विश्व में ईसाई धर्म के नाम से विश्रुत है। रोमकों का साहित्य सर्वांगीण था; उन्होंने ऐसे साहित्यिकों को जन्म दिया जिन्होंने जीवन के सभी विशिष्ट अंगों पर प्रकाश डाला। लैटिन भाषा का निर्माता सिसरो ही कहा जाता है। सिसरो एक महान्

साहित्यिक अभिचेतनाएँ

वक्ता एवं निबन्ध-लेखक था। जूलियस सीज़र अपनी अनूठी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध है। रोमक सभ्यता के अन्तिम युग के इतिहासकारों में टेसिटस अति प्रसिद्ध हैं। प्रसिद्ध लेखक प्लूटार्क उसका समकालीन ही था। प्लूटार्क की कृतियाँ यूनानी भाषा में हैं, किन्तु उसने रोमक इतिहास पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला। रोमकों ने उसके सम्मान में उसकी एक विशाल मूर्ति निर्मित करायी और यह उत्कीर्ण कराया कि प्लूटार्क ने यद्यपि यूनानी भाषा में लिखा, किन्तु उसने अपनी कृतियों में रोमकों का ही वर्णन किया, अतः वह रोम के साहित्याकाश में पूज-नीय है। सिरेका तथा ऑरिलियस अपने दार्शनिक विचारों के लिए सम्पूज्य हैं। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री क्विण्टीलिएन रोमक ही था। उसने शिक्षा के ध्येय, प्रणाली एवं सिद्धान्तों पर जो प्रकाश डाला वह आज तक प्रसिद्ध है। ल्यूक्रीटस ने अपनी कृतियों में वैज्ञानिक आविष्कारों पर प्रकाश डाला।

कला-कौशल

§. [८] कला के क्षेत्र में रोमकों ने कोई विशिष्टता न प्रकट की किन्तु उनके पास जो है वह पुष्ट है। सम्राट् टाइटस (७९—८१ ई०) के राजत्व-काल में पाम्पी का प्रसिद्ध कलात्मक नगर प्रसिद्ध विसुवियस ज्वालामुखी के मुख में चला गया। पाम्पी (पाम्पाई) के भग्नावशेष रोमकों की वास्तु-कला, चित्र-कला, उद्यान-कला आदि पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। रोमकों ने सड़कों का निर्माण कराके अपने को इस विषय में प्रसिद्ध कर दिया। दूर-दूर देशों को एक दूसरे से सड़कों द्वारा मिला दिया गया था। ये सड़कें बड़ी ही उपयोगी थीं। सेना, युद्ध-सामग्री, यातायात के लिए ये सड़कें बड़ी सहायक सिद्ध हुईं। ये सड़कें अपने विश्रामालय तथा कर्मचारियों के अधिष्ठान, कार्यालय आदि के लिए प्रसिद्ध थीं। इन सड़कों पर बने बड़े-बड़े विश्रामालय या कार्यालय कालान्तर में बड़े-बड़े नगरों में परिवर्तित हो गए। इंगलैण्ड में सबसे पहले सड़कों का निर्माण रोमकों ने ही कराया था।

§. [९] रोमकों के इतिहास के परिशीलन में हमने लिख दिया

है कि उनके इतिहास की एक प्रमुख विशेषता है कानूनों का संग्रह। रोमकों की यह एक विशिष्ट देन है। फौजदारी एवं दीवानी के पृथक्-पृथक् कानून निर्मित हुए जो अन्त में परिवर्तित रूप में विश्व के लिए उदाहरणस्वरूप हो गए। सम्राट् जस्टिनिएन (सन् ५२७–५६५ ई०) ने कानूनों की संहिता उपस्थित करायी। इस कानूनी संहिता का यूरोप में बहुत ही प्रचलन हुआ। बाइबिल के पश्चात् इसी पुस्तक ने यूरोपीय मन को विमोहित किया। इस संहिता में वैयक्तिक सम्पत्ति, उत्तराधिकार, कौटुम्बिक अधिकार आदि बड़ी सुन्दरता से विश्लेषित हुए हैं। वास्तव में, जस्टिनिएन ने अपने को व्यावहारिक न्यायालयों में अमर कर दिया है।

रोमकों के कानून

§. [१०] रोमक राजनीतिक इतिहास के अध्ययन के सिलसिले में हमने रोमक शासन-पद्धति का भी यथा-स्थान सूक्ष्म विवेचन कर दिया है। रोमकों ने राजकीय पद्धतियों में कई प्रकार के प्रयत्न किए हैं। एकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था से क्रमशः उच्चजन-शासन की परम्पराएँ फूटीं, और धनाढ्य लोगों का प्राबल्य बढ़ा। पुनः प्रजातन्त्रवादी प्रवृत्तियाँ फूलीं। किन्तु कालान्तर में साम्राज्यवादी लहरों में प्रजातन्त्रवाद की उन्मुखता लुप्त गयी। इन प्रणालियों में रोमक सैनिक प्रणाली यथावत् बनी रही। रोमक सेनाएँ दूर-दूर देशों में जाती थीं और वहाँ अपने ढंग की शासन-प्रणाली स्थापित करती थीं। इंगलैण्ड, बेबीलोनिया आदि देशों में रोमक सैनिक प्रणाली पर ही आधारित रोमक साम्राज्यवादी चेतनाएँ प्रसरित हुईं। यद्यपि रोम में एक प्रकार की युगों तक बहने वाली अराजकता चलती रही, किन्तु अधीनस्थ देशों में "रोमक शान्ति" विराजमान रही। रोमकों ने विश्व के समक्ष एक उदाहरण रखा कि किस प्रकार अन्य देशों की भिन्न-भिन्न परम्पराओं में रोमक कानून व्यावहारिक रूप में प्रचलित हो सकते हैं। अन्य देशों में रोमकों ने नागरिकता के क्षेत्र को प्रशस्त

रोमक शासन-व्यवस्था

रखा। यह बात क्योंकर हो सकी? बात यह थी कि बाह्य राज्यों में असंतोष गूँजने लगा। और साम्राज्य तभी टिक सकता है जब कि अधीनस्थ देश में शान्ति विराजमान रहे। इस शान्ति के लिए यह आवश्यक था कि वहाँ के लोगों को राजनीतिक अधिकार दिये जायँ। इतिहासकार इसे 'रोमक बुद्धिमानी' की संज्ञा देते हैं। किन्तु रोमकों ने अपने को बुरी-बुरी प्रथाओं में पीस डाला। उनके अधःपतन में दास-प्रथा घुन का काम कर रही थी। धनिकों का निर्धन जनता पर अत्याचार होता रहा और उसे रोमक सैनिक प्रणाली दबा नहीं सकती थी, क्योंकि सम्राट् स्वयं सेना पर निर्भर करता था और उसे धन देकर सन्तुष्ट रखता था। इन्हीं कारणों से, जैसा कि हमने प्रकरण .§. ६ में पढ़ लिया है, रोमक सभ्यता अधःपतन के गड्ढे में उतरती चली गयी।

.§. [११] रोमक साम्राज्य अति विस्तृत था और उसमें कई प्रकार के धर्म फूल-फल रहे थे। कालान्तर में ईसाई धर्म की प्रबलता बढ़ी।

रोमक साम्राज्य में ईसाई धर्म

आरम्भ में रोमक ईसाई धर्म के विरोधी थे और कई शताब्दियों तक उस धर्म पर अत्याचार के कुटिल बाण चला रहे थे। ऐसा क्यों न हो, जब कि रोम के प्रान्तीय शासक की आज्ञा से ही शांति-दूत ईसा मसीह का बलिदान किया गया था? किन्तु कालान्तर में प्रतिक्रिया हुई। सम्राट् कांस्टेण्टाइन ने ईसाई धर्म ग्रहण किया और उसे राज्य-धर्म का स्थान दे मान्यता दे दी। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण रोमक साम्राज्य में ईसाई धर्म फैल गया। रोम का पोप अन्त में ईसाई धर्म का प्रमुख समझा जाने लगा। इस धर्म के अभ्युत्थान से यूरोप की सभ्यता को नयी-नयी अभिचेतनाएँ प्राप्त होती चली गयीं। ग्रिगोरी नामक पोप ने ही इङ्गलैण्ड में ईसाई धर्म का प्रचार कराया। उन असभ्य एवं बर्बर जातियों में जहाँ पर रोमक प्रभाव था ईसाई धर्म की शान्तिदायिनी भावनाएँ बढ़ने लगीं। रोमक सभ्यता में ईसाई धर्म का एक प्रमुख स्थान है।

परिशिष्ट

विश्व के लिए यूनानी एवं रोमक सभ्यताओं की देन

यूनानी देन

§. [१] यूनानी सभ्यता विश्व-इतिहास एवं सभ्यता में अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। आज का यूरोप बहुत अंशों में यूनान का ऋणी है। एक समय ऐसा था जब कि पश्चिमी विद्वान् विश्व की सभ्यता के सारे नियामकों को यूनानी रंग से रंगे एवं अनुप्राणित समझते थे। इसका कारण था यूनानी सभ्यता के विशिष्ट अंगों का यूरोपीय समाज, साहित्य, कला, विज्ञान आदि पर अमिट प्रभाव।

यूनानियों ने जनतन्त्रवाद को नागरिक उन्नति का सब से उत्तम साधन उद्घोषित किया। आज का जनतन्त्रवाद यद्यपि परिवर्तित, संशोधित एवं परिवर्द्धित है किन्तु इससे यह तो सिद्ध ही है कि आधुनिक विश्व में यूनानी अभिचेतनाएँ अब भी विद्यमान् हैं। यूनानियों ने व्यक्ति एवं राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या का समाधान किया। उनके दार्शनिकों एवं विचारकों ने बुद्धिवाद, प्रजातन्त्रवाद, क्रमिक विकास, साम्यवाद आदि विश्वजनीन समस्याओं पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला। यूनानियों ने इन व्यापक समस्याओं के समाधानों को व्यावहारिक रूप में देखना चाहा। यह यूनानियों के बुद्धिवाद का ही परिणाम था कि नागरिक स्वाधीनता की मान्यता का प्रश्न एक समाधान हो कर रह गया। यूनानी सभ्यता की सब से बड़ी देन है नागरिक स्वतन्त्रता एवं नियमानुमोदित शासन की व्यवस्था। रोमक सभ्यता में राजनीतिक आदर्श आज्ञा-पालन था तो यूनानी सभ्यता में वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। दोनों सभ्यताओं के मूल में कुछ वैभिन्य था ही, क्योंकि रोमक साम्राज्यवादी थे और यूनानी जनतान्त्रिक। अस्तु, यूनानी एवं रोमक राजनीतिक देन वर्तमान युग में अब भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है ही। राज्य एवं व्यक्ति, अधिकार एवं कर्तव्य, समाज एवं व्यक्ति आदि समस्याएँ अब भी समाधानहीन अवश्य हैं

किन्तु इस विषय में यूनानी एवं रोमक संकेत एवं निर्देश स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं।

जब सिकन्दर ने साम्राज्यवादी प्रेरणा से बाह्य विजएँ कीं तो यूनानी सभ्यता का प्रसार होने लगा और सिकन्दरिया ऐसे कई नगर बसे जो कालान्तर में यूनानी सभ्यता के केन्द्र हो गए। क्रमशः यूनानी साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन, राजनीति आदि का प्रसार हुआ। इतिहास में यह सभ्यता-प्रचार "हैलनवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। यूरोपीय देश हैलन (यूनान) के बहुत ही ऋणी हैं। यूनानियों के भौतिक आदर्श थे बुद्धिवाद एवं सरल व्यावहारिकता से अभिसिंचित विचार।

आज के युग में सुकरात, प्लेटो, अरिस्टॉटिल को कौन नहीं जानता? ये विचारक विश्व की अक्षय सम्पत्ति हैं। इनकी उद्बोधिनी विचार-धाराओं ने सभी प्रबुद्ध व्यक्तियों के मनों को विमोहित किया है। यूनानी नाटक, कला, कौशल, वास्तु-विद्या, प्रस्तर-विद्या, ज्योतिष, गणित तथा दर्शन आदि ने न-केवल यूरोप को ही अपना ऋणी बनाया, प्रत्युत एशिया के बहुत से राष्ट्र भी उनसे प्रभावित हुए।

§. [२] गत प्रकरण में हमने देखा कि यूनान की सबसे बड़ी देन थी नागरिक स्वतन्त्रता एवं नियमानुमोदित शासन की स्थापना।

रोमक देन

रोमक सभ्यता ने अपने राजनीतिक आदर्शों में आज्ञापालन को प्रमुख रखा। यही आज्ञापालन आज की अधिनायकवादी, नादिरशाही या सर्वतन्त्रस्वतन्त्रवादी राजनीतिक प्रेरणाओं में समाहित है। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन की राजकीय प्रवृत्तियाँ आज्ञापालन की निर्विघ्न व्यवस्था ही पर तो आधारित समझी जाती थीं अथवा हैं! रोमकों ने सिखाया कि असंगठित स्वाधीनता अभिशाप है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व नियमानुमोदित विकास अनिवार्य है, ऐसा रोमकों ने कहा। वास्तव में, इस विषय में यूनानी एवं रोमक एकांगी बातें करते हैं, क्योंकि अधिकार एवं कर्तव्य तो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रखते हैं अतः

स्वाधीनता एवं आज्ञापालन को तो साथ-साथ चलना चाहिए। तथापि रोमकों को श्रेय मिलना ही चाहिए क्योंकि उन्होंने आज्ञापालन की मान्यता को मानकर राजनीतिक उच्छृङ्खलता को रोकने में सराहनीय कार्य किया। रोमकों ने सिद्ध किया कि विश्व एक है अतः सभी देशों को एक सूत्र में बँधना चाहिए। उनका साम्राज्यवाद इसी मान्यता पर आधारित था। रोमकों का यह आदर्श प्रतिफलित भी हुआ और विश्व-सभ्यता-विकास में उनका अपना पृथक् स्थान है। रोमकों ने कानून दिए और सिद्ध किया कि कानून की दृष्टि बड़ी व्यापक होती है, क्योंकि उसके लिए सभी बराबर हैं।

रोमक सभ्यता ने यूनानी सभ्यता को अक्षुण्ण रखने में बड़ा ही श्लाघनीय कार्य किया। रोमकों ने यूनानी सभ्यता के बुद्धिवाद एवं आदर्शवाद को सुरक्षित रखा और उन्हें अपनी सक्रियता से अनुप्राणित किया। आज की यूरोपीय सभ्यता में जो निर्माण, विकास एवं उन्नति के साधन एकत्र हो सके हैं उनमें यूनानी एवं रोमकों की देन स्पष्ट है। अब तो सारा विश्व इन सभ्यताओं को पढ़ता एवं जानता है। रोमकों का एक सबसे बड़ा ऋण यही है कि उनके शासन में यूनानी सभ्यता का नाश नहीं हुआ।

आदि रोम का संक्षिप्त अवलोकन

[विशिष्ट तिथियाँ, युग, स्थान, व्यक्तित्व एवं घटनाएँ]

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
१,००० ई० पू०	इट्रस्कन	इट्रूरिया		इटैली की प्रागैतिहासिक सभ्यता
७५३ ई० पू०	अनुश्रुतियाँ	रोम	रोमूलस एवं रेमस	रोम के प्रस्थापक ।
५०९ ई० पू०	प्रजातन्त्रवादी युग			अधिकार-प्राप्ति में प्लेबिएनों के उद्योग
४९४ ई० पू०				
४५१ ई० पू०				
३६७ ई० पू०				लिसिनियन कानून
४०५–३९५ ई० पू०	विजय	इट्रूरिया		वील का घेरा
३४०–२९० ई० पू०				सम्नाइटी युद्ध
२६४–१४६ ई० पू०		कार्थेज सिसली, कार्सिका, सार्डिनिया	हन्निबल	तीनों प्यूनिक् युद्ध फोनिसियनों की पराजय
२१६ ई० पू०		कन्नी	स्किपियो आफिकैनस फेबिएस	हैन्निबल ने रोमकों को मारा-काटा ।
२०२ ई० पू०		ज़ामा		हैन्निबल की पराजय
१४६ ई० पू०		कार्थेज		कार्थेज का नाश ।

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
१९७–३० ई० पू०	पूर्वी विजय	मकदूनिया, कोरिंथ पर्गैमिस, क्रीट, साइप्रस, सीरिया एवं मिश्र		ये सभी रोमक साम्राज्य में आ गए
१५४–१३३ ई० पू०	पश्चिमी एवं उत्तरी विजय	स्पेन	जूलिएस सीजर	
८१ ई० पू०		गाल (फ्रांस)		
५८–५० ई० पू०		ब्रिटेन		
१३३–१२३ ई० पू०	सुधार	रोम	तिबेरियस एवं गाइस ग्रच्चुस	
९१–८८ ई० पू०	सामाजिकयुद्ध	रोम	मेरिएस एवं सुल्ला	आतंक-राज्य
८७–८२ ई० पू०			पाम्पे	
७३–७१ ई० पू०	ग्लैडिएटर-युद्ध			
६० ई० पू०	प्रथम त्रिम्विरेट		क्रैसस, सीजर	
४८ ई० पू०		फार्सेलस		सीजर पाम्पे को हराकर तानाशाह बना

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
४२ ई० पू०	द्वितीय त्रिम्विरेट	फिलिप्पी एक्टिएम	आक्टेविएन ब्रूटस कैसिएस	आक्टैविएन, अएटोनी क्लियोपैट्रा
३१ ई० पू०—१४ ई०	आगस्टस का युग			
१४—३७ ई०			तिबेरिएस	आक्टैविएन का उत्तराधिकारी
३७—६८ ई०			कैलिगुल, एवं नेरो	आततायी सम्राट्
९८—१३८ ई०			ट्राजन एवं हैड्रियन	योद्धा
१६१—१८० ई०			मार्कस आरिलिएस	महान दार्शनिक
२११—१७ ई०			करकल्ला	प्रान्तीय रोमक नागरिकता की छूट
२८४—३०५ ई०			डायोक्लेटिएन	एकांत्रिक शासनको सँभालने का अन्तिम प्रयत्न
३०६—३७ ई०			कँस्टेएटाइन	प्रथम ईसाई रोमक सम्राट्
३९० ई० पू०	असभ्य लोग	रोम		गालों का प्रथम आक्रमण
१०१ ई० पू०			मेरिएस	गालों को इटैली से बाहर किया

तिथियाँ	युग	स्थान	व्यक्तित्व	घटनाएँ
५८–५१ ई० पू०			जूलिएस सीज़र	गालों से युद्ध
२७०–७५ ई०	वैण्डल एवं गोथ लोग	डैन्यूब	ऑरिलिएन	वैण्डलों एवं गोथों को डैन्यूब के बाहर किया
३०६–३७ ई०		वैज़ांटिएम = कुस्तुन्तुनिया	कैंस्टैंटाइन	एशिआई आक्रमणों को रोका
३७६–६५ ई०			थियोडोरिक	
४१० ई०	गोथ	रोम	एलैरिक	रोम का घेरा
४५२ ई०	हूण		एट्टिला	रोम का घेरा
४७६ ई०			ओडोआकर	पश्चिमी रोमक साम्राज्य का अन्त

सातवाँ अध्याय

विश्व को आदि भारत की देन

[Contributions of Ancient India to the world]

§. [१] विश्व के इतिहास एवं सभ्यता के विकास में भारतवर्ष का इतिहास एवं उसकी सभ्यता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यूनान एवं रोम की सभ्यताएँ समय के गर्भ में ही विलीन हो गयीं, किन्तु भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति आज तक अक्षुण्ण रही हैं। इसका क्या कारण है? भारतीयता जिन वस्तुओं एवं कृतियों से भारतीयता है वे आदिकाल से ही चली आ रही हैं।

पूर्वाभास

भारतीय जीवन सतत प्रवाहित रहा, उसमें प्रगतिशीलता के कारण कभी सड़ाँध नहीं आयी, यदि ऐसा हुआ होता तो हम भारतीय सब कुछ खो बैठते और आज हमारी सभी सांस्कृतिक वस्तुओं का आलम्बन गुप्त हो जाता। किन्तु भाग्यवश ऐसा हुआ नहीं। नियति एवं काल-गति भारत की स्वर्णभूमि में अति कठोर न हो सकी। यों तो भारत में बड़े-बड़े राजनीतिक विप्लव हुए; आर्यकालीन राजनीतिक स्थितियों में कालान्तर में पृथ्वी और आकाश का अन्तर पड़ गया और बड़े-बड़े परिवर्तन हो गए और साम्राज्यवादी, प्रजातन्त्रवादी तथा पुनः साम्राज्यवादी भाँति-भाँति के राजनीतिक परिवर्तन, प्रयास एवं उत्क्रान्तियाँ हुईं किन्तु उनके अन्तः में निहित सभ्यता एवं संस्कृति अविच्छेद्य रूप से विद्यमान रही। आज भारत ही को यह गौरव प्राप्त है कि वह अपने को अति प्राचीन कहता हुआ, अति नवीन कह सकता है। भारतीयता के रस में अगति का व्यवधान कभी नहीं पड़ा, वह सदा गति की ओर बढ़ता प्रगतिशील रहा। धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियों में भारत सदैव अग्रगामी रहा है। हम इस अध्याय में इसी भारत की देन का संक्षिप्त विवरण उपस्थित करेंगे। किन्तु भारतीय देन

का उद्घाटन तभी सम्भव है जब कि हमें भारतीयता के विविध पहलुओं का ज्ञान हो जाय। अतः हम सर्व प्रथम संक्षेप में, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति पर प्रकाश डाल लें तो अच्छा होगा।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विशिष्ट आलेखन

§. [२] आर्यों की संस्कृति श्रुतियों में सांकेतिक ढंग से आलिखित है। वेदों तथा अन्य श्रुति-ग्रन्थों के अध्ययन एवं परिशीलन से पता चलता है कि धार्मिक क्षेत्र में आर्यों ने इतना विकास कर लिया था और इतनी गम्भीर विवेचना कर ली थी जो विशिष्ट धार्मिक साहित्य का उपकरण बन सकती थी। वेदों की ऋचाएँ सुन्दर काव्य तो हैं ही, उनमें आर्य संस्कृति के अनमोल रत्न भी निहित हैं। चारों वेद उनकी संहिताएँ, आरण्यक तथा उपनिषद् विश्व की सभ्यता के इतिहास में अपनी प्रखरता से सम्पूज्य रहेंगे। उपनिषदों में दार्शनिक अभिचेतनाएँ बहुत आगे चली गयी हैं, वे वेदों की ही परम्परा में वेदों से बहुत आगे हैं। वे ज्ञानवादी दृष्टिकोण के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

श्रुति-ग्रन्थ, वेद, संहिताएँ, आरण्यक, उपनिषद्

महाकाव्य-काल के रामायण एवं महाभारत आख्यानों एवं उपाख्यानों के साथ-साथ धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक प्रेरणाओं के गर्भित स्वरूप हैं। महाभारत तो एक विश्व-कोष है। उसमें क्या नहीं है? यूनान में जो स्थान इलियड एवं ओडिसी को है, सम्पूर्ण भारत में वही स्थान, महाभारत एवं रामायण को है।

रामायण एवं महाभारत

§. [३] महाकाव्यों के उपरान्त स्मृतियों की रचनाएँ हुईं जिनमें मनुस्मृति सर्वश्रेष्ठ है। मनु महाराज धर्मशास्त्रों के प्रारम्भिक सम्प्रयन-कर्ताओं में हैं। उनके धर्मशास्त्र में न्याय-विधान से लेकर सभी धार्मिक कृत्यों एवं सामाजिक तत्वों का विवेचन है। वे ही भारतीय कानून के

स्मृतियाँ, धर्मशास्त्र, पुराण आदि

जनक कहे जाते हैं और एथेंस के सोलोन तथा स्पार्टा के लाइगरस की भाँति श्रद्धास्पद हैं। भारतीय संस्कृति में मनु आज भी वैसे ही श्रद्धास्पद हैं। अन्य स्मृति-ग्रन्थों में याज्ञवल्क्य तथा बृहस्पति की स्मृतियाँ प्रमुख हैं। स्मृतियों के साथ १८ पुराणों की परम्पराएँ भी हैं। ये स्मृति-पुराण भारतीय संस्कृति के न-केवल पोषक हैं प्रत्युत उसके सम्वर्द्धक एवं संरक्षक हैं। स्मृतियों एवं पुराणों के अतिरिक्त अनेक निबन्ध भी हैं जो भारतीय समाज की सतत प्रवहमान गति के सूचक हैं। एक मनुस्मृति ही पर्याप्त थी, किन्तु भारतीयता अपने में संकुचित कभी न रही, अतः स्मृतियों का ताँता लगा रहा, क्योंकि समय के प्रवाह में कितनी आस्थाएँ बह जाती हैं और नवीन आग्रह उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ऐसा न हुआ होता तो, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, भारतीयता यूनानी एवं रोमक सभ्यता के समान लुप्त हो गयी होती। भारतीयता सदैव गतिशील (Dynamic) रही है।

§. [४] धार्मिक, व्यावहारिक एवं राजनीतिक ग्रन्थों के साथ-साथ भारतीयों ने अमर साहित्यिक कृतियाँ भी उपस्थित कीं। राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित कौटिल्य ने अर्थशास्त्र का प्रणयन किया जो एक

साहित्यिक कृतियाँ

ऐसी चुनौती है जिससे पाश्चात्य राजनीति के लेखकों को दंग रह जाना पड़ा है। लोग कहा करते थे "भारतीय दार्शनिकों की जाति हैं, उनमें राजनीतिक प्रतिभा नहीं पायी जाती" (Indians are a race of philosophers, they lack political genius); किन्तु अर्थशास्त्र की खोज ने उस व्यापक उक्ति को निराधार सिद्ध कर दिया है। अमर साहित्यिक कृतियों में रामायण-महाभारत की गणना ऊपर हो चुकी है। कालिदास के नाटक सभ्य संसार के अनमोल रत्न हैं। उनके नाटकों में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' अति ही विख्यात है। उनके अन्य साहित्यिक ग्रन्थ हैं रघुवंश, विक्रमोर्वशी, कुमारसम्भव आदि। अन्य भारतीय विख्यात नाटककार हैं : भास, भवभूति, विशाखदत्त आदि। भवभूति का उत्तररामचरित, मालती-माधव अद्वितीय नाटक हैं। यहाँ पर

केवल थोड़े-से लेखकों एवं उनकी कृतियों की ओर संकेत किया जा रहा है। नीति-सम्बन्धी ग्रन्थों से तो संस्कृत-साहित्य परिपूर्ण है ही। भारतीय भौतिकता के पीछे अपेक्षाकृत बहुत कम रहे हैं अतः उन्होंने ऐतिहासिक वृत्तों का क्रमबद्ध आकलन बहुत ही कम किया है, तथापि कुछेक ऐतिहासिक ग्रन्थ भी हैं, जिनमें कल्हण की 'राजतरंगिनी' प्रमुख है। गणित एवं ज्योतिष में भास्कराचार्य एवं आर्यभट्ट के नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं। [देखिए इस अध्याय का परिशिष्ट]

धार्मिक उत्क्रान्तियाँ

§. [५] धार्मिक उत्क्रान्तियों के विषय में हमने चौथे अध्याय में बहुत कुछ लिख दिया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतीय धार्मिक क्षेत्र में भी सदा विवेचनशील रहे हैं। यों तो भारतीय परम्परा से मोह करने वाले रहे हैं, वे रूढ़ियों से श्रद्धा करते रहे हैं किन्तु यदि उन्हें कोई सुन्दर आध्यात्मिक संकेत मिला तो अपने को उसके अनुरूप रँगने में उन्हें देर न लगी। एक ही संस्कृति के पोषक भारतीयों ने षट् दर्शनों का प्रणयन किया है। आज आस्तिक एवं नास्तिक सभी उन दर्शनों का आस्वादन कर सकते हैं। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म की धार्मिक सुधारणाओं के साथ भारतीय विचार-धारा में कितने ही वाद चल पड़े जो अपने ढंग से शाश्वत प्रश्नों के समाधान में लगे रहे और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में नवीन अध्याय जोड़ते रहे।

वाणिज्य, व्यवसाय

§. [६] आरम्भ काल से ही भारतीयों ने देश-देशान्तरों से अपना अटूट नाता रखा और अपनी प्रकाश-किरणों से अन्यान्य देशों को चमकाया। इसी प्रयास के साथ-साथ उनमें वाणिज्य एवं व्यवसाय की अभिरुचि भी जागती रही। भारतीय भौतिकता में उसके वाणिज्य-व्यवसाय अपना अलग महत्व रखते हैं। भारतीयों के जहाजी बेड़े सुदूर पूर्व [वृहत्तर भारत] एवं पश्चिम के देशों [डैन्यूब नदी] तक जाते थे।

§. [७] भारतीय इतिहास में गुप्त काल स्वर्ण-काल कहा जाता है। ठीक ही है। जितनी उन्नति उस युग में हुई वह एक साथ तथा

सर्वांगीण कभी किसी युग में नहीं हुई। राजनीतिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रयास अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गये। गुप्तकालीन वास्तु-कला, तक्षण-कला, मूर्ति-कला, चित्रकारी आज के भग्नावशेषों में विशिष्ट स्थान रखती हैं। सारनाथ, बोधगया, वैशाली, नालन्दा, साँची, अजन्ता एवं एलिफैण्टा की गुहाएँ, एलोरा आदि के पर्वत-खण्ड मन्दिर आदि भारतीय वास्तुकला, तक्षण-कला तथा चित्र-कला के ज्वलंत उदाहरण हैं। यहाँ कुछेक ही उदाहरण दिये जाते हैं। बड़े-बड़े नगरों में पाटलिपुत्र, नालन्दा, काशी, अवन्तिका, राजगृह, तक्षशिला की सांस्कृतिक अस्थियाँ आज भी विद्यमान हैं जो हमारे पूर्व गौरव के प्रतीक हैं।

ललित कला

भारतीय संस्कृति की विश्व के लिए देन

.ई. [८] इस छोटी-सी भूमिका के उपरान्त अब हम संक्षेप में, विश्व के लिये भारतीय देन का उद्घाटन करेंगे। प्रसिद्ध विद्वान् एवं भारतीय संस्कृति के प्रकाण्ड व्याख्याता प्रो० मैक्समूलर ने जिन मोह भरे शब्दों के साथ भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अनन्य प्रतीक दार्शनिक विचार-धाराओं पर प्रकाश डाला है उसे कौन ऐसा भारतीयता का पुजारी होगा जो नहीं जानता। उन्होंने कहा है कि "उन्हें जीवन में शान्ति भारतीय दर्शन से मिली और वे आमरण उसी शान्ति में डूबे रहेंगे।" भारतीय अध्यात्मवाद विश्व के इतिहास एवं सभ्यता के विकास में अपना अद्वितीय स्थान रखता है। भारतीय दर्शन का अमूल्य रत्न श्रीमद्भगवद्गीता विश्व की श्रेष्ठ विचार-धाराओं में सम्पूज्य है। उस ग्रन्थ ने विश्व के मार्मिक चिन्तकों के मन को पकड़ रखा है। विश्ववन्द्य महात्मा गान्धी ने उस ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों के साथ अपना जीवन-सखा माना। भारतीय संस्कृति में सेवाभाव, त्याग, श्रद्धा एवं अध्यात्मवाद आदि महान् एवं उच्चकोटि के स्थायीभाव हैं जिनके अवगाहन में ब्रह्मानन्द की उद्भूति होती है। जीवन के

मूल्यों में 'सत्यं', 'सुन्दरं' एवं 'शिवं' के ऊपर ब्रह्मानन्द की कोटि आती है जिसमें समाहित हो जाने वाले अगणित साधु, संन्यासी एवं महर्षि हुये। उनके सद् शब्दों से भरी भारतीय संस्कृति सदा अमर रहेगी। विश्व उनके ग्रन्थों, विचारों एवं उक्तियों की सदा पूजा करता रहेगा। 'योगवाशिष्ट' में विश्वबन्धुत्व, जिसकी अभ्यर्थना में महात्मा गान्धी शहीद हो गये, कितने मार्मिक ढंग से अभिव्यक्ति पा सका है! भारतीय 'पंचतन्त्र' का यह श्लोक अति प्रसिद्ध है : अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। "यह मेरा है, वह तुम्हारा है" ऐसी बातें तो लघुचेतन व्यक्ति ही करते हैं। जिन व्यक्तियों का हृदय विशाल होता है अर्थात् जो उदार होते हैं उनके लिये तो सारी वसुधा कुटुम्ब के समान है। वाह! क्या सुन्दर उक्ति है। आज विश्व एकत्व की ओर जा रहा है। यह विश्व-उन्मुखता तभी सार्थक होगी जब इस श्लोक का मर्म विश्व के जन-जन में समाहित हो जाय।

भारतीयों ने लोक-मंगल की भावना से ही प्रेरित हो अपने भौतिक प्रयत्नों में अपना सर्वस्व त्याग किया। लोक-मंगल में ही आत्मा की परितुष्टि है। आत्मा परमात्मा से तभी तक पृथक् है जब तक उस पर भौतिक माया-जाल का आवरण लगा रहता है। यदि व्यक्ति अपने को कण-कण में समाहित करता आगे बढ़ता है तो वह परमात्मा के पास पहुँचता जाता है। भारतीयों ने अपने जीवन-गर्भित प्रयत्नों में अहिंसा, त्याग, तप को सदा उच्च स्थान दिया। विश्व की महान् देनों में विश्व-बन्धुत्व की देन, जो अहिंसा, सत्य, त्याग, तप आदि उदात्त गुणों पर आधारित है, सर्वोत्कृष्ट है।

राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, एवं दार्शनिक देनों के साथ भारतीयों ने वैज्ञानिक देन भी दी। गणित में बीजगणित का बीजारोपण भारत में ही हुआ। अंकगणित की उद्भावना सर्व प्रथम भारत में ही हुई। आश्चर्य है, आज का विश्व यूनान को गणित-गुरु मानता है। वास्तव में, विश्व का आदि गणित-गुरु भारतवर्ष है। [देखिए इस अध्याय का परिशिष्ट]

आज विश्व में बौद्ध धर्म भी फैला हुआ है। यह भारतीय धर्म ही तो है। अशोक ऐसे राजा भारत में ही उत्पन्न हो सकते थे। महात्मा गान्धी ऐसे व्यक्तियों की उद्भावना भारत में ही हो सकती है। आधुनिक विश्व में महात्मा गान्धी, जिन्होंने अपने जीवन के प्रयत्नों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के रस को समाहित कर लिया था, भारत की विश्व के लिए अद्भुत देन है। यह है आदि भारत का प्रभाव!

आधुनिक युग में महात्मा गान्धी के उद्भव के पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी में जो विश्ववन्द्य भारतीय विभूतियाँ उत्पन्न हुईं वे विश्व के लिए भारतीय देन हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, पं० मदन मोहन मालवीय, विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि आज विश्व में श्रद्धा के पात्र हैं। वे भारतीय गौरव हैं। आज हमें यह सोचना है कि किस प्रकार अपनी अमर कृतियों एवं निरन्तन सत्य के उद्घाटन के प्रतीक अपनी प्राचीन विचार-धाराओं को लेकर भारत संसार में शान्ति स्थापित करे। भारत को इसका मोह नहीं है कि विश्व उसे अपना गुरु कहे, क्योंकि उसने अहंकार तो बहुत पहले फेंक दिया। वह अपनी सांस्कृतिक परम्परा में यही चाहता है कि विश्व में शान्ति स्थापित हो, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति लोक-मंगल की भावना से प्रेरित अपने व्यक्तित्व का उत्थान कर सके। आज अभाग्य-वश कुछ भौतिक कारणों एवं राजनीतिक विप्लवों के फलस्वरूप भारतीयता के कुछ अंगों में घुन लग गए हैं, कुछ दोष आ गए हैं। हमें आज उन दोषों को दूर करना है, क्योंकि हम सदा से यही करते आये हैं, अन्यथा हम इतने उच्च न हो सके होते। आशा है, महात्मा गान्धी के प्रयत्न कालान्तर में सफल होंगे और भारत की सबसे बड़ी देन होगी विश्व-शान्ति। यह विश्व-शान्ति, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, महात्मा गान्धी के सिद्धान्तों पर चलने से ही स्थापित हो सकती है। आज अहिंसा के मार्ग के अवलम्बन से भारत विदेशी शृंखलाएँ तोड़ चुका है। विश्व के इतिहास एवं संस्कृति में भारत के आधुनिक राष्ट्रीय संग्राम ने विचित्र कड़ियाँ जोड़ी हैं। स्वतन्त्रता-

प्राप्ति के प्रयत्नों में महात्मा गान्धी द्वारा प्रचारित मान्यताएँ आदि भारत की गौरवपूर्ण धारणाएँ ही तो थीं !

परिशिष्ट *

आदि भारतीय जीवन और भौतिक प्रगति की देन

§. [१] भारतीय जीवन-दर्शन के चार प्रकाश-स्तम्भ हैं : 'सत्यं', 'शिवं', 'सुन्दरं' तथा 'धर्म'। इन्हीं चारों से क्रमशः जीवन के मूल्य निखरे हैं। इनसे काल के क्रम तथा विकास से जो किरणें फूटी हैं उन्होंने हमारी सभ्यता एवं संस्कृति को आज तक अक्षुण्ण बना रखा है। आदि काल से ही हमारे जीवन-दार्शनिकों तथा चिन्तकों ने जीवन के विविध स्वरूपों को देखा है, समझा है और स्थापित की हैं अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर चिन्तनों, भावों एवं उद्योगों की नाना प्रकार की कोटियाँ। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक काल में हमने जीवन के क्षेत्र में विशेष वैज्ञानिक उन्नति नहीं की, किन्तु इसका विशिष्ट कारण है। जिसे हम आगे देखेंगे।

भारतीय जीवन-दर्शन के चार प्रकाश-स्तम्भ

बहुधा पाश्चात्य विद्वान् कहा करते हैं कि भारतीय तो दार्शनिकों की जाति हैं, उनमें राजनीति तथा अन्य भौतिक प्रयत्नों की प्रतिभा नहीं पायी जाती। किन्तु यह उक्ति सर्वथा असत्य है। भारतीयों ने प्राचीन काल में जो उन्नति की, जो नवीन चेतनाएँ उद्भावित कीं, जो भाव प्रदर्शित किए, जो कार्य किए अथवा विश्वास की भित्ति पर जो निर्माण-कार्य किए वे उनकी असामान्य प्रतिभा के परिचायक थे। यह कहना कि भारतीयों ने दर्शन के क्षेत्र में अभूतपूर्व अनुभूतियाँ ग्रहण

* इस परिशिष्ट का अधिकांश लेखक द्वारा आल इण्डिया रेडियो से दिए गए भाषण पर आधारित है।

की और संसार के समक्ष विशिष्ट दर्शन-पद्धति उपस्थित की, ठीक ही है; किन्तु जहाँ उनके आध्यात्मिक प्रयत्न उन्हें विचारों, चिन्तनों अर्थात् सत्य-स्थापना की दुनिया में सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं, वहीं उनकी भौतिक उन्नति उन्हें सभ्य तथा सुसंस्कृत संसार में भी विशिष्ट स्थान देती है। सभ्यता तथा संस्कृति के मूल में केवल दर्शन ही सब कुछ नहीं है, प्रत्युत उनमें जीवन के भावों एवं क्रियाओं की प्रबलता भी पायी जाती है। चिन्तन से सत्यं, भाव से सुन्दरं तथा क्रिया अथवा उद्योग से शिवं (कल्याण) की उद्भावना होती है। भारतीयों का चौथा जीवन-मूल्य भी है जिसे मैं 'विश्वास' अथवा 'धर्म' कहता हूँ। भारतीय जीवन तथा भौतिक प्रगति में सत्यं, सुन्दरं एवं शिवं के साथ-साथ विश्वास भी एक प्रमुख प्रकाश-स्तम्भ था जिसके फलस्वरूप चकित करने वाली कलात्मक कृतियों का निर्माण हुआ और भौतिकता को प्रगति मिलती रही। हम देखेंगे कि किस प्रकार भारतीयों ने अपने जीवन-दर्शन की अनुभूत प्रणाली में व्यापक प्रयत्न किए जिनके फलस्वरूप भारतीयता दिग्दिगन्त में व्यापक हो सकी और विश्व के अन्यान्य देश उससे शताब्दियों पढ़ते रहे, सीखते रहे तथा बल ग्रहण कर अपनत्व उद्घोषित करते रहे।

विशिष्ट युगों की भौतिक देन

§. [२] आदि काल में भारतीय सभी क्षेत्रों में कुशल थे। राज्य-स्थापन तथा राज्य-शासन, उद्योग तथा औद्योगिक प्रयत्न, राजनीति तथा राजनीतिक उतार-चढ़ाव, अर्थनीति तथा आर्थिक सुव्यवस्था एवं ज्ञान तथा विज्ञान में उन्होंने जो उन्नति की वह अखिल विश्व को चकित करने वाली थी। जब संसार के अन्य देश असभ्यावस्था तथा प्रगति के गहनतम अन्धकार में आँखें मुलमुला रहे थे, भारत में सुसंस्कृत सभ्यता की क्रीड़ाएँ हो रही थीं। इतिहास साक्षी है। हम इतिहास के आलोक में भारतीय जीवन तथा भौतिक प्रगति का अवलोकन करेंगे।

इतिहास के आलोक में

§. [३] आर्यों के जीवन के बहुत पहले, आज से कम-से-कम

६००० वर्ष पूर्व, सिन्धु-काँठे में एक विशिष्ट सभ्यता का अभ्युदय हुआ था। प्राप्त सामग्रियों के आधार पर आज हमें ज्ञात होता है कि सैन्धवों की सभ्यता के उपकरण उनकी विशिष्ट भौतिक प्रगति के द्योतक थे। नगर-निर्माण, प्रणाली-युक्त राजपथ, सरोवर, स्नान-कुण्ड, कई मंजिलों के भव्य प्रासाद, अस्त्र-शस्त्र, पूजा-विधि, आदि उनकी भौतिक प्रगति को तत्कालीन विश्व में सर्वोपरि स्थान देने में समर्थ हैं। उनका व्यवसाय, उनके उद्योग तथा उनकी कला कितनी विशद थी आज सभी जानकार व्यक्ति को विदित है। [देखिए, पृष्ठ ४६-५०]

सैन्धवों की भौतिक प्रगति

§. [४] आर्यों की सभ्यता तथा संस्कृति ने सैन्धवों के भौतिक प्रयत्नों को कालान्तर में अपने में समेट लिया और उन्नति का एक ऐसा मार्ग खोल दिया जिससे क्रम तथा विकास की प्रगति में आगे के भौतिक प्रयत्न स्पष्ट होते चले गए। इसके उपरान्त जो साहित्य निर्मित हुआ उसके पर्यलोकन से विदित होता है कि भौतिक प्रगति अपने विकास-मार्ग में प्रसरित रही। ऋग्वेद के पश्चात् सामवेद ने जीवन को सुन्दर अनुभूतियाँ दीं जिससे संगीत की कलात्मक कोटियाँ खिल उठीं और आगे चल कर विविध संगीत-कला-विषयक प्रयत्न उतरते चले गये। यजुर्वेद ने यज्ञ-विधि के माध्यम से तथा अथर्ववेद ने अपनी गाढ़ी भौतिकता से जीवन को अधिक प्रगति दी। अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण के अभिचारों के अतिरिक्त बहुत-से रोगों के उपचारों, औषधियों तथा युक्तियों की भी चर्चा है। आध्यात्मिकता के साथ-साथ जीवन के वास्तविक स्वरूप, यथा—कृषि तथा उसके यन्त्र युद्ध तथा उसकी सामग्रियाँ, पूजा तथा उससे उद्भूत वेदी की विविध गणित-सम्बन्धी [illegible], शासन-सम्बन्धी भाँति-भाँति की सुव्यवस्थित [illegible] गयीं, और विविध विज्ञानों को जन्म मिला।

आर्यकालीन प्रगति

आर्यों के वस्त्राभरण तथा प्रसाधन उनकी भौतिक प्रगति के द्योतक हैं। वे ऊन तथा सूत के वस्त्रों का व्यवहार जानते थे। भाँति-भाँति

के रंगों का उन्हें ज्ञान था। सोने के तारों पर सुईकारी का काम भी उन्हें विदित था। कुण्डल, हार, केयूर, मणिबन्ध आदि आभूषण उनकी धातु-विद्या के ज्ञान के सुपुष्ट प्रमाण हैं। उनके उत्सवों, मेलों तथा युद्धों में दुन्दुभि, मृदंग, वीणा, बाँसुरी, आदि प्रमुख वाद्ययन्त्र थे। धनुष-बाण, भाले-बर्छे, परशु तथा असि उनके विशिष्ट अस्त्र-शस्त्र थे। ऋग्वैदिक ऋचाओं से उनकी सामुद्रिक यात्रा की भी स्पष्ट ध्वनि फूटती है।

उत्तरवैदिक तथा महाकाव्यों के काल की प्रगति

§. [५] उपनिषत्काल की आध्यात्मिक प्रसरण-गति के उपरान्त रामायण तथा महाभारत के काल से बहुत पूर्व ही जीवन की बहुभेदी प्रक्रियाएँ विद्यमान थीं। इन महाकाव्यों के परिशीलन से किसी को भी विदित हो जाता है कि भारतीयता भौतिक क्षेत्रों में भी कितनी प्रगतिशील हो उठी थी। जहाँ भारतीय देश-देशान्तरों में नौ-सेना प्रवाहित करते थे, यातायात के प्रयत्नों में सुदूर देशों तथा प्रान्तों में आवागमन की क्रियाएँ करते थे तथा अपने देश में निर्मित बहुमूल्य वस्तुओं का विक्रय करते थे और दूर-दूर देशों में अपनी ज्योति का प्रकाश फेंकते थे, वहीं अन्तः प्रयत्न सर्वतोमुखी हो उठे थे। साहित्यिक अभिचेतना के अतिरिक्त, जो भौतिक प्रगति का परिज्ञानमूलक होता है (क्योंकि बिना प्रत्यक्ष अनुभूति के कल्पना यों ही नहीं दौड़ती) गणित, ज्योतिष, विज्ञान की विविध विधियाँ प्रकट हो चुकी थीं। आज के विश्व में नाना प्रकार के विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, जिनपर जयी राष्ट्र गर्व करता है। किन्तु भारतीयों को इसका गर्व बहुत प्राचीन है कि उन्होंने ऐसे प्रयत्न न-केवल कल्पना के लोक में निर्मित किए, प्रत्युत उन्होंने इन्हें भौतिकता का जामा पहनाया। यहाँ पर ऐसे प्रयत्नों की तालिका देना अपेक्षित नहीं है।

राजनीतिक परिस्थितियों में उन्नति के साथ-साथ भौतिकता का गहरा रंग उतरता चला गया और सामाजिक प्रवृत्तियाँ खिलती चली

गयीं। उत्तरवैदिक काल में लेखन-कला का परिज्ञान हो चुका था। आर्थिक जीवन उच्चतर होने लगा। ऋतु-ज्ञान तथा विविध अन्नों का समयानुकूल बोना-काटना लोगों को ज्ञात था। अनेक उद्योग-धन्धे जाग्रत हो उठे। सूत, व्याध, जलोपजीवी, गोप, कर्षक, सुवर्णकार, रजक, रज्जुकार, रंगसाज़, जुलाहे, कुम्हार, लोहार, गायक, कलाबाज, आदि अनेक उद्योग-धन्धी बनते चले गए। अर्थ-व्यवसाय में सीसा, टिन (त्रपु), रजत, हिरण्य, अयस् आदि ज्ञात थे। सिक्कों का प्रचलन था जिनके तौल कृष्णलों तथा गुंजों से प्रमाणित थे।

बौद्धकालीन भौतिक प्रगति

.§. [६] ग्रीक इतिहासकारों ने घोषित किया है कि भारतीयता पर्याप्त सुसंस्कृत थी और ग्रीकों ने हिन्दुओं से बहुत कुछ सीखा। फारस वालों ने भारत-सम्बन्ध से इसके ज्ञान-विज्ञान को पश्चिम को भी दिया और शताब्दियों तक ग्रीकों तथा भारतीयों में ज्ञान-विज्ञान की पारस्परिक अनुभूतियाँ होती रहीं जिसके फलस्वरूप भारतीय कला को विशिष्ट छाप भी मिली। भारतीयों ने इसके उपरान्त जो अलौकिक प्रयत्न किए वे अशोक के स्तम्भों से पूर्णरूपेण व्यक्त हो जाते हैं। उस युग में जब आज के वैज्ञानिक साधन उपलब्ध नहीं थे, किस प्रकार अशोक के इञ्जिनीयरों ने चुनार की पर्वत-मालाओं के विशालकाय प्रस्तर-खण्डों को उत्पादित किया और उन्हें गढ़-गढ़ कर दूर-दूर जड़ीभूत किया! यह बात आजकल भी लोगों को चकित करती है। स्तम्भों का कलात्मक निर्माण, उनकी पालिश, अत्याधुनिक रासायनिक रंगसाजों को हतबुद्धि करने वाली है।

आदि भारत की साहित्यिक अभिचेतनाएँ

.§. [७] आदि भारतीय साहित्य प्रमुखतः संस्कृत में ही प्रणीत हुआ और भारत की विश्व-विश्रुत साहित्यिक, काव्यात्मक, दार्शनिक, कलात्मक, समीक्षात्मक, सौन्दर्यात्मक, वैज्ञानिक सभी प्रकार की पुस्तकें इसी विशिष्ट भाषा द्वारा व्यक्त हुईं। संस्कृत-भाषा देव-भाषा कही गयी है। किन्तु बौद्ध साहित्य की अनुपम पुस्तकें पालि भाषा में भी हैं।

साहित्य की परिभाषा है: सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् सहित होने के भाव को साहित्य कहते हैं। वास्तव में, "जो हमारे भावों और विचारों को इकट्ठा रख कर या मानव-जाति में एकसूत्रता उत्पन्न कर अथवा जो काव्य के शरीर स्वरूप शब्द और अर्थ को परम्परा के अनुकूल सप्राण बनाकर मानव-जाति का हित करे, वह साहित्य है।" वास्तव में, आदि भारत में 'काव्य' शब्द 'साहित्य' का ही व्यञ्जक समझा जाता था। सचमुच, साहित्य की यह परिभाषा भारत के मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तन की देन है। ऐसी व्यापक परिभाषा अब तक विश्व के किसी भी देश में नहीं बनी।

'साहित्य' का अर्थ

इसी परिभाषा के अन्तर्गत दर्शन, गणित, समाज-शास्त्र, ज्योतिष, अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र, पुराण, वैद्यक-शास्त्र इत्यादि के अनुपम ग्रन्थ प्रणीत होते रहे। इसी परिभाषा के अन्तर्गत चारों वेद—ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद ब्राह्मण-संहिताएँ, आरण्यक; सभी उपनिषद्; षट् दर्शन; वेदान्त; भगवद्गीता; अठारहों पुराण आदि भारतीय संस्कृति के वाहक ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा। कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, पाणिनि का महा वैज्ञानिक व्याकरण-ग्रन्थ अष्टाध्यायी, चरक का वैद्यक-शास्त्र, वात्स्यायन का काम-सूत्र आदि ग्रन्थ साहित्य की ही कोटि में आते हैं। पाश्चात्य विद्वान् जैसे मैक्समूलर एवं विन्तरनिज़ आदि ने इन सभी ग्रन्थों को भारतीय साहित्य के अन्तर्गत ही परिगणित किया है। किन्तु सीमित अर्थ में भी 'साहित्य' का प्रयोग होता था और ऐसे "साहित्य का उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना नहीं था बल्कि मनुष्य-जीवन को अधिक सुखी और अधिक सुन्दर बनाना था।" इस अर्थ में आदि भारतीय साहित्य में 'साहित्य' को प्रत्येक स्थान पर 'काव्य' की संज्ञा मिली है और उसे दो कोटियों में विभाजित किया गया है; (१) श्रव्य काव्य, यथा —महाकाव्य, खण्ड काव्य आदि तथा (२) दृश्य काव्य, यथा—नाटक, रूपक आदि। इस विवेचन से स्पष्ट है कि आदि भारतीय साहित्य

साहित्यिक प्रणयन

व्यापक एवं सीमित दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता था। "शेक्सपीयर ने अपने नाटक में एक स्थान पर लिखा है कि साहित्य पृथिवी और स्वर्ग के बीच की वस्तु है। किन्तु वास्तव में, प्राचीन भारतीय साहित्यकार की गति त्रिशङ्कु की-सी नहीं थी। वह न तो विश्वामित्र की तरह अपने यजमान को सदेह स्वर्ग पहुँचने का दावा करता था और न अपनी कल्पना के डैने फैलाकर दूर शून्य नीलाकाश में निरर्थक चक्कर ही लगाया करता था। प्राचीन भारत का पवित्र साहित्य उस आत्मा की खोज है जिसको पाने के लिए युग-युग से मानव प्रयत्नशील और जागरूक रहता आया है।" "वह साहित्य एक युग की आलोचना नहीं, किसी एक काल का प्रतिबिम्ब नहीं, किसी एक समय का दर्पण नहीं, वरन् युग-युग की शङ्काओं, चिन्ताओं और प्रश्नों के समाधान का संकेत है।" वास्तव में, आदि भारतीय साहित्य आत्मानुभूति का प्रमुख साधन था जिसका उद्देश्य था आत्म-विस्तार एवं परिष्कार। साहित्य या काव्य चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति का प्रमुख साधन था। साहित्य-शास्त्रियों का कहना है कि साहित्य के प्रयोजन की जितनी व्यावहारिक एवं सन्तुलित व्याख्या आदि भारतीय साहित्य में हुई वैसी विश्व-साहित्य में अब तक अन्यत्र न हो सकी।

साहित्य का उद्देश्य

क्या हम आज भी आदि भारत के काव्य-गौरव कालिदास, भवभूति, भास, हर्ष, अश्वघोष आदि कवियों की अमर कृतियाँ पढ़कर रोमाञ्चित, स्पन्दित एवं परिष्कृत नहीं हो उठते? कविता, नाटक, गद्य और काव्य-शास्त्र (Poetics) के क्षेत्रों में आदि भारत विश्व में अग्रगण्य रहा। वाल्मीकि एवं व्यास जैसे महाकाव्यकार, कालिदास जैसे नाटककार, बाणभट्ट जैसे गद्य-संदर्भ लेखक एवं गद्यकार, एवं भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, धनञ्जय, राजशेखर, मम्मट, रुद्रट् जैसे काव्य-शास्त्रज्ञ आदि भारतीय साहित्य की अमर विभूतियाँ हैं जो युग-युग तक सम्पूज्य एवं श्लाघनीय रहेंगी।

साहित्य एवं काव्य के आभैभव

आधुनिक विचारकों ने भ्रमवश भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र की तुलना यूनानी लेखक अरिस्टॉटिल (देखिए पृष्ठ १०८) के काव्य-शास्त्र (Poetics) से, वाल्मीकि की तुलना होमर-वर्जिल से, कालिदास की तुलना शेक्सपीयर एवं गेटे से, चाणक्य की तुलना मैकियावेली से की है। वास्तव में, पौर्वात्य एवं पाश्चात्य लेखकों में वही वैभिन्य है जो "सामाजिक जीवन में संसार की समस्त नारियों एवं पुरुषों में" अनादि काल से देखने में आया है। आदि भारत के

काव्य-शास्त्र

अमर काव्य-शास्त्रज्ञ भट्टि का 'अलङ्कार', भामह का 'काव्यालंकार', दण्डी का 'काव्यादर्श', उद्भट का 'अलङ्कार-सार-ग्रहण', वामन का 'अलङ्कार-सूत्र', रुद्रट का 'काव्यालङ्कार', आनन्दवर्द्धन का काव्यालोक, राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा', कुन्तक का 'वक्रोक्तिजीवितम्', धनञ्जय का 'दशरूपक', भोज का 'सरस्वतीकण्ठाभरण', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', जयदेव का 'चन्द्रालोक', विश्वनाथ का 'काव्य-दर्पण', और पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर', विश्व के आलोचना-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

आदि भारतीय साहित्य मानव-कल्याण, देश-कल्याण, समाज-कल्याण और व्यक्ति के आत्म-विस्तार एवं उद्ध्वायन (परिष्कार) के लिए प्रणीत हुआ था। यह साहित्य आदर्शवादी था। संसार के प्रसिद्ध लेखकों एवं विचारकों ने, यथा—गेटे, शोपेनहार, मैक्समूलर, इमर्सन, टालस्टाय, ह्विटमैन आदि ने भारतीय साहित्य एवं उसमें गर्भित संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

आदि भारत का जीवन-दर्शन *

§. [८] भारतीय दार्शनिक विचार-धारा अनुभूतिपूर्ण रही है। हमारे प्राचीन विचारक, ऋषि-मुनि, साधक, योगी एवं साहित्यिक

* यह प्रकरण लेखक की पुस्तक हिन्दू जीवन-दर्शन के एक अध्याय पर आधारित है।

जीवन-दार्शनिक थे : उन्होंने 'जीवन' का बहुत पास से दर्शन किया; उनकी वाणी से निसृत उक्तियाँ अनुभूत प्रणाली

पूर्वाभास

पर आश्रित थीं। उन्होंने अपने अन्तःकरण पर 'सत्य' रूप का जो दर्शन-संस्कार छोड़ा वह हमारे जीवन की परम्पराओं में आज तक विद्यमान है। हमारी संस्कृति का वातावरण उन्हीं जीवन-दार्शनिकों की देन है जिसमें हम आज तक अक्षुण्ण रूप से परिवर्द्धित, सुसंस्कृत होते चले आए हैं। भारतीय दर्शन के नियामक, विधायक एवं उपदेष्टा द्रष्टा थे, उनके विचारों, भावों एवं क्रियाओं का अस्तित्व उनकी जीवनगर्भित अनुभूतियों में पाया जाता था। यदि ऐसा न होता तो हमारी संस्कृति के सूत्रों में एकरूपता नहीं पायी जाती। 'निर्विकार सत्य' के उद्‌घाटन में दर्शनों के विविध रूप अवश्य स्पष्ट हुए, किन्तु विविध प्रयत्नों के मूल में जाग्रत अनुभूतियाँ ही अभिव्यञ्जित हुईं, हाँ कतिपय विचारकों ने जब मन के विशिष्ट रूप को ही ग्रहण किया तो बहुभेदता भी दृष्टिगोचर हुई किन्तु वह भी उस विषय को अनुभूत प्रणाली पर कसने तथा उसके अन्तिम मर्म को समझने का प्रयत्न मात्र थी। निस्सन्देह, भारतीय दार्शनिक वाङ्मय सभ्य जगत की अमूल्य निधि है। भारतीय दर्शन की प्रकाश-किरणें इतनी मोहक रही हैं और उन किरणों से हमारा जीवन इतना प्रभावित रहा है कि आज का भारत जब कि वह शताब्दियों के भौतिक कुठाराघातों से जर्जरित है, और आज के नवीनतम प्रयोगों एवं वैज्ञानिक प्रयत्नों से अछूता रहा है, अब भी अपना सीना ताने हुए है और विश्व को चुनौती दे रहा है कि 'यदि तुम्हें वास्तविक जीवन का दर्शन करना हो तो आओ हमें पढ़ो'। महात्मा गान्धी ने बीसवीं शताब्दी में अपने जीवन-दर्शन से भारतीय जीवन-दर्शन की परम्परा को स्पष्ट कर दिया है और दर्शन के सभी स्वरूपों तथा उनके समन्वय को उपस्थित किया है। आइए और दर्शन कीजिए उस भारतीय जीवन-दर्शन का, जो सहस्रों वर्षों से भारत की आत्मा, उसके अन्तः-करण, उसके स्वप्नों, उसके क्रिया-कलापों एवं चिन्तनों-भावों का केन्द्र

रहा है और अन्त में आज के युग-पुरुष महात्मा गान्धी के जीवन-दर्शन में समाहित हो चुका है।

जीवन-दर्शन के चार प्रकाश-स्तम्भ

§. [६] यदि हम इतिहास के आलोक में दार्शनिक भूमिकाओं का अवलोकन करें, धार्मिक चेतनाओं, सामाजिक प्रतिक्रियाओं एवं परम्पराओं से प्रचालित अपने अतीत वातावरण का पर्यवेक्षण करें तो आज का भारतीय जीवन पूर्ण-रूपेण अभिव्यक्त हो जायगा। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है भारतीय जीवन-दर्शन के मूल में 'सत्यं', 'सुन्दरं', 'शिवं' की परम्पराएँ क्रमशः उद्भावित हुई हैं किन्तु समन्वय के साथ। जिस समाज का जैसा दार्शनिक विश्वास होता है उसकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था, उसकी शिक्षा-प्रणाली, उसकी शासन-पद्धति एवं उसके आचार-व्यवहार भी तदनुरूप होते हैं। दर्शन सभी शास्त्रों का शास्त्र होता है और होता है सभी शास्त्रों का समन्वय। भारतीय दर्शन की यही विशेषता रही है कि वह सभी मानवी प्रयत्नों को अपने में समाहित करता रहा है।

वैदिक प्रवृत्तिमार्ग के उपरान्त उपनिषद्-काल का निवृत्तिमार्ग प्रस्फुटित हुआ। पुनः जैन तथा बौद्ध दर्शन की अटूट परम्पराएँ स्थिर हुईं। जैन एवं बौद्ध धर्म की प्रेरणाओं तथा चेतनाओं ने भारतीय जीवन में धर्मानुगत पीठिकाएँ उपस्थित कीं और हमारे समक्ष 'सत्यं', 'सुन्दरं' तथा 'शिवं' के अतिरिक्त एक अन्य जीवन-मूल्य भी उपस्थित कर दिया जिसे हम 'धर्म' के नाम से पुकारते हैं। यह मेरा विश्वास है कि

धर्म चौथा मूल्य

'धर्म' भी एक जीवन का मूल्य है जो हम में विश्वास की भित्ति खड़ा करता है और हमारे उद्योगों को सुपुष्ट भूमि देता है। हमारे धार्मिक उत्क्रान्तिदर्शियों ने हमें जीवन के धर्म अर्थात् 'विश्वास' के माप-दण्ड को समझाया और स्पष्ट किया कि जो सत्य है, सुन्दर है, शिव है वह तभी जीवन-गर्भित तथा सामान्य वस्तु हो सकता है जब उसमें विश्वास की अनुभूत चेतना संगुम्फित हो जाय। अतः भारतीय जीवन-दर्शन ने

हमें सत्यं, सुन्दरं, शिवं तीन मूल्यों के अतिरिक्त चौथा 'मूल्य' दिया धर्म। 'दिक्', 'काल' की अविच्छेद्य गुहा में प्रवेश करने के लिए ये चार प्रकाश-स्तम्भ हैं। भारतीय जीवन-दर्शन मानस-अनुभूतियों का समुच्चय है। आदि से अब तक भारतीय दार्शनिकों ने जो कुछ देखा उन्हें अपने दर्शन में रख कर भारतीय जीवन की सम्पत्ति बना डाली। आज यदि भारत में कुछ है तो वह है उसकी दार्शनिक धारा। यदि आप गाँवों में जायँ और निरक्षर भट्टाचार्य, झुलई, भगेल, झिलमिट से भी बातें करें तो उनके मुख से उनकी अनुभूत वाणियाँ गूँज उठेंगी जिनमें परम्परा से चली आती हुई दार्शनिक बातों का वातावरण ही दीखेगा। ऐसा क्यों है? यह है विश्वास—अटूट श्रद्धा, धर्म-भावना जो उनके चिन्तनों, भावों तथा उद्योगों में पायी जाती है। वास्तव में, सत्य (ज्ञान) की अनुभूति में सुन्दर (भाव), विश्वास एवं क्रिया की चेतनता रहती है, सुन्दर की प्रतीति करते समय हम चिन्तन करते हैं विश्वास के साथ और क्रियाशील होते हैं और क्रियावान् होते समय चिन्तन तथा भाव में रहते ही हैं और विश्वास करते हैं। इसी प्रकार धार्मिक चेतनता में चिन्तनों, भावों, क्रियाओं की बहुलता पायी जाती है। अपनी क्षणिक स्थिति के प्रति जो बोध होता है वह इन्हीं चारों मूल्यों पर आधारित है। अतः 'सत्यं', 'सुन्दरं', 'शिवं' के साथ 'विश्वास' की परम्पराएँ भारतीय जीवन-दर्शन की भित्ति रही हैं।

§. [१०] आर्यों का जीवन सहज प्रकृति-मूलक था: उन्होंने मुक्त वातावरण में अपनी स्थिति देखी और अपने अनुभवों में प्रकृति के विविध रूप देखे और समझा अपने जीवन को प्रकृति के आवरणों से वेष्टित। उनका जीवन भावमय था, उनमें अटूट विश्वास था प्रकृति-शक्तियों में, जिन्हें उन्होंने विविध देवताओं के रूप में व्यक्त किया। उन्होंने सत्य की अनुभूति में सुन्दर की कल्पना की और अपने शिव के लिए विश्वास के साथ पूजा, उपासना यज्ञादि किया और प्रवृत्ति-मूलक जीवन उपस्थित किया। उनके उद्योग श्रद्धा की भित्ति पर आधारित

वैदिक जीवन-दर्शन

थे । उन्होंने यज्ञ करते समय कहा :

कस्मै देवाय हविषा विधेम

(ऋग्वेद : मं० १०, सूत्र १२१)

किन्तु यह सन्देह अधिक दिनों तक न टिक सका । उन्होंने सत्य का दर्शन किया और पुनः कहा :

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु : (ऋ० १।१४४।४६)

जो आर्यों का दार्शनिक एकदेववाद कहा जाता है, जो क्रमशः उनके जीवन-दर्शनों का अन्तिम स्वरूप है । बहुदेववाद अन्त में एक-देववाद में परिणत हो गया

ध्वनि फूटती है :

न सत् था न असत् उस काल था
न रज थी न गगन का शून्य था
ढँक रहा था क्या ? किसको ? कहाँ,
सलिल के किस गहरे गर्भ में,
मृत्यु थी न अमरता थी कहीं
दिन न था, न कहीं पर थी निशा
'एक' वह केला बस साँस था ।

हमारे वैदिक ऋषियों ने अनेकता में एकता की अनुभूति की । यही विशिष्ट सत्यदर्शन उपनिषदों में और खुल खिल पड़ा । ऋग्वेद का 'पुरुष-सूक्त' एक उत्कृष्ट कविता है और है जीवन-दर्शन का रहस्यात्मक पट जिस पर क्या नहीं लिखा है ! एक परिपाटी, एक वातावरण तथा एक दल में रहने वाले लोगों में विचार-स्वातन्त्र्य आवश्यक है, नहीं तो नवीनता के अभाव में जीवन तथा जीवन-दर्शन का स्रोत सूख जाता है । आज भारतीय जीवन-दर्शन अति प्राचीन होता हुआ भी सनातन है, क्योंकि इसमें युगों की अभिचेतनाएँ, स्वतन्त्र अनुभूतियाँ एवं बौद्धिक धाराएँ समाहित हैं । विचारों की स्वतन्त्रता का उद्घोष हमें ऋग्वेद काल में भी प्राप्त होता है । 'अपव्रत' (= सिद्धान्त-हीन

या नास्तिक), 'ब्रह्म-द्विष' एवं 'देवनिद्' ऐसे शब्द वैदिक काल के विचार-स्वातन्त्र्य के ही तो द्योतक हैं। व्यक्तियों को अपनी अनुभूतियों के सहारे कुछ भी विचारने, भाव करने एवं क्रिया करने का अधिकार है।

§. [११] उत्तर वैदिक काल में विश्वास की भित्ति अपेक्षाकृत पूर्ववत रही, किन्तु युगों की दूरी के कारण नवीन परिवर्तनों की सरणियाँ लगती जा रही थीं, फलतः विचारों में उमड़न-घुमड़न होने लगी और बौद्धिक आन्दोलन की उद्भावना हुई जिसके अग्रणी हुए जनक विदेह, अजातशत्रु, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकय के समान राजा तथा उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु, आरुणेय, सत्यकेतु-जाबाल, दृप्त बालाकि और याज्ञवल्क्य ऐसे ब्राह्मण। इन महापुरुषों ने जीवन की अनुभूतियों की दिशाएँ मोड़ दीं, परिज्ञान की परम्पराओं में नई कड़ियाँ अभियोजित कर दीं और जगा दीं ऐसी दार्शनिक चेतनाएँ जो हमारे सम्पूर्ण दर्शन की भित्ति बन उठीं। वैदिक प्रवृत्तिमार्ग के विरोध में ज्ञानमूलक निवृत्तिमार्ग का अभियोजन उपस्थित हुआ। मुण्डकोपनिषद् बृहदारण्यक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों ने वैदिक यज्ञों का खण्डन किया और पश्चात्कालीन दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्व एवं उत्तर-मीमांसा की नींव डाली। सत्य ज्ञान मोक्ष का साधन बना; आत्मा का परमात्मा में लय हो जाना मोक्ष का स्वरूप समझा गया; एक ब्रह्म का प्रतिपादन हुआ और 'तत् त्वं असि' का उद्घोष हुआ। इस निवृत्तिमार्गी, ज्ञानमूलक सिद्धान्त के पीछे पुनर्जन्म के सिद्धान्त तथा कर्म-सिद्धान्त का निरूपण था। उपनिषदों ने व्यक्त किया कि ज्ञान से ही कर्मों का दहन हो सकता है और व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो सकता है। उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् ज्ञान से भरे पड़े हैं। स्थानाभाव के कारण विशिष्ट उद्धरणों को भी मैं नहीं दे सकता, किन्तु निम्न उक्ति का वर्णन तो करूँगा ही क्योंकि यह बड़ा ही मार्मिक, परिज्ञानमूलक तथा इन्द्रिय-ज्ञान सम्बन्धी

वेदान्त

है। आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद यों किया है :

आरुणि : 'पुत्र, न्यग्रोध (वट-वृक्ष) का एक फल यहाँ लाओ।'
श्वेतकेतु : 'यह ले आया, भगवन्।'
आरुणि : 'इसे तोड़ो।'

श्वेतकेतु जब उसे तोड़ चुके तो आरुणि ने पुनः पूछा : 'क्या देखते हो?'

श्वेतकेतु : 'छोटे-छोटे दाने।'
आरुणि : 'इनमें से एक तो तोड़ो।'
श्वेतकेतु : 'तोड़ लिया, भगवन्।'
आरुणि : 'क्या देखते हो।'
श्वेतकेतु : 'कुछ नहीं।'

इसके उपरान्त आरुणि ने कहा : हे सौम्य, जिस अणिमा को तुम नहीं देखते हो, उसी में से यह महान् वट-वृक्ष निकलता है। सौम्य, श्रद्धा करो।

यह जो अणिमा (अणु या सूक्ष्म वस्तु) है, एतदात्मक ही यह सब संसार है। यह अणिमा ही सत्य है। वही हे श्वेतकेतु! तुम हो (तत्त्वमसि श्वेतकेतो)।

§. [१२] देखा आपने! यह थी हमारी दर्शन-परम्परा की अनुभूत प्रणाली और प्रकृति के अणु-विश्लेषण के साथ अपनी इन्द्रियों का एकाकार स्थापित करते हुए आत्मा-परमात्मा की गुत्थी को सुलझाने का अभूतपूर्व प्रयत्न, जो आज हमारे जीवन में समा-सा गया है। इस बात को आज का प्रत्येक हिन्दू जानता है। यही सन्देश दूसरे रूपों में युगों पर्यन्त घूमता रहा और नव-नव अभिनव रंगों से अनुमित हो अनुभूतियों की अजस्र धारा में प्रवाहित होता रहा और भगवद्गीता में आकर सर्वसुकर हो उठा। कर्मवाद या क्रियावाद का महत्त्व बढ़ा, यज्ञादि कर्म चित्त-शुद्धि के निमायक हो उठे और अहिंसा सबसे धर्मः बना। ज्ञान की परम्परा में धर्म के विश्वास की भित्ति प्रज्वलित हो उठी और भक्ति की शिक्षा दिशाओं में गूँजने लगी। यौगिक क्रियाएँ उठ खड़ी

हुईं और जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग, कर्म-मार्ग, योग-मार्ग की परम्पराएँ फूट बहीं।

साथ ही साथ नास्तिक विचारकों की सरणियाँ भी बँधीं। चार्वाक-दर्शन इसका सुपुष्ट उदाहरण है। चार्वाक ने कहा : वेदों के रचयिता तीन हैं—भांड, धूर्त और निशाचर—जब तक जीवे, सुख से जीवे, ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए। चार्वाक-दर्शन तथा लोकायत-दर्शन घोर जड़वादी दर्शन है। इस दर्शन में आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं मानी गयी : सोचना, भाव करना, क्रिया करना—सब जड़-तत्व के गुण माने गए। बृहस्पति तथा उनके शिष्य चार्वाक के अतिरिक्त अन्य जड़वादी उत्पन्न भी हुए। पुराण कश्यप ने पाप-पुण्य को अनुमित मान कर झूठ, कपट चोरी, व्यभिचार में दोष नहीं माना।

नास्तिकता का जीवन-दर्शन

§. [१३] इसी प्रकार अन्य मत भी व्यावहारिक हो उठे। भगवद्गीता में धनुर्धर अर्जुन के समक्ष व्यावहारिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं जिनका निराकरण श्रीकृष्ण ने किया। भगवद्गीता विश्व-दर्शन की अद्भुत देन है। इसमें विश्व के विद्वानों के अधिकतर सभी विचारों का समन्वय है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए इंद्रिय-निग्रह, निर्भयता, शुद्धता, स्वाध्याय-प्रेम, अमानित्व, दयाभाव आदि विशेष गुणों पर विश्वास की भित्ति जमी। समदृष्टि रखकर साधन-पथ पर चलता व्यक्ति स्थितप्रज्ञ हो सकता है। फलाकांक्षा छोड़ कर संकल्पों का त्याग करना श्रेयस्कर (शिवं) माना गया। 'योगः कर्मसु कौशलं' अर्थात् कर्म-योग का अर्थ अपने को सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में लगाना उचित माना गया : कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करना ही कर्म-योग है। इस प्रकार ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग तथा कर्म-मार्ग का समुचित समन्वय उपस्थित कर गीता भारतीय जीवन-दर्शन की अटूट परम्परा में जुट गयी। इस प्रकार नास्तिक विचारों से उद्भूत जो विशृंखलाएँ उपस्थित हो गयी थीं और पूर्व काल से चली आती हुई जो ज्ञान, भक्ति

गीता का जीवन-गर्भित रूप

कर्म, विश्वास सम्बन्धी उक्तियाँ जीवन में व्यामोह उपस्थित कर रही थीं उन सब का समन्वय गीता में उपस्थित हुआ।

जैन तथा बौद्ध धर्म

§. [१४] किन्तु कालान्तर में जीवन की उमड़न-घुमड़न प्रत्यावर्तित होने लगी। कर्मकाण्डपरक ब्राह्मण अनुष्ठानों एवं रक्तिम यज्ञों की परम्परा, जो उपनिषदों के प्रयत्नों से हिल उठी थी, पुनः जाग्रत हुई। इसके विरुद्ध उत्क्रान्ति का होना अनिवार्य-सा हो उठा और फलतः जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की उद्भावना हुई। ये दोनों धर्म घोर अवैदिक थे और भारतीय जीवन में नयी धारा-तरंगों के उत्तेजक सिद्ध हुए। इन दोनों धर्मों ने हिन्दू जीवन-दर्शन में नयी अनुभूतियाँ जोड़ीं, नये परिज्ञान कराए और उपस्थित कीं नयी परम्पराएँ जो युगों तक भारतीय जीवन की धारा को प्रवाहित करती रहीं। किन्तु विश्वास ने अन्ध विश्वास उत्पन्न किया और फलतः कालान्तर में सत्यं, सुन्दरं शिवं तथा धर्म के प्रकाश-स्तंभ धूमिल से हो उठे। यों तो सामान्य जनता में प्राचीन रूढ़ियाँ जमी-सी रहीं, किन्तु विचारकों, साधकों, योगियों, साहित्यिकों आदि ने विचार-विच्छेद उत्पन्न किया। इस व्यामोह को पुनः तोड़ा अद्वैत वेदान्त ने जिसके प्रतिपादक हुए भारतीय दर्शन के आकाश-भास्कर श्री शंकराचार्य। भगवान् महावीर तथा बुद्ध की जीवन-गर्भित अनुभूतियाँ अन्ध विश्वास के गर्त में समा-सी गयी थीं। युगों से समाहित जीवन-धाराओं को प्रकाश-किरणों से चमकाना पुनः अनिवार्य हो गया और भारतीय जीवन-दर्शन में जो अभिनव प्रेरणाएँ सदा से उठती रही हैं उनकी उद्भावना भी होनी ही थी।

वेदान्त के विविध रूप

§. [१५] शंकर का अद्वैत वेदान्त, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद हमारे पश्चात्कालीन जीवन-रहस्य की उद्भावना करते हैं। शंकर ने जो व्यावहारिकता एवं मिथ्या का भेद बतलाया वह सामान्य बुद्धि के परे की वस्तु थी। जगत् को शून्य मानना 'शून्यवाद' का विधायक हुआ। विज्ञानभिक्षु नामक विचारक ने तो यहाँ तक

कहा कि शंकर छिपे हुए शून्यवादी (प्रच्छन्न बौद्ध) हैं और उनका मायावाद हमारे सभी नैतिक प्रयत्नों, गूढ़तम भक्ति-भावनाओं को ऐन्द्रजालिक बताता है। निगु'ण, निर्मम और निष्ठुर ब्रह्म की ओर से रामानुज ने लोगों का मन दूसरी ओर लगाया। रामानुज ने जीव और जगत् की वास्तविकता, पारमार्थिकता तथा सत्ता घोषित की। उन्होंने हमारे जीवन के प्रयत्नों के क्षेत्र को सत्य जगत् समझा। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की विशिष्ट उद्भूत हुई और चल पड़ा एक विशिष्ट अद्वैतमूलक साहित्य जिसके विविध सूत्रधार हुए निम्बकाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि। हिन्दी-साहित्य में भी इस मार्ग का अवलम्बन हुआ। सूरदास, तुलसीदास आदि ने उसी परम्परा में अद्भुत काव्य-साहित्य दिया। वैष्णव एवं शैव की परम्पराएँ अत्यधिक प्रचारित हुईं। कबीर आदि सन्त-कवियों की निर्गुण वाणी साधनापरक थीं और उनका गायन हिन्दू मात्र के घर-घर में होता है।

आधुनिक जीवन-दर्शन

§. [१६] आधुनिक युग में लोकमान्य गंगाधर तिलक ने 'गीता-रहस्य' से हमें 'कर्मयोग' का पाठ पढ़ाया और षट्दर्शनों की पूर्ण अभिव्यञ्जना करते हुए हमें भारतीय दर्शन के मर्म को समझाया। फिर तो आदि के सभी प्रयत्न युग-पुरुष महात्मा गांधी के जीवन-दर्शन में उतर आए। महात्मा गाँधी का अनासक्ति योग कर्मयोग का ही विशिष्ट रूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू जीवन-दर्शन मनोवैज्ञानिक धरातल पर वैज्ञानिक ढंग से उतरता चला आया है।

महात्मा गांधी ने जो दर्शन उपस्थित किया वह सारे देश के सामूहिक प्रयत्नों में समाहित हो उठा। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक, शिक्षा-सम्बन्धी सभी जीवन के गहनतम विषय महात्मा गांधी के सत्य के प्रयोगों में समन्वित हो उठे। महात्मा गांधी जहाँ घोर ज्ञान-योगी, कर्म-योगी थे, वहाँ वे घोर भक्ति-योगी भी थे। उनमें धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी और था भारतीय जीवन के प्रति अटूट विश्वास। मैंने आरम्भ में ही कहा था कि भारतीय जीवन-

दर्शन के चार प्रमुख प्रकाश-स्तंभ हैं : ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा धर्म जिसे हम दार्शनिक ढंग से सत्यं, सुन्दरं, शिवं तथा विश्वास कह सकते हैं। इन्हीं स्तंभों पर हमारे सारे जीवन-प्रयत्नों का प्रासाद खड़ा है।

हमारा उत्तरदायित्व

§. [१७] अतः हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। हमें देखना है कि हम कहाँ हैं, हमारा सत्य कहाँ है, हमारी सौन्दर्यानुभूति, हमारा कल्याण, हमारा विश्वास कहाँ अडिग हो सकता है। हमें महात्मा गान्धी के सम्पूर्ण साहित्य को पढ़ना है। योगिराज अरविन्द की वाणी, दर्शन और योग को सामान्य व्यवहार में लाना है। दुख की बात है कि हम पाश्चात्य जड़वादी भावनाओं से ओतप्रोत हो रहे हैं। हमारे दार्शनिकों ने शताब्दियों पूर्व अपने जीवन-दर्शन से जड़वाद को काट दिया था और सत्य का दर्शन किया था। मार्क्सवाद, व्यवहारवाद अथवा जड़वाद जो केवल ज्ञान की सीमा पर आधारित हैं क्या हमें जीवन से दूर नहीं ले जायेंगे? क्या उनसे हमारे भाव-जगत् तथा कर्म-जगत् तथा विश्वास की भित्ति हिल नहीं जायगी? क्या हमारे पास प्रचुर धन नहीं है कि हम अन्यत्र हाथ फैलाएँ? आज विश्व में त्राहि-त्राहि मची हुई है, लोग प्रकाशहीन हो रहे हैं। क्या विज्ञान हमें चकाचौंध नहीं कर रहा है? क्या हमारी आँखें सभी कुछ देख पा रही हैं? स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त हमें पुनः अपने को समझना है, सत्य, सुन्दर, शिव तथा विश्वास को अपने मानस पटल पर उतारना है और प्रकाश फेंकना है सम्पूर्ण विश्व पर। हिन्दू जीवन-दर्शन की यही चेतना है।

अन्यतम भौतिक प्रयत्न

गणित का अभ्युदय

§. [१८] आदि काल में ही भारतीयों ने गणित के क्षेत्र में उन्नति कर ली थी। अंक-लेखन की आधुनिक प्रणाली, जिसमें ९ अंकों और शून्य चिह्न का प्रयोग होता है, मानव-बुद्धि का उत्कृष्टतम तथा महत्त्वपूर्ण आविष्कार है। इस प्रणाली का उद्भव भारत में ही हुआ। यूरोप में यह प्रणाली अरबों द्वारा गयी। अरबों ने इसे 'हिन्दसा' कहा है।

रेखा-गणित, अंक-गणित, तथा बीज-गणित का बीजारोपण भारत में ही हुआ यद्यपि इनका पूर्ण विकास पश्चात्कालीन युगों में ग्रीस में हुआ। भारतीयों ने गणित के क्षेत्र में 'विश्लेषण' (Analysis) की अद्भुत प्रणाली निकाली और गणित की त्रिवेणी प्रवाहित की। ईसा की प्रथम शताब्दी के आरम्भ में दशमलव अङ्कगणित का आविष्कार भारत ने ही किया। इस प्रकार भारतीय गणितज्ञों ने 'शून्य' के प्रतीकों का निर्माण कर गणित में एक क्रान्ति मचा दी। पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट आदि गणितज्ञों तथा ज्योतिषियों ने इसे पूर्णरूपेण परिमार्जित कर अङ्कगणित के अन्य स्वरूपों, यथा—योग, अन्तर, गुणा, भाग आदि का उपयोग किया। भिन्न के विविध रूपों, 'अंश' एवं 'हर' का उपयोग भारतीय ही है। त्रैराशिक के नियमों से अनुपात तथा समानुपात की विधियाँ पूर्णतः भारतीय हैं। आश्चर्य है, अभी तक विश्व के गणितज्ञों ने भारत के इस ऋण को नहीं जाना है। जहाँ ग्रीकों की प्रशंसा के पुल बाँध दिए जाते हैं, वहीं ग्रीकों के गणित-गुरु भारत का नाम तक नहीं लिया जाता! आज से १५०० वर्ष पूर्व जो गणित भारत के विद्यार्थी पढ़ते थे उसी को आधुनिक यूरोप तथा अमेरिका के विद्यार्थी पढ़ते हैं! ग्रीकों ने रेखागणित को परिमार्जित किया और हिन्दुओं ने अङ्कगणित को। अङ्कगणित को अरबों ने हिन्दुओं से सीखा और उसे 'इल्म हिन्दसा' की संज्ञा दी और पुनः उनसे इटैली तथा यूरोपीय देशों ने उसे सीखा। अठारहवीं शताब्दी तक भारतीयों द्वारा प्रदत्त गणित में कोई परिवर्तन तथा सुधार नहीं हुआ। हिन्दुओं ने $\sqrt{२}$ ऐसी करणी संख्याओं का प्रबोध कराया और गणित को एक विशिष्ट गति दी। भावी समाज के लिए यह देन हिन्दुओं की विशिष्ट भौतिक प्रगति का द्योतक है। हिन्दुओं ने बीजगणित का भी आविष्कार किया और संख्याओं के स्थान पर अक्षरों के प्रतीक रखे। ग्रीकों को यह बात सूझी ही नहीं। हिन्दुओं ने समीकरण के सिद्धान्त भी निकाले। श्री भास्कराचार्य ने क्वैड्रेटिक एक्वेशन (Quadratic Equation) का भी आविष्कार किया। जैन दार्शनिकों ने अनन्त (Infinity)

की भी अभियोजनाएँ उपस्थित कीं। उन्होंने ने गणनानन्त (Infinite), अनन्तानन्त (Infinitely infinite), एकानन्त (One dimensional infinite) एवं अनेकानन्त (Many dimensional infinite) की उद्भावनाएँ कीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संख्यावाचक अनन्त की अनुभूति जैनों की देन है। श्री ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने 'अनन्त' को भिन्न के रूप में दर्शाया और उसे अंश के नीचे शून्य रखकर घोषित किया।

§. [१६] अशोक तथा गुप्त-काल के बीच भाँति-भाँति के भौतिक प्रगतिसूचक आविष्कार हुए। इस प्रकार गणित तथा ज्योतिष के प्रयत्नों से 'दिक्' तथा 'काल' के ज्ञान का वर्द्धन हुआ और भौतिक-शास्त्र तथा रसायन-शास्त्र की प्रभूत उन्नति हुई।

चित्र-कला मूर्ति-कला, स्थापत्य-कला, संगीत-कला तथा नृत्य-कला

भारतीयों ने आदि काल से सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किए। शिल्पकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, मूर्तिकला, तक्षण-कला आदि में वे किसी को अपना सानी नहीं मानते थे। अजन्ता की गुहा-चित्रकारियाँ आज भी विश्व के चित्र-दर्शियों को चकित करती हैं। कार्ले, भाँजा, एलफैण्टा तथा अनेकानेक गुहाएँ प्राचीन काल की तक्षण-कला के अद्भुत प्रतीक हैं। एलौरा का शिव-मन्दिर स्थापत्य एवं तक्षण-कला का अलौकिक नमूना है। इसी प्रकार सम्पूर्ण देश में बिखरे स्मारक तथा भग्नावशेष, जिनके नामों की संख्या बहुत है, यह घोषित करते हैं कि भारतीयों ने जीवन के मूल्यों की पहचान प्रत्यक्ष रूप में करनी चाही। उन्होंने परोक्ष सत्ता की अभिज्ञता को न केवल चिन्तनों, भावों द्वारा व्यक्त किया, प्रत्युत उन्होंने उसे क्रिया-रूप में रख छोड़ा। विश्वास पर अडिग हिन्दू-जीवन विविध प्रयत्नों में संलग्न रहा और उसकी भौतिक प्रगति भाँति-भाँति के साधनों-प्रसाधनों में अभिव्यञ्जित होती चली गयी।

आदि काल से ही भारतीय चित्र-कला के विशेषज्ञ रहे हैं।

मिट्टी के बर्तनों की चित्रकारी सैन्धव सभ्यता से ही प्रसिद्ध हो चली थी।

(१) चित्र-कला

वैदिक काल से बौद्ध युग तक के साहित्य में चित्र-निर्माण की चर्चा होती आयी है जिससे स्पष्ट होता है कि आदि काल से ही चित्र-कला को महत्ता प्राप्त थी। अजन्ता की गुहा-चित्रकारियाँ, गुहा-चैत्यों की दीवारों पर अङ्कित रंग-बिरंगे रेखा-चित्र आधुनिक चित्र-पारखियों को चकित करते हैं। ये चित्र अति सजीव, वास्तविक एवं मनोरम हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र से भी प्रकट होता है कि आदि भारत में चित्र-कला का वैज्ञानिक अध्ययन होता था। अजन्ता के समान ग्वालियर में 'बाघ' स्थान पर गुहा-चित्रकारी तथा लङ्का में भारतीय छाप आज भी दर्शकों को मुग्ध करने वाली है। 'एलीफैंटा' (बम्बई) की शैली अजन्ता-शैली से मिलती-जुलती है। चित्र-कला की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खुली थीं जहाँ चित्रकला-विशेषज्ञ "चित्र-कला को चित्र-भाषा की संज्ञा देते थे"।

जीवन के चौथे मूल्य 'विश्वास' ने सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं के समन्वित रूप को मूर्ति-कला के रूप में भली भाँति अभिव्यञ्जित किया। तक्षकों ने

(२) मूर्ति-कला

बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ तराशीं और उनमें वास्तविकता, सजीवता एवं आकर्षण की रंगीनियाँ उभार दीं। इस विषय में भारतीयों ने अपनी शैली अर्थात् "भारतीय-शैली" के अतिरिक्त कई शैलियाँ अपनायीं। कालान्तर में गान्धार-शैली ने भी अपना रंग दिखलाया। गान्धार-शैली की

भारतीय शैली तथा गान्धार-शैली

प्रमुख विशेषता थी भगवान् बुद्ध के जीवन की घटनाओं का क्रमिक अङ्कन। यूनानी प्रभाव इस शैली में स्पष्ट था, क्योंकि वस्त्रों एवं केशों का विन्यास पूर्णतः यूनानी था। किन्तु वाह्यावरण के भीतर भारतीयता ही थी। क्रमशः गान्धार-शैली गुप्त-काल के आते-आते पूर्णरूपेण भारतीय हो गयी। अशोककालीन सारनाथ का सिंह-शीर्ष अपनी विशिष्टता रखता है। स्तम्भों पर अंकित पशु, पक्षी, लता, पुष्प की

आकृतियाँ चकित करने वाली हैं। इसी काल की मथुरा में प्राप्त यक्ष-मूर्ति, साँची के पास बेसनगर की नारी-मूर्ति, पटना एवं दीदारगंज में प्राप्त मूर्तियाँ विशिष्ट स्थान रखती हैं। शुंग-काल में तक्षित मूर्तियाँ बड़ी भव्य हैं। साँची, भारहुत (नागोद राज्य) के स्तूप, उनका घेरा (Railings) तक्षण-कला के विशिष्ट प्रतीक हैं। इन तक्षित वस्तुओं से तत्कालीन स्थापत्य, चित्र, संगीत, वस्त्र, आभरण, आभूषण, शृङ्गार आदि पर भी प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन मूर्तियाँ तो सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रस्तर एवं मिट्टी की मूर्तियों के अतिरिक्त धातु-प्रतिमाएँ भी श्लाघनीय हैं।

गुप्त-शैली

गुप्तकालीन मूर्तियाँ अपनी सुघरता तथा सजीवता में अपना सानी नहीं रखतीं। घुँघराले केश, नुकीली नासिका, नुकीला चिबुक आदि अंग-प्रत्यंग मूर्तियों में भव्यता के साथ सजीवता के द्योतक हैं। सारनाथ की धर्म-चक्र-प्रवर्तन-मुद्रा एवं मथुरा की अभय-मुद्रा में बुद्ध-मूर्तियाँ विस्मयकारिणी हैं। गुप्तकालीन महरौली (दिल्ली के पास) का लौह-स्तम्भ धातु-शिल्प-कला का अद्भुत नमूना है जो शताब्दियों धूप एवं वर्षा की भयानक मार सहने पर भी जंग आदि ऋतु-व्यतिरेक से अछूता रहा है। गुप्तकालीन मूर्ति-कला का प्रमाण बृहत्तर भारत (पूर्वीय द्वीप-समूह) में भी पड़ा और मलाया, सुमात्रा, जावा, अनाम, कम्बोडिया आदि देशों की मूर्ति-कला गुप्त-कला की छाप से अपना पीछा न छुड़ा सकी। गुप्त-काल के उपरान्त भारतीय मूर्ति-कला कई शैलियों में अवतरित हुई, यथा—वाकाटक, पल्लव, चोल, पाल आदि शैलियाँ किन्तु गुप्त-काल की गरिमा अपने ढंग की होकर रही।

आदि भारत की भवन-निर्माण-कला (स्थापत्य = Architecture) भी बेजोड़ थी। हमने बहुत पहले ही मोहेंजोदारो एवं हरप्पा में प्राप्त सैन्धव स्थापत्य का दिग्दर्शन कर लिया है (देखिए पृष्ठ ५१–५३ एवं ५६–५८)। नगर-भवन, वीथियाँ, स्नान-कुण्ड आदि सैन्धवों की निर्माण-कला के ज्वलन्त उदाहरण हैं। भवन-निर्माण के लिए एक निश्चित योजना अवश्य थी। वैदिक काल में भी यत्र-तत्र भवन-निर्माण की झाँकी

मिल जाती है। मौर्यकाल के भवन लकड़ी के होते थे, अतः उनके ध्वंसावशेष भी नहीं मिलते। चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य-भवन ईरान के सूसा (देखिए पृष्ठ २४ एवं ३८) के राज-भवन से भी अधिक सुन्दर था, ऐसा यूनानियों ने लिखा है। अशोक के स्तम्भ स्थापत्य की गरिमा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ये स्तम्भ चुनार (उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले में) की पहाड़ियों के प्रस्तर-खण्डों से निर्मित हुए थे। ये लगभग ४० फुट ऊँचे हैं और क्रमशः ऊपर पतले होते चले गए हैं।

(३) वास्तु-कला :

सैन्धव-कला

मौर्य-कला

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन पर पशुओं, पक्षियों, लताओं एवं पुष्पों की आकृतियाँ तक्षित हैं। पशुओं में सिंह, हाथी, घोड़े, बैल प्रमुख हैं। ये स्तम्भ बड़े भव्य, चिक्कण एवं चमकीले हैं। सारनाथ के स्तम्भ की पालिश अद्वितीय है। भला देश भर में बिखरे ये स्तम्भ चुनार से किस प्रकार ले जाए गए! धन्य थी उन दिनों की इञ्जि-नीयरिंग! बराबर की पहाड़ी (गया) पर आजीविकों के लिए निर्मित गुहाएँ मनोरम हैं और उनकी छतें, दीवारें शीशे की भाँति चमकती हैं। मौर्यकालीन चैत्य-गृह (प्रार्थना-भवन) भी भव्य हैं। ऐसे चैत्य बम्बई प्रान्त के नासिक, भाजा, वेदिसा, कार्ले आदि पहाड़ियों पर अवस्थित हैं। गुप्तकालीन स्थापत्य तो अद्वितीय है। सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्तकालीन है। यह अपनी कल्पना, आकार एवं अलंकार में उच्चकोटि का है। अजन्ता, एलोरा एवं बाग के कुछ गुहा-विहार गुप्तकालीन हैं। एलोरा का विश्वकर्मा चैत्य अपने ढंग का है। देवगढ़ (झाँसी, उत्तर-प्रदेश) के मन्दिर, भीतर गाँव (कानपुर, उत्तर-प्रदेश) का मन्दिर आदि गुप्तकालीन स्थापत्य के ही नमूने हैं। भीतर गाँव का मन्दिर चित्रित ईंटों से निर्मित था। साँची का प्रस्तर-मन्दिर भी उसी काल का है। 'शिखर-शैली' का आरम्भ गुप्त-काल से ही माना जाता है। उत्तरी

गुप्त-कला

शिखर-शैली

भारत के शिखर-युक्त मन्दिर इस शैली के नमूने हैं। उड़ीसा का भुवनेश्वर-मन्दिर एवं पुरी का जगन्नाथ-मन्दिर छत्तरपुर राज्य (मध्यभारत) का खजुराहो मन्दिर इसी शैली के द्योतक हैं।

दक्षिणी भारत की भवन-निर्माण-कला : पल्लव-शैली

उत्तरी भारत की भवन-निर्माण-कला से पृथक् दक्षिणी शैली है जिसे द्राविड़ शैली की संज्ञा मिली है। इस शैली का विकास सर्वथा स्वतन्त्र है। पल्लव-काल के मन्दिर इस शैली के परिचायक हैं अतः इसे पल्लव-शैली भी कहा जाता है। इस शैली की विशेषता है चट्टानों को काट-काट कर मन्दिरों का निर्माण करना। इस शैली के चार विशिष्ट आलेखन हैं जिन्हें (१) महेन्द्र-शैली (२) नरसिंह-शैली (३) राजसिंह-शैली तथा अपराजित-शैली कहते हैं। प्रथम शैली का प्रवर्तन राजा महेन्द्र वर्मन ने किया था। इस शैली के मन्दिर ठोस चट्टानों को काट कर बने हैं और उनकी विशेषताएँ हैं वृत्ताकार लिंग, द्वारपाल, तोरण, स्तम्भ आदि। नरसिंह-शैली में मामल्लपुरम् का सात रथों वाला मन्दिर अति प्रसिद्ध है। आठ कोण वाले सिंह-स्तम्भ तथा भित्तियों पर राजा-रानी की आकृतियाँ इस शैली की विशेषताएँ हैं। राजसिंह-शैली में काँची का कैलाश-मन्दिर महाबलिपुरम् के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। अपराजित-शैली में मन्दिर के लिंग ऊपर पतले होते चले गए हैं और शिखरों की गर्दन अधिक स्थूल है। यह चौथी शैली अन्त में चोल-शैली में परिवर्तित हो गयी। पल्लव-शैली ने कालान्तर में बृहत्तर भारत के पूर्वीय द्वीप-समूह में अपनी छाप छोड़ी, क्योंकि जावा, कम्बोडिया तथा अनाम के मन्दिरों के शिखर भी दक्षिणी भारत के शिखरों के समान हैं। दक्षिणी मन्दिरों एवं सुदूर दक्षिणी मन्दिरों में विभेदता भी देखने में आती है, क्योंकि द्राविड़ (पल्लव) मन्दिर स्तम्भों वाले हैं तथा अनाम, कम्बोडिया के मन्दिरों में स्तम्भ नहीं हैं। दक्षिणी भारत का स्थापत्य चोल-काल में अपनी अन्तिम चोटी पर पहुँच गया। चोल मन्दिर अपने विशाल विमानों, आँगनों, गोपुरों (मुख्य द्वारों) के लिए प्रसिद्ध

हैं। तंजोर एवं कालहस्ती के मन्दिर अपनी विशालता एवं दृढ़ता के लिए अति प्रसिद्ध हैं। क्या कहने हैं! चोलराज राजराज प्रथम द्वारा निर्मित तंजोर का राजराजेश्वर मन्दिर का विमान १६० फुट ऊँचा है और उसका आधार ८२ वर्ग फुट तेरह स्तरों (मंजिलों) पर अवस्थित है।

चोल-शैली

विमान का शिखर २५ फुट ऊँचा है और एक ही शिला-खंड से जो तौल में ८० टन है, निर्मित है। इसी प्रकार राजेन्द्र महेन्द्र ने अपनी गंगैकोण्डचोलापुरम् के समीप एक मन्दिर बनवाया। इसी प्रकार मदुरा, श्रीरंगम् तथा रामेश्वरम् में भी अनेक मन्दिर हैं।

दक्षिणी भारत के स्थापत्य की एक शैली है होयशल-शैली जिसमें निर्मित होयसलेश्वर का मन्दिर (द्वारसमुद्र में स्थित) अपनी सुन्दरता के लिए अति प्रसिद्ध है। उस मन्दिर की विशेषता है उसकी दीवारों पर सहस्रों की संख्या में घोड़ों, हाथियों तथा अन्यान्य पशुओं की आकृतियों का अङ्कन।

होयसल-शैली

आदि भारत ने भौतिक साधनों एवं प्रसाधनों को एकत्र करने में विश्व के इतिहास एवं सभ्यता में नये-नये अध्याय जोड़े हैं। अन्य ललित कलाओं के प्रवर्द्धन के साथ उसने संगीत-शास्त्र का भी प्रणयन किया। भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र अपनी प्रामाणिकता के लिए युगों से प्रशंसित है। इस अमूल्य शास्त्र-रत्न में कुछ अध्याय स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना और जाति पर भी हैं। भरत मुनि ने स्वर का वादी, संवादी, अनुवादी एवं विवादी के विशिष्ट भागों में विवेचन उपस्थित किया है। स्पष्ट है, स्वर-ज्ञान एवं विश्लेषण-विधान में उनकी पूर्ण गति थी। स्वयं कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में गीत, यान्त्रिक संगीत, नृत्य एवं वीणावाद्य के विषय में विवेचना उपस्थित की है। भारतीय मिलन में, वियोग में, यज्ञानुष्ठानों में, सामाजिक कृत्यों में, गान, वाद्य एवं नृत्य का उपयोग करते थे। आज भी भारतीय

(४) संगीत-कला एवं नृत्य-कला।

नारियाँ गाकर ही रोती हैं। संगीत एवं नृत्य चिन्ता को भुलाने, स्वास्थ्य की रक्षा एवं इन्द्रियों को अन्तर्मुख करने के लिए अपूर्व वैज्ञानिक साधन समझे जाते थे। नाद-ब्रह्म में पारंगत होना ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिए अनिवार्य-सा था। दाम्पत्य जीवन के सुख में संगीत का प्रचुर हाथ था, जैसा कि कालिदास के नाटकों एवं काव्यों के अध्ययन से झलकता है। नृत्य कई प्रकार के थे, यथा—खुरक, कुकुम, खंडिका, कुटिलिका, गलितक आदि। संगीत-शास्त्र में वर्णित राग-रागिनियों की व्यवस्था अति ही वैज्ञानिक है। इनके ज्ञान के लिए आलाप, ग्राम, ठाट, ताल, विलम्बित, द्रुत, मध्य तान, गमक आदि में पारंगत होना अनिवार्य माना गया था। कुछ राग ये हैं: भैरव, श्री वसन्त (मालकोष) पंचम (हिन्दोल), मेघ, नट नारायण (दीपक) आदि। संगीत-शास्त्रज्ञों ने ऋतु एवं कालों की सीमा के भीतर ही राग-रागिनियों की प्रतिष्ठा की है। सच है, आदि भारत ने अपने भौतिक प्रयत्नों में कुछ भी नहीं छोड़ा। आज का भारत अपनी अतीत-गरिमा पर कितना प्रफुल्ल होता है!

§. [२०] गुप्त-काल में हिन्दुओं की भौतिक प्रगति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गयी। सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व, उत्कृष्टतम एवं महत्त्वपूर्ण निर्माण-कार्य हुए। यदि हमें भारतीय भौतिक प्रगति का सच्चा दर्शन करना हो तो गुप्त-काल उसका सफल उदाहरण है। गुप्त-काल में युगों से चली आती हुई परम्परा समाहित हो उठी और वह ऐसा प्रकाश-चिह्न हो गयी कि आगे के युग उसी से प्रकाशित होते रहे। दक्षिण भारत में कला-कृतियाँ प्रस्तरों में विद्यमान हैं जिनका इतिहास अपूर्व है। भारतीयों ने, इस प्रकार, अपनी अनुभूति-प्रणाली में अपनी भौतिक प्रगति के सच्चे सुन्दर तथा कल्याणकारी साधन एकत्र किए जिनसे उनकी संस्कृति के विविध रूप खिलते गए।

गुप्त-काल की प्रगति

शासन, समाज एवं शिक्षा की व्यवस्था आदि

आदि भारत में कई प्रकार के शासन-सम्बन्धी प्रयोग हुए। गणतन्त्र-शासन-प्रणाली प्रचलित थी। लिच्छवि, वृज्जि, मल्ल

इत्यादि बौद्धकालीन गणतन्त्र इतिहास की सामग्री बन चुके हैं। आर्जुनायन्, यौधेय, मालव आदि पूर्व गुप्तकालीन गणतन्त्र अपनी विशिष्ट महत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। ऐसे शासन में निर्वाचन की प्रणाली थी। किन्तु एकतान्त्रिक शासन-प्रणाली का बोलबाला था,

शासन-व्यवस्था

क्योंकि साहित्य एवं धर्म में चक्रवर्ती सम्राट् की ही महिमा गायी गयी है और राजा देव-स्वरूप समझा गया है। राजा स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश नहीं होते थे। उनकी सहायता के लिए मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) होती थी। 'सभा' और 'समिति' की परम्परा तो डॉ० मजूमदार के शब्दों में वैदिक युग से चली आ रही थी। डा० जायसवाल ने तो "पौर एवं जानपद" की व्यवस्था को भी प्रमाणित करने की चेष्टा की है और कहा है कि राजा प्रजा की सम्मति से ही राज्य-शासन चलाता था। राजा प्रजा को अपनी सन्तति समझता था। अशोक महान् की उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं जो आज भी उसी रूप में उनके शिला-लेखों में विद्यमान हैं। कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है : प्रजा की प्रसन्नता में ही राजाओं की प्रसन्नता निहित है। अशोक ने कहा है : लोग मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ, उसी प्रकार प्रजा के सांसारिक एवं पारलौकिक हित तथा सुख की कामना करता हूँ। उन्होंने अपने प्रान्तीय शासकों को भी इसी प्रकार शासन करने के लिए उद्बोधित किया है (चौथा स्तम्भ-लेख)। गुप्तकालीन राजा तो भारतीय इतिहास में अपनी सुघड़ शासन-प्रणाली के लिए प्रसिद्ध हैं ही। गुप्तकाल आदि भारत का स्वर्णकाल कहा जाता है। यह सुन्दर शासन-प्रणाली का ही प्रतिफल था कि गुप्तकाल में बहुमुखी उन्नति हो सकी। फाहियान ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में इस कथन की पुष्टि की है। पुष्पभूतिराज महाराज हर्षवर्द्धन ने भी प्राचीन परम्परा को स्थिर रखा, जैसा कि हमें युवाँ च्वांग के भ्रमण-वृत्तान्तों से पता चलता है। केन्द्रीय शक्ति प्रान्तीय शासन पर कम हस्तक्षेप करती थी इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रजा-सुख के लिए ही शासन-प्रणाली

निर्मित थी। शासन-प्रणाली की भित्ति नीति तथा धर्म पर अवलम्बित थी। व्यक्ति-विकास के लिए किसी प्रकार का राजकीय अवरोध नहीं था।

संसार के इतिहास में भारतीय संस्कृति अति प्राचीन है और आज-तक अक्षुण्ण चली आयी है। भारतीय संस्कृति सदा गतिशील (Dynamic) रही। इसके पीछे एक बहुत ही सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था थी। भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के गहरे रंग में रँगा भारतीय समाज जीवन को पारलौकिक यात्रा के लिए पाथेय समझता था।

सामाजिक व्यवस्था

उनके लिए जीवन एक लम्बी यात्रा थी जिसमें कहीं भी विराम नहीं था। मृत्यु के उपरान्त इसकी गति में किसी [illegible] नहीं था। भारतीय अनन्त की ओर बढ़ते जाते थे वहाँ—जहाँ पहुँच कर दूसरा मार्ग नहीं होता, जहाँ सभी निर्विरोध एक ही बिन्दु पर पहुँच कर अपूर्व शान्ति का अनुभव करते हैं। हिन्दी के महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्राचीन भारतीय जीवन पर अक्षरशः लागू होती हैं:

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।"

भारतीय समाज में व्यक्ति को कर्तव्य-पालन के साथ आत्मोन्नति के लिए पर्याप्त साधन उपस्थित थे। उसके सामने युगों से चली आती हुई स्मृतियों में ग्रथित एवं धर्मशास्त्रों में सम्पूज्य परम्पराएँ थीं और थे सफल जीवन के निर्माण के लिए निर्देश। सामाजिक जीवन का आदर्श साधन (Means) की अपेक्षा साध्य (End) की प्राप्ति में निहित था। समाज चार वर्णों एवं चार आश्रमों की सुनिश्चित प्रणाली पर आधारित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र क्रम से धार्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों के पोषक, देश-रक्षा तथा लोक-शासन के नियन्ता, धन-धान्य के सम्वर्द्धक एवं सेवा-कार्य में लीन थे। इस प्रकार कालान्तर में श्रम-विभाजन (Division of Labour) की परम्पराएँ बँधीं। भारतीय समाज की यह एक विशेषता है जिसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही। इसी सामाजिक व्यवस्था से कालान्तर में

आर्थिक संघों, पूगों एवं निगमों (Corporate bodies, Communities and Guilds) आदि की परम्पराएँ फूटीं। आदि भारतीय समाज सहकारिता के बल पर शताब्दियों बढ़ता आया। चार वर्णों की आदि परिपाटी में क्रमशः संकीर्णता अवश्य आ गयी, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उस संकीर्णता का प्रमुख कारण था संस्कृति को पूत रूप में प्रसरित होने देने की प्रबल आकांक्षा। चार वर्णों के अतिरिक्त 'ब्रह्मचर्य', 'गृहस्थ', 'वानप्रस्थ' एवं 'संन्यास' चार आश्रम थे। ब्रह्मचर्याश्रम में, गुरुकुल में विद्याध्ययन २५ वर्ष तक होता था, फिर गृहस्थाश्रम का काल आता था और व्यक्ति विवाहोपरान्त कुशल गृहस्थ बन कर अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष के पुरुषार्थों की प्राप्ति में लगता था। पचास वर्ष उपरान्त पारिवारिक जीवन से विरक्ति होती थी और व्यक्ति चिन्तन में लगता था। पचहत्तर वर्ष इस प्रकार बीत जाते थे। अन्तिम आश्रम था संन्यास जिसमें व्यक्ति ईश्वर-प्राप्ति तथा मोक्ष के लिए घर-द्वार छोड़ जंगल में चला जाता था। यही थी प्राचीन भारतीय समाज की वैज्ञानिक व्यवस्था, जो विश्व के इतिहास एवं सभ्यता में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

§. [२१] भारतीय शिक्षा के मूल में भी सत्यं, शिवं, सुन्दरं तथा विश्वास के जीवन-मूल्य थे। आदि काल से बढ़ कर जो परम्परा निसृत हुई वह न-केवल आध्यात्मिक रही, प्रत्युत उससे व्यावहारिकता को भी बल मिला। भारतीय वास्तविक जगत् से, जैसा कि बहुधा लोग कहा करते हैं, कभी पीछे नहीं हटे। उन्होंने, जैसा कि मैंने अभी कहा है, अपने चिन्तनों, भावों तथा क्रियाओं में ऐसी योजना की जो उन्हें अमर करने वाली थी और उनकी युग-युग की सम्पत्ति बनने वाली थी। वैद्यक-शास्त्र, सर्जरी आदि उपयोगी विज्ञानों में उन्होंने अपने को पारंगत किया। विशेषता प्राप्त करना शिक्षा का एक प्रमुख

शिक्षा-व्यवस्था; शिक्षा-प्रणाली; महाविद्यालयों में धर्म, विज्ञान, वैद्यक साहित्य, संगीत, न्याय, शिल्प आदि व्यावहारिक विज्ञानों की व्यवस्था

लक्ष्य था। यदि ऐसा न होता तो सुश्रुत तथा चरक ऐसे प्रामाणिक वैद्यकों तथा सर्जनों की बहुलता न पायी जाती। चीर-फाड़ करना, बाल तक को दो टुकड़ों में विभाजित करना, क्षतों की पूर्ति करना आदि भाँति-भाँति के उनके प्रयत्न थे। ये विद्याएँ कितनी उपयोगी थीं, व्यावहारिकता के रंगों से रंगी! भौतिक प्रगति इस प्रकार लहराती युगों को पार करती चली गयी। वैद्य, सर्जन, चिकित्सक मृत पशुओं तथा मनुष्यों की चीर-फाड़ करके अभिज्ञता प्राप्त करते थे, भाँति-भाँति के तीखे यन्त्रों का निर्माण करते थे। सुश्रुत का ग्रन्थ इन कलाओं, विद्याओं से भरा पड़ा है। शरीर के अन्तरावयवों की अभिज्ञता में विशेषताएँ प्राप्त की जाती थीं। आयुर्वेद की औषधियों के गुण, प्रभाव तथा विभिन्न प्रकार के रसों तथा भस्मों के तैयार करने की विधियों का हमारे यहाँ बहुत पहले वैज्ञानिक विकास हुआ था।

सैनिक शिक्षा तो व्यावहारिक थी ही। उसके साधनों की पूर्ति में धातु-विद्या का ज्ञान अपेक्षित था और इस विषय में भारतीय सदा से अग्रगण्य रहे हैं। व्यावसायिक शिक्षा भी अपने ढंग की अकेली थी। क्रय-विक्रय की पद्धति भी एक कला समझी जाती थी। भाँति-भाँति के शिक्षा-केन्द्र स्थापित थे जहाँ शास्त्रों, विज्ञानों का अध्ययन-अध्यापन होता था। ललित कलाओं में तो आदि काल से अभिरुचि रही है जिनके प्रयत्नों की चर्चा मैंने आरम्भ में कर दी है। संगीत, नृत्य तथा उनकी व्यावहारिकता का सम्मान सर्वत्र होता था।

भाँति-भाँति के शिक्षा-केन्द्र स्थापित थे जिनमें तक्षशिला, नालन्दा आदि अति प्रसिद्ध थे। इन विश्व-विश्रुत विश्व-विद्यालयों में दूर-दूर के देशों के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे और वहाँ सभी प्रकार के साहित्यिक, धार्मिक, दार्शनिक कलात्मक, वैज्ञानिक अध्ययन-अध्यापन होते थे। शिक्षा-प्रणाली में व्याख्यान, वाद-विवाद, व्यक्तिगत निर्देश की विशिष्ट परिपाटियाँ सम्मिलित थीं। वाद-विवाद को विशेष महत्त्व दिया जाता था। संगीत, नृत्य, चित्र, तक्षण आदि ललित कलाओं की शिक्षा के लिए पृथक्-पृथक् पाठशालाओं की व्यवस्था थी।

बृहत्तर भारत : भारतीय उपनिवेश एवं भारतीय संस्कृति का प्रसार

§. [२२] पहले ही कहा जा चुका है कि आदि भारत ने अपनी संस्कृति के प्रसार में भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सक्रियता प्रदर्शित की। अरबों ने भारत से बहुत कुछ सीखा और अपने भारतीय ज्ञान को यूरोपीय देशों में प्रसारित किया। इसके कई शताब्दियों पूर्व ई० पू० तीसरी शताब्दी में अशोक महान् ने बौद्ध धर्म एवं शान्ति की चेतनाएँ एशिया के अन्य देशों में भी भेजीं। उनके पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री (?) संघमित्रा उनके सन्देश लंका तक ले गए। क्रमशः लंका, ब्रह्मा आदि देशों में हीनयान बौद्ध धर्म फैल गया। कालान्तर में बौद्ध धर्म मध्य एशिया में भी फैला और कुषणकालीन बौद्धों ने भारतीय संस्कृति को वहाँ के कण-कण में समाहित कर दिया, जैसा कि हमें अर्वाचीन खुदाई एवं खोजों से पता चलता है। आधुनिक खोतान के चतुर्दिक भारतीय उपनिवेश स्थापित हो गये थे। यह थी भारतीयों की संस्कृति-प्रसार-योजना!

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार

क्रमशः बौद्ध धर्म ने आदि चीन को दीक्षित किया और भारत एवं चीन में धार्मिक तथा बौद्धिक सम्पर्क अमिट होकर रह गया। फाहियान, युवाँ च्वाँग, इत्सिंग आदि चीनी बौद्ध यात्रियों की भ्रमण-कथाएँ भारतीय आकर्षण के प्रतीक हैं। इन जिज्ञासुओं ने भारतीय संस्कृति से गर्भित बहुत-सी पुस्तकों, हस्तलिपियों, मूर्तियों आदि से चीन को अभिसिंचित एवं अनुप्राणित किया। भारत से भी कितने विद्वान् चीन में गए। क्रमशः कोरिया एवं जापान में भी भारतीय धर्म की गहरी छाप पड़ी। तिब्बत में भी बौद्ध धर्म का प्राबल्य बढ़ा। सातवीं शताब्दी में तिब्बत के राजा स्रांग-सैन-गैम्पो (Srong-San-Gampo) ने अपना एक विवाह नेपालराज की पुत्री तथा दूसरा चीनी सम्राट् की पुत्री से किया और उन रानियों से प्रभावित हो बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि तिब्बत में भारतीय

चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रसार

संस्कृति की छाप पड़ी। भारत से भी बहुत से बौद्ध तिब्बत में गए। बंगाली-भिक्षु अतीस का नाम तिब्बत में गौरव के साथ लिया जाता है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप बहुत-से बौद्ध ग्रन्थ तिब्बती भाषा में अनूदित हुए जो आज 'तंजूर' एवं 'कंजूर' के संग्रहों के रूप में प्रसिद्ध हैं।

आदिकालीन अफगानिस्तान भारत का ही एक अंग था। वहाँ की संस्कृति भारतीय थी, जैसा कि आज की खुदाई एवं खोजों से स्पष्ट है।

अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति

फाहियान एवं युवाँ च्वाँग के कालों में वहाँ भारतीय परम्पराएँ कुलाँचें मार रही थीं। अलबरूनी का यह वाक्य ऐतिहासिक महत्ता रखता है: इस्लाम के जन्म के पहले, ईरान, खुरासान, ईराक, मोसल तथा सीरिया के कई भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। आज खुदाई से वहाँ स्तूपों, विहारों के अवशेष प्राप्त होते हैं।

वास्तव में, भारतीय संस्कृति का बृहद् प्रसार पूर्वीय द्वीप-समूहों में पर्याप्त रूप से हुआ। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भारतीय साहसिकों ने अपने जल-पोतों का विशेष सन्तरण पूर्व की दिशा में किया था। जातक-कथाओं एवं कथा-सरित्सागर में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि बहुत-से भारतीय राजकुमारों ने निर्वासित होने पर अपनी सत्ता समुद्र-पार के द्वीपों में स्थापित की। उन उपनिवेशों में

पूर्वीय द्वीप-समूहों में भारतीय संस्कृति का प्रसार

भारतीय व्यापार, राजनीति, धर्म, भाषा, साहित्य, कला आदि का प्रचुर प्रचार हुआ। इस प्रकार जो भारतीय संस्कृति पूर्वीय उपनिवेशों में स्थापित हुई वह पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों तक अक्षुण्ण रही। अन्त में अरबों के आक्रमणों के फलस्वरूप भारतीय उपनिवेशों की गरिमा श्री-हीन हो गयी। आज के पूर्वीय द्वीप-समूहों में चम्पा, कम्बुज, श्री-विजय-साम्राज्य, जावा, बाली, बोर्नियो आदि के भारतीय उपनिवेश भारतीय संस्कृति की छाप से गर्भित थे। यद्यपि आज इन उपनिवेशों की अधिकांश जनता अरबों के आक्रमण एवं आधिपत्य के कारण मुसलमान है, किन्तु उनकी परम्पराओं में

भारतीयता के चिह्न अब भी विद्यमान हैं। उनकी भाषा में भारतीय साहित्य एवं भाषा के शब्द पाये जाते हैं और उनके जीवन में अब भी भारतीयता की छाप है। वहाँ की प्राचीन कला भारतीय है। वहाँ के अगणित भग्न मन्दिरों, भवनों आदि पर भारतीय वास्तुकला, तक्षण-कला चित्रकारी आदि की छाप है। ये उपनिवेश सिद्ध करते हैं कि आदि-कालीन भारतीय कितने कुशल साहसिक थे और उनमें अपने धर्म एवं संस्कृति के प्रसार की भावना कितनी बलवती थी।

आदि भारतीय व्यापार

§. [२३] गत विवेचनों से स्पष्ट होता है कि आदिकालीन भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विश्व के सुदूर देशों से भी था। पश्चिमी देशों में बेबी-लोनिया, सीरिया, मिश्र तथा यूरोप से व्यापारिक सम्पर्क स्थापित था और भारतीय व्यापारी मोती, मूल्यवान् प्रस्तर-खण्डों, मसालों, सूती कपड़ों का व्यापार करते थे। अपने व्यापारिक उद्योग में बहुत-से भारतीय अरब सागर के द्वीपों में बस भी गए जिनमें सोकोत्रा का उपनिवेश प्रसिद्ध था। भारतीय एवं रोमक व्यापार तो ऐतिहासिक महत्ता रखता है। रोमक इतिहासकार प्लिनी (Pliny) के इस उद्‌घोष से कि 'रोमक सोना और चाँदी भारत में चला जाता है और रोमक लोग दिन-प्रति-दिन दरिद्र होते जा रहे हैं' यह प्रकट होता है कि भारतीय वस्तुओं के क्रय में रोमकों को सोना एवं चाँदी देना पड़ता था। पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत में प्राप्त रोमक सिक्के प्लिनी के उद्‌घोष को प्रमाणित करते हैं। व्यापारिक उद्योगों के फलस्वरूप रोमक सम्राटों एवं भारतीय राजाओं में दौत्य सम्बन्ध भी स्थापित हुआ। पाण्ड्यराज ने ई० पू० २६ में रोमक सम्राट् आगस्टस के पास अपना दूत भेजा था। सिकन्दरिया के बन्दरगाह द्वारा यूरोपीय देशों से भारतीय व्यापार होता था। भारतीय स्थल मार्ग द्वारा ईरान, सीरिया, एशिया माइनर से व्यापार करते हुए भूमध्य सागर के प्रायद्वीपों में पहुँचते थे। पूर्वीय द्वीप-समूह तो कालान्तर में भारतीय द्वीप हो गए और वहाँ पर भारतीय व्यापार प्रचुर मात्रा में होने लगा। मसाले तथा बहुमूल्य धातुओं के लिए ये द्वीप प्रसिद्ध थे।

इन द्वीपों से जहाजों द्वारा सामान लेकर भारतीय मध्य एशिया एवं यूरोप में जाते थे। व्यापार की मुख्य सामग्रियों में मोती, मूल्यवान् प्रस्तर-खण्ड, मसाले, महीन सूती कपड़े, रेशमी कपड़े तथा शृङ्गार के प्रसाधन होते थे। अश्वों, हाथियों एवं ऊँटों का भी व्यापार होता था। इन व्यापारों से स्पष्ट है कि भारत का जहाजी बेड़ा पर्याप्त सुगठित रहा होगा, क्योंकि सुवर्णभूमि (सूदूरपूर्व के भारतीय उपनिवेश) से सामानों को लेकर यूरोप तक पहुँचना हँसी-खेल नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिकालीन भारतीय भौगोलिक सीमा से ऊपर उठ मौलिकता की उन्नति के हेतु भी देश-विदेश में परिभ्रमण करते थे। एक यूनानी नाविक तथा टोल्मी (Ptolemy) ने अपनी भौगोलिक पुस्तक में इस विषय में भारतीय व्यापार एवं आवागमन का वर्णन किया है। व्यापारिक उद्योगों में इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय आदिकाल में बहुत बढ़े-चढ़े थे।

भौतिक प्रगति के ह्रास के कारण

§. [२४] यह तो हुआ हिन्दू जीवन-दर्शन की भूमिका में जीवन तथा भौतिक प्रगति का अवलोकन। अब मैं, बहुत ही संक्षेप में, माध्यमिक एवं आधुनिक काल की भौतिक प्रगति के ह्रास के कारणों को उपस्थित करता हूँ। ग्रीकों, चीनियों, अरबों एवं इटालियनों ने भारत की जिस भौतिक प्रगति की प्रशंसा के पुल बाँध दिए हैं और लम्बे-लम्बे उपाख्यान लिख मारे हैं, क्या कारण है कि कालान्तर में वही अपने पूर्व के वेग से नहीं बढ़ सकी और एक अगति-सी आ गई? बात यह हुई कि क्रमशः धर्माचारों से उत्पन्न अन्धविश्वासों ने भारतीय जीवन-दर्शन के एक प्रमुख मूल्य 'विश्वास' को कुण्ठित कर दिया। धर्म के अध्ययन पर ही विशेष बल दिया जाने लगा। इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, गणित, ज्योतिष का अध्ययन कम होने लगा और उनके स्थान पर धर्म, दर्शन, रीति तथा पवित्र व्यवहारों पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। व्यवसाय, उद्योग आगे न बढ़ सके। खोजों, आविष्कारों की प्रवृत्ति पर रुकावट आने लगी, क्योंकि धर्म में कही गई बातों के विरोध में जाने से नरक का भागी होना पड़ता था।

आवागमन तथा कर्मवाद के सिद्धान्तों ने धर्म की पृष्ठ-भूमि को जकड़ लिया। धर्म ने सामुद्रिक यात्राएँ समाप्त कर दीं। आदिकाल में जो भारतीय डैन्यूब की लहरियों पर नौका-संतरण करते थे और दूरस्थ द्वीपों में अपने उपनिवेश स्थिर करते थे, वे धर्माचारों के बन्धनों में बँध गए। इतना ही नहीं, विज्ञान की दुनिया में भी अन्धविश्वासों ने कुठाराघात किया। एक ही विज्ञान का उदाहरण यहाँ दिया जा सकेगा। 'ग्रहण' लगने का कारण धार्मिक पुस्तकों में "राहु" तथा "केतु" का ग्रसना माना जाता था। यह एक दुर्भाग्य था कि पुराणों ने इस असत्य कथन को उद्घोषित कर दिया। अब क्या था, प्रयोगों पर ताला पड़ गया। आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, वाराहमिहिर तथा भास्कराचार्य ऐसे गणितज्ञ तथा उद्भट ज्योतिषाचार्य 'ग्रहण' के वैज्ञानिक कारणों को जानते थे किन्तु उनमें इतना नैतिक बल नहीं था कि वे धर्म के विरोध में कुछ कह सकें। ब्रह्मगुप्त ने 'ग्रहण' के वास्तविक कारण को बताते हुए अन्त में पौराणिक बात को ही ठीक माना था!

क्या यह ब्रह्मगुप्त की भौतिक परिक्षीणता नहीं थी? इसी प्रकार कई अन्धविश्वासों से हमारी भौतिक प्रगति रुकती गई और हम लकीरों को पीटते रह गए। फिर मुस्लिम आक्रमणों तथा देश के विकेन्द्रीकरण से तो मानो भारतीयों की भौतिक प्रगति शताब्दियों के लिए अवरोधित हो गई। पराधीन हिन्दू प्रजा अपनी संस्कृति की रक्षा में ही लगी रही। छूआछूत, सामुद्रिक-यात्रा-बन्धन, जाति-व्यवस्था के दुर्गुणों आदि ऐसे सामाजिक जटिल प्रश्नों ने भौतिक प्रगति के चक्रों को जड़ीभूत-सा कर दिया। जहाँ हिन्दू जीवन तथा भौतिक गति प्रगति की ओर उन्मुख थी—वही अब रुक कर अगति हो उठी।

आज हम स्वतन्त्र हैं। आशा है, विश्वास है कि महात्मा गान्धी के जीवन-मूल्यों को जीवन में समाहित करता हुआ भारत अपने आदि गौरव को अक्षुण्ण रख पुनः 'सत्यं', 'शिवं', 'सुन्दरं' तथा 'विश्वास' की परिचर्या में अपनी सच्ची, सुन्दर तथा कल्याणकारी भौतिक प्रगति में संलग्न होगा।

आठवाँ अध्याय

माध्यमिक यूरोप में सामन्तवाद

[Feudalism in Mediaeval Europe]

§. [१] यूरोप के इतिहास में सन् ५०० से लगभग १५०० ई० तक का समय मध्ययुग के नाम से विख्यात है। इस एक सहस्र की लम्बी अवधि को इतिहासकारों ने दो विशिष्ट भागों में बाँटा है। प्रथम भाग में यूरोप बाह्याक्रमणों से वेष्टित था। बाह्याक्रमणों को रोकने के लिए यूरोप में पवित्र रोमक साम्राज्य की स्थापना हुई, किन्तु राजनीतिक अस्तव्यस्तता के कारण चतुर्दिक अराजकता का प्रकोप छा गया। इन प्रथम पाँच सौ वर्षों की वसीयत के फलस्वरूप सामन्त-प्रथा (Feudalism) का उद्भव हुआ। मध्ययुग के दूसरे भाग में इसी प्रथा ने यूरोप का इतिहास लिखा। वास्तव में, प्राचीनता से आधुनिकता में पहुँचने के लिए सामन्त-प्रथा मानों एक विष्कम्भक थी जो राजनीतिक नाटक के दो विशिष्ट अंकों को एक में जोड़ती है। ग्यारहवीं एवं बारहवीं शताब्दियों में पश्चिमी यूरोप इसी प्रथा से आक्रान्त रहा। इस प्रथा के अन्त के पश्चात् ही १५ वीं शताब्दी में पुनरुद्धार एवं सुधारणाओं की लहरें उठीं।

पूर्वाभास

§. [२] सामन्त-प्रथा समाज की एक जटिल व्यवस्था थी। इसके अनुसार राजा ही सम्पूर्ण भूमि का स्वामी होता था। अपनी ओर से सैनिक एवं अन्य राजकीय अथवा किसी प्रकार की सेवा के उपहार के स्वरूप राजा अपने कर्मचारियों को भूमि देता था। भूमि-दान के साथ-साथ सेवा की विशिष्ट धाराएँ भी स्पष्ट रहती थीं। ये भूमि-पति कर्तव्यों से बँधे रहते थे। विशप स्टब के शब्दों में सामन्तवाद भूमि के माध्यम से समाज की एक पूर्ण व्यवस्था थी, जिसमें राजा से लेकर छोटे-छोटे भूमि-पति रक्षा एवं सेना के कर्तव्य से बँधे थे; राज्य

सामन्तवाद का स्वरूप

को अपने आश्रितों की रक्षा करनी पड़ती थी तथा आश्रित भूमि-पतियों को राजा की सेवा करनी पड़ती थी। रक्षा तथा सेवा भूमि के विस्तार एवं स्वभाव पर निर्भर करती थी। प्रत्येक भूमि-पति अपने अधीनस्थ कर्मचारियों में भूमि-खण्ड बाँट देता था और वे कर्मचारी स्वयं कर्तव्यों से बँध जाते थे। स्पष्ट है कि सामन्तवाद एक प्रकार का सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन था जिसमें राजा का स्थान सर्वोपरि था और दासों का निकृष्ट। राजा भूमि-पतियों पर आश्रित रहता था, भूमि-पति अपने अधीनस्थ कर्मचारियों या छोटे-छोटे भूमि-पतियों पर आश्रित रहता था।

सामन्तवाद के मूल में

.§. [३] इस प्रथा के मूल में केवल सामयिक राजनीतिक अराजकता ही नहीं थी प्रत्युत एक स्वाभाविक विकास की प्रेरणा भी थी। इसके पीछे कोई सुनिश्चित योजना नहीं थी, किसी राजनीतिज्ञ की सुव्यवस्थित चाल नहीं थी। इसके मूल में रोमक एवं ट्यूटॉनिक रूढ़ियाँ भी थीं। जब बर्बरों के आक्रमणों से केन्द्रीय शक्ति शिथिल पड़ गयी तथा नॉर्मनों एवं डैनों (Normans and Danes), स्लावों तथा हंगेरियों (Slaves and Hungarians) और सारसनों तथा मूरों (Saracens and Moors) ने अपनी चढ़ाइयों से यूरोप को आक्रान्त कर दिया तो सम्पूर्ण यूरोप को एक आध्यात्मिक या धार्मिक सूत्र में बाँध रखना ही पर्याप्त नहीं था। वैसी स्थिति में किसी एक नवीन व्यवस्था की आवश्यकता थी और वह व्यवस्था थी सामन्त-प्रथा।

सामन्तवाद का व्यापक स्वरूप

.§. [४] अब हम संक्षेप में सामन्त-प्रथा के व्यापक रूपों को समझें। प्राचीन काल में भूमि धन एवं शक्ति के उद्भव का कारण थी। वह कालान्तर में उत्पत्ति एवं रक्षा के लिए विभाजित होती चली गयी। सिद्धान्ततः वह किसी राजा के अधीन रहती थी, किन्तु व्यावहारिक रूप में वह भूमि-पतियों (Landlords) एवं उनके असामियों (Tenants) में विभक्त थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजाओं, भूमि-पतियों एवं असामियों द्वारा दी गयी भूमि (Estates

or fiefs) सैनिक सेवा एवं नागरिक सेवा की सूचक थी। सामन्तों को अपने भूमि-पतियों के लिए लड़ना पड़ता था और शान्ति के समय उन्हें असामियों की सहायता से अन्न उपजाना पड़ता था। समय-समय पर असामियों को अपनी ओर से सहायता या विशेष कर आदि (Aids, reliefs etc.) भी देने पड़ते थे। जब कोई भूमि-पति अपनी कन्या का विवाह करता था या किसी लार्ड का लड़का नाइट (Knight) बनता था तो सहायता (Aids) करनी पड़ती थी। जब किसी असामी का लड़का पिता की मृत्यु के पश्चात् अपनी भूमि का स्वामी होता था तो उसे विशेष कर (Reliefs) देना पड़ता था। जब कभी किसी असामी को लड़का नहीं होता था या उसके कर्तव्याचरण में कोई दोष होता था तो उसकी भूमि छीन ली जाती थी। जब राजा युद्ध-बन्दी हो जाता था तो भूमि-पतियों एवं असामियों को धन (Ransom) देकर उसे छुड़ाना होता था। युद्ध के समय भूमि-पतियों को अपनी ओर से युद्ध-सैनिकों से राजा की सहायता करनी पड़ती थी। संक्षेप में, असामी अपने भूमि-पतियों के ही आदमी होते थे, उन्हें अपने स्वामी के लिए जीना, काम करना तथा मरना पड़ता था और स्वामी को उनकी रक्षा तथा उनके न्याय की व्यवस्था करनी पड़ती थी। कभी स्वामी अकाल के समय असामियों को छूट भी दे दिया करता था।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सामन्त-प्रथा का उद्भव केन्द्रीय सरकार के अभाव में ही हुआ था, अतः न्याय का प्रबन्ध सामन्त लोग अपने न्यायालयों (Manorial courts) में ही करते थे। सामन्त अपने इलाके (Estate) में अपने भवन खड़ा करते थे और उन्हें दुर्गों से सुरक्षित रखते थे। उनके दुर्ग के चतुर्दिक असामियों के खेत होते थे। असामियों के भी दास (Serfs) होते थे जो संख्या में सबसे अधिक थे।

सर्फ लोगों की दशा

दासों की दो श्रेणियाँ थीं : सर्फ तथा क्रीत दास। सर्फों को पीड़ा देने वाला दण्डित होता था। कठोर करों के साथ सर्फ लोग भूमि जोतते थे। वे अपनी भूमि को छोड़ कर भाग नहीं सकते थे। यदि वे भाग जाते

थे और वर्ष से एक दिन अधिक तक देखे नहीं जाते थे तो वे स्वतन्त्र समझे जाते थे। वे क्रीत दासों से इस प्रकार अच्छे थे। सर्फों को हफ्ते में तीन दिनों तक अपने स्वामी के खेत में काम करना पड़ता था, किन्तु क्रिस्मस, ईस्टर आदि त्योहारों के दिनों में उन्हें छुट्टी रहती थी। ईस्टर के दिन प्रत्येक सर्फ को एक बुशल गेहूँ, आंट के १८ पुलिन्दे, ३ मुर्गियाँ, एक मुर्गा तथा ५ अण्डे देने पड़ते थे। सर्फों की यह व्यवस्था फ्रांस की क्रान्ति (सन् १७८९ ई०) तक चलती रही।

न्याय-व्यवस्था

सामन्तवादी युग में कोई सार्वजनीन कानून नहीं था। चर्च के धार्मिक कानून (Canon law of the Church) ही सार्वभौम थे। भौतिक जीवन में रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ प्रचलित थीं। जो मुकद्दमे तय नहीं हो सकते थे वे द्वन्द्व-युद्धों तथा अग्नि-जल की परीक्षाओं (Ordeals) से परीक्षित होते थे। इस प्रकार के न्याय ईश्वर-न्याय समझे जाते थे। द्वन्द्व-युद्ध में विजयी व्यक्ति निर्दोष समझा जाता था।

शिवैलरी तथा मध्य-युगीन साहसिक

यूरोप का माध्यमिक युग शूरता एवं साहसिक व्यक्तियों के लिए प्रसिद्ध है। उस युग में साहसिकता (Chivalry) की एक प्रसिद्ध प्रथा प्रचलित हो गयी। बड़े-बड़े भूमि-पति एवं उनके पुत्र साहसिक शूर-वीर होते थे। इस प्रथा के उद्बोधन में धार्मिक युद्ध (Crusades) बड़े सहायक हुए। नाइट लोग अपनी जातीय ख्याति के लिए अपना बलिदान कर देते थे। साहसिकों का दल देश-रक्षा के लिए तत्पर रहता था। उसके अपने नियम थे जिनका पालन बड़ी पुष्टता के साथ होता था। साहसिक लोग टूर्नामेण्ट भी करते थे जो यूनानियों एवं रोमकों के खेलों के द्योतक थे। प्रत्येक साहसिक अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित (Cap-a-pie) रहता था और अश्व पर सवारी करता था। 'शिवैलरी' (Chivalry) शब्द फ्रांसीसी भाषा से लिया गया है जिसका तात्पर्य है अश्व। 'नाइट' (Knight) शब्द सम्मान का सूचक था।

नाइट एवं साहसिक लोगों की तुलना भारत के राजपूतों से की जा सकती है। भारतीय राजपूतों के कितने नौनिहालों ने मध्ययुगीन भारत में भारतीय ललनाओं की रक्षा क्रूर मुस्लिम सरदारों के पंजों से छुड़ा कर की थी!

§. [५] सामन्त-प्रथा का मध्ययुगीन यूरोप में विशिष्ट स्थान है। अराजकता के युग में राजनीतिक दृष्टि से इस प्रथा ने न्याय-सम्पादन करके शान्ति स्थिर रखी। सैनिक दृष्टि से भी

सामन्तवाद से लाभ

देश-रक्षा में इस प्रथा ने सुन्दर योग दिया। आर्थिक दृष्टि से इस प्रथा से कृषि-कार्य का विकास हुआ। शूर-वीरता एवं साहसिक कार्यों की अभिवृद्धि हुई जिससे मध्ययुगीन चरित्र की विशिष्टता झलक उठती है। लोक-मत को बल मिला, क्योंकि सामन्त-प्रथा के अन्तर्गत सीमित क्षेत्रों में न्याय की व्यवस्था स्थापित हुई थी। इसी का परिणाम था कि इङ्गलैण्ड में सन् १२१५ ई० में भूमि-पतियों ने एक स्वर से राजा जोन का विरोध किया और उसकी निरंकुशता को नियमानुमोदित शासन का रंग दिया। इस घटना को विश्व-इतिहास में प्रभूत महत्व है। मैगना कार्टा (Magna Charter) ने आगे चलकर इङ्गलैण्ड में लोकमत की वृत्तियों को प्रेरित किया। अतः सामन्त-प्रथा से आगे चलकर कुछ परोक्ष लाभ भी हुए।

§. [६] सामन्तवाद मध्य युग की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी और, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, इससे बड़े-बड़े राजनीतिक लाभ हुए, किन्तु इसमें व्यापक दोष भी थे। इसके महान् दोषों में एक है आपसी द्वन्द्व। सामन्त-प्रथा से युगों से सम्वर्द्धित परम्पराओं की नींव हिल उठी और रूढ़ियों को धक्का लगा। उन दिनों यूरोप में "व्यक्ति का व्यक्ति स्वामी का व्यक्ति नहीं था" (The man's man was not the lord's man), क्योंकि आव-

सामन्तवाद के दोष

श्यकता के समय राजा अपने विरोधी सामन्तों की सहायता नहीं भी पा सकता था। कभी-

कभी सामन्त लोग अपने स्वामियों से बलशाली सिद्ध हो जाते थे। ऐसी स्थिति में किसी बलशाली एवं सुसंगठित राज्य की स्थापना असम्भवत् थी। हाँ, इङ्गलैण्ड इस दोष का अपवाद अवश्य था। सामन्तों के अधीनस्थ दासों को बड़ा कष्ट था। बहुधा सामन्त लोग स्वेच्छाचारी थे। इन दोषों के कारण कालान्तर में यह प्रथा निर्मूल हो गयी।

§. [७] सामन्त-प्रथा के विनाश के मूल में एक प्रमुख कारण उपस्थित हुआ (१) बारूद का आविष्कार, क्योंकि उससे साहसिक कार्यों की न्यूनता हो गयी और शूर-वीरों को अपनी कुशलता दिखाने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गयी। राजाओं के पास बारूद के बने सामान रहने लगे और इस प्रकार क्रमशः भूमि-पतियों की राजनीतिक शक्ति लोप हो गयी। सामन्त-प्रथा की जड़ को हिला देने वाला दूसरा कारण था (२) व्यापारिक नगरों का निर्माण। अब नगरों के धन के कारण मध्य वर्ग की शक्ति कम हो गयी और राजा लोग उनसे धन प्राप्त करने लगे, क्योंकि नगरवासियों ने अपने अधिकारों की प्राप्ति में उन्हें पर्याप्त धन दिया। क्रमशः भूमि-पति श्री-हीन होने लगे, उनकी राजनीतिक शक्ति को धक्का लगा। राजा ने नगर के धनिकों से सहायता लेकर स्थायी सेनाओं का निर्माण किया और सैनिकों को बारूद के प्रयोग में शिक्षित किया। सामन्त-प्रथा के नाश का तीसरा प्रमुख कारण था (३) पुनरुद्धार या पुनर्जागरण (Renaissance)। पुनरुद्धार से ज्ञान का प्रचार हुआ। क्रमशः चर्च की शक्ति बढ़ी। विद्या के पुनरुद्धार के कारण भूमि-पतियों की निरंकुशता कम हो गयी क्योंकि जनता जागरूक हो गयी और उसने अपने अधिकारों के लिए बलवती माँगें उपस्थित कीं। इन्हीं तीन प्रमुख कारणों से सामन्त-प्रथा क्रमशः अधः-पतित होती चली गयी।

सामन्तवाद का नाश

नवाँ अध्याय

विश्व-इतिहास में इस्लामी तत्व

(Islam as a Factor in World History)

पूर्वाभास : अरब की ऐतिहासिक महत्ता

§. [१] विश्व-इतिहास में इस्लामी तत्व अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। इस्लामी सभ्यता का अभ्युदय अरब में हुआ। इस सभ्यता के तत्व ने कालान्तर में विश्व के इतिहास में ऐसे अध्याय जोड़े जो अमिट हैं और हैं कई दिशाओं में उसकी मोड़ के कारण। इसी सभ्यता से तुर्कों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सन् १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करके यूरोप में एक ऐसे युग का आरम्भ कर दिया जो आधुनिक युग कहा जाता है। इसी सभ्यता के पुजारी मुगलों ने भारत में भी आधुनिक युग (सन् १५२६ ई०) का आरम्भ किया। ऐतिहासिकों के मत से इस्लामी तत्व ने प्राचीनता एवं नवीनता के बीच में एक बड़ी दीवार खड़ी कर दी। अतः, इस सभ्यता के अभ्युदय-स्थान अरब की महत्ता अपने-आप व्यक्त हो जाती है। अरब से ही प्राचीन युग में सेमेटिक जाति ने, बेबिलोनिया के लोगों ने, इस्राइल लोगों ने, फोनीशिएन लोगों ने निकल कर मानव-इतिहास को प्रभावित किया। यद्यपि अरब ने स्वतः कोई ऐसा कार्य नहीं किया, किन्तु उसकी महत्ता परोक्ष है, क्योंकि उसी से सम्बन्धित अन्य तत्वों ने विश्व-इतिहास को कई कालों में प्रभावित किया। अरब कई बार बड़े-बड़े साम्राज्यों का प्रदेश भी था जैसे, मिश्र, फारस, मकदूनिया, रोम तथा कुस्तुन्तुनिया। अब अरब को भी अवसर प्राप्त हुआ कि वह अपनी अमिट छाप छोड़े। आरम्भिक कालों में अरब अन्य देशों की अपेक्षा असभ्य था। वहाँ के लोग यायावर (Nomadic) थे और पारस्परिक कलहों में व्यस्त रहा करते थे। वर्ष में एक दिन वे आपसी द्वन्द्वों को भूल कर एकत्र होते थे और मक्का के पूत स्थान

काबा (Kaaba) में एक ऐसे कृष्ण पत्थर की पूजा करते थे जिसे वे स्वर्ग से गिरा हुआ समझते थे। यह कृष्ण पत्थर-खण्ड उनकी एकता का प्रतीक था। वर्ष के अन्य दिनों में वे अपने-अपने देवी-देवताओं की पूजा करते थे तथा आपसी द्वन्द्वों में लगे रहते थे। उनका जीवन इस प्रकार अस्त-व्यस्त था। इन्हीं कलहमय परिस्थितियों के बीच एक ऐसे महानुभाव ने अवतार लिया जिसने उनके जीवन तथा कर्तृत्वों को एक नयी दिशा दी, एक नयी प्रेरणा दी। वह महानुभाव था पैगम्बर मुहम्मद।

मुहम्मद साहब तथा इस्लाम धर्म

§. [२] मुहम्मद साहब का जन्म लगभग ५७० ई० में हुआ था। वे काबा के पुजारियों के कुरेशी वंश में उत्पन्न हुए थे। उनका घर बहुत ही दरिद्र था। उनके जीवन में चालीस वर्षों तक कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं घटी। उनका विवाह उनसे बड़ी अवस्था वाली धनी घराने की खादिजा नामक विधवा से हुआ। यह विवाह उनके जीवन की प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना है। कालान्तर में उन्हें दैवी प्रेरणाएँ मिलने लगीं अथवा उन्हें इलहाम होने लगा। एक दिन फरिश्ता जिब्राइल (Angel Gabriel) ने उन्हें अल्लाह का सन्देश दिया। अब क्या था, उन्होंने अपने प्रसिद्ध धार्मिक शब्दों का उद्घोष किया : "अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है"। आरम्भ में अरबों ने उनका प्रबल विरोध किया और उन्होंने तंग आकर एक ऐसे स्थान में शरण ली जो उन्हीं के नाम से मदीना (मदीनत-उन-नबी = पैगम्बर का नगर) हो गया। यह पलायन या हिजरत सन् ६२२ ई० में हुआ और तभी से मुस्लिम युग का हिजरी सम्वत् आरम्भ हुआ। पैगम्बर मुहम्मद को कई युद्ध करने पड़े और अन्त में वे बद्र (Badr) में विजयी होकर मक्का आए। क्रमशः वे सम्पूर्ण अरब के स्वामी हो गए। सन् ६३२ ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

'इस्लाम' का तात्पर्य है अल्लाह की शरण में अनुगमन। जो

व्यक्ति इस धर्म में दीक्षित होते थे उन्हें इस्लामी धर्म की पाँच शिक्षाएँ माननी पड़ती थीं जो ये हैं : (१) "अल्लाह (ईश्वर) एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है" में विश्वास करना; (२) प्रत्येक दिन पाँच बार प्रार्थना करना या नुमाज पढ़ना; (३) निर्धनों को दान देना; (४) रमज़ान के दिनों में उपवास करना तथा (५) जीवन में एक बार मक्का अवश्य जाना। मुहम्मद साहब की शिक्षाएँ 'क़ुरान' में एकत्र हैं। 'हदीस' में इस्लामी परम्पराएँ संग्रहीत हैं। क़ुरान तथा हदीस मुसलमानों के धार्मिक शास्त्र हैं। अपने जीवन-काल में मुहम्मद साहब ही मुसलमानों के धार्मिक एवं राजनीतिक नेता थे अतः उन्हीं के जीवन-काल से इस्लामी धर्म-राज्य (Theocracy) का अभ्युदय हुआ जो आधुनिक युग में भी वर्तमान है। हिन्दुस्तान का टुकड़ा पाकिस्तान उसी धर्म-राज्य से विमोहित है।

शिक्षाएँ

क़ुरान एवं हदीस

§. [२] मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हुआ। दो दल हो गए, जिनमें एक मुहम्मद साहब के दामाद अली का समर्थक था और कालान्तर में 'शिया' की उपाधि से विभूषित हुआ और दूसरा ख़लीफा के निर्वाचन का समर्थक था और 'सुन्नी' नाम से विख्यात हुआ। अन्त में सुन्नियों की विजय हुई। यद्यपि दोनों के धार्मिक सिद्धान्तों के तत्व कुछ विरोधों के साथ एक ही हैं, किन्तु इस्लामी समाज इस प्रकार दो फिरकों में विभक्त हो गया। अरब में सुन्नियों का प्राबल्य हुआ तथा फारस में शियों का। भारत में दोनों की प्रभुता विद्यमान है। हमें आए दिन दोनों की मुठभेड़ सुनने में आती है। उत्तर-प्रदेश का लखनऊ दोनों का अखाड़ा रहा है और मुगलों के काल में दक्षिण में औरंगजेब ने शिया-राज्यों पर जो कहर ढाये वे भारतीय इतिहास की सम्पत्ति हो चुके हैं।

मुहम्मद के उत्तराधिकारी

शिया-सुन्नी

नेतागिरी में मुहम्मद साहब के वास्तविक उत्तराधिकारी हुए खलीफा लोग। मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् लगभग एक शताब्दी में ही खलीफाओं ने इस्लामी धर्म की ध्वजा अफ्रीका, यूरोप तथा एशिया में फहरा दी। कालान्तर में तीन खलीफा-केन्द्र स्थापित हुए : (१) अफ्रीका में काहिरा, (२) यूरोप में कोर्दोवा तथा (३) एशिया में बगदाद।

खलीफा

§. [४] इस्लामी जगत् के प्रथम खलीफा हुए अबूबकर। उन्होंने बड़ी सरगर्मी एवं योग्यता से इस्लाम धर्म के प्रसार के लिए प्रयत्न किए। उन्होंने आदेश दिया कि चारों ओर धर्म का प्रचार किया जाय। उन्होंने दो उपाय कार्यान्वित किए और उन्हीं के अनुसार इस्लाम के समर्थकों को चलने के लिए कहा : एक था इस्लाम-ग्रहण और दूसरा था मृत्यु। अतः तलवार के बल पर इस्लामी धर्म प्रबल पड़ता गया। अन्त में विधर्मियों को जीने की आज्ञा दे दी गई किन्तु कर देने की शर्त पर। यह कर था 'जजिया'। किन्तु मुसलमानी इतिहासकारों ने जजिया का अर्थ दूसरे ढंग से लगाया है। इस्लाम धर्म के अनुसार प्रत्येक मुसलमान को देश-रक्षा के लिए सेना में भर्ती किया जा सकता था, किन्तु विधर्मियों (जिम्मियों) को इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था अतः उनके लिए देश-रक्षा के निमित्त कार्यों के लिए 'जजिया' नामक कर देना अनिवार्य समझा गया। बात चाहे जो हो, इतना सत्य है कि जिम्मियों से यह कर लिया जाता ही था, क्योंकि उन पर, यदि देश-रक्षा वाला तर्क ठीक भी हो, मुसलमान विश्वास नहीं करते थे और न यह सहने को तैयार ही थे कि उनके उत्तम धर्म के रहते हुए जिम्मी किसी अन्य धर्म के अनुगामी हों। कुरान की एक आयत है : "उन लोगों के साथ युद्ध करो जो प्रलय में विश्वास नहीं करते और न मुहम्मद पर ईमान ही लाते हैं। या तो उन्हें मुसलमान बनाओ या उनसे कर वसूल करो।"

धर्म-प्रचार एवं 'जजिया' कर

§. [५] कुछ ही वर्षों में इस्लामी धर्म-राज्य बहुमुखी हो गया।

सम्पूर्ण अरब, एशिया माइनर उत्तरी अफ्रीका में मिश्र से लेकर अटलांटिक तक, आइबेरिया प्रायद्वीप, फारस, अफगानिस्तान, तुर्किस्तान तथा सिन्ध इस्लामी धर्म-चक्र में भ्रमित किया जाने लगा। इस विजय के मूल में बाह्य देशों की निर्बलता एवं नवीन धर्म की नवीन प्रेरणाएँ निहित थीं। पूर्वीय रोमक साम्राज्य तथा फारस के पारस्परिक युद्धों ने उनकी रीढ़ की हड्डी तोड़ दी और वे इस्लामी धर्म के प्राबल्य के सामने टिक न सके। पश्चिम में सन् ७३२ ई० में चार्ल्स मार्टेल (Charles Martel) ने टूअर्स के युद्ध में इस्लामी बढ़ाव को रोक दिया। सन् ७१७ ई० में कुस्तुन्तुनिया अभी अजेय रहा, किन्तु सन् ७३७ ई० में कडेस्सिया के युद्ध में फारस पराजित हो गया। क्रमशः इसी प्रकार इस्लाम धर्म चतुर्दिक प्रसरित होने लगा।

धर्म-विजय

§. [६] कुछ प्रसिद्ध खलीफाओं के युग में इस्लाम धर्म का गौरव बढ़ा। प्रसिद्ध खलीफा हारून-अल-रशीद, जो "अरबियन नाइट्स" का सुविख्यात चरित्र है, इस्लामी इतिहास में अपनी विशेषता रखता है। उसका धर्म-राज्य-गौरव स्वर्णाक्षरों में अंकित है। स्थान के अभाव के कारण उसके शासन पर विशद वर्णन यहाँ उपस्थित नहीं किया जा सकता। उसकी राजधानी बगदाद ऐतिहासिक स्थान हो चुका है जहाँ की सभ्यता अनूठी थी। मध्य एशिया में बगदाद का गौरव इतना बढ़ा कि दूर-दूर से लोग आकर उसकी समृद्धि की प्रशंसा करते थे। शिक्षा, शासन, व्यापार, साहित्य, दर्शन, वास्तु-कला आदि में बगदाद अद्वितीय था। हारून-अल-रशीद का काल सचमुच गौरव का काल है।

खलीफाओं का गौरव-सौन्दर्य; बगदाद

किन्तु कालान्तर में भोग-विलास ने मुसलमानों के जीवन को नष्ट कर दिया। उनकी प्रजातान्त्रिक प्रेरणाएँ काल के गर्भ में समाती चली गयीं। चन्द्र-साम्राज्य (Crescent Empire) अन्त में टुकड़े टुकड़े होने लगा। तुर्कों तथा मङ्गोलों के आक्रमण से बगदाद की श्री क्रमशः

हीन होने लगी। सन् १२५८ ई० में मङ्गोलों ने धर्माधिकारी खलीफा की गौरवशाली राजधानी बगदाद को, जो ईराक की आँख, साम्राज्य का केन्द्र, सौन्दर्य, संस्कृति एवं कला का अनुपम स्थान था, मिट्टी में मिला दिया। नाश के पूर्व बगदाद पूर्वी एवं पश्चिमी देशों का ध्यान-केन्द्र था।

§. [७] अरबों ने इस्लामी ध्वजा को पश्चिम में आएबेरियन प्रायद्वीप तक फहराया। उनके नेता तारीक (Tariq) के ही नाम से जिब्राल्टर को अपनी संज्ञा मिली जिसका तात्पर्य है तारीक का पर्वत-खण्ड (जबालुत्तारीक)। स्पेन में इस्लाम-राज्य लगभग ५०० वर्षों तक स्थापित रहा। इस्लामी धर्म-राज्य का केन्द्र स्पेन में कॉर्दोला था जिसे सन् १२३६ ई० में कैसिल के ईसाई राजा ने जीत लिया। उसके उपरान्त स्पेन के दक्षिण में इस्लामी राज्य सन् १४६२ ई० तक स्थिर रहा। स्पेन के मुसलमान मूर (Moors) के नाम से प्रसिद्ध हैं। मूरों ने ७८० वर्षों (सन् ७११–१४६२ ई०) तक स्पेन में अपना अधिकार जमा रखा और वहाँ पर एक विचित्र शासन-प्रबन्ध स्थापित किया जो यूरोप वालों के लिए सर्वथा नवीन था। वास्तव में, उस समय यूरोप अभी सभ्यता के पंजे में नहीं आ सका था और मूरों ने उसे सभ्यता का प्रकाश दिया। मूरों की राजधानी कॉर्दोला यूरोप की सब से सभ्य नगरी थी और प्रशंसा का पात्र थी। इसमें ७० पुस्तकालय तथा ६०० हम्माम (स्नान-घर) थे। कॉर्दोला की ख्याति दूर-दूर पहुँच चुकी थी। वह चिकित्सा, वास्तु-कला, वेश-विन्यास एवं संगीत का केन्द्र थी। कोर्दोला के पास मदिनातुलज़हर (Madinatu-l-Zahar) शीत-निवास-केन्द्र था जहाँ पर दूर-दूर से यात्री आते थे। वास्तव में, स्पेन के मुसलमानों ने गौरव-युक्त सभ्यता तथा सुव्यवस्थित आर्थिक स्थिति से यूरोप में नयी प्रेरणाएँ फूँकीं। मुसलमानी स्पेन ने कला, विज्ञान, दर्शन, कविता के उन्नयन में महत्वपूर्ण कार्य किए और

स्पेन के मूर
(७११–१४६२ ई०)

कॉर्दोला नगर

तेरहवीं शताब्दी के यूरोपीय गौरव श्री टॉमस अक्विनस एवं दाँते (Thomas Aquinas and Dante) उस सभ्यता से अछूते न रह सके। "स्पेन यूरोप का मशाल था"।

इस्लामी स्वर्ण युग के विद्वान्: अविसेन्ना, अवेरोज़, राज़ेज, अल-बरूनी, अलहसन आदि।

§. [८] इस्लामी संसार के सबसे बड़े विद्वान् लेखक थे अविसेन्ना (९८०–१०३७ ई०) तथा अवेरोज़ (Avicenna and Averroes)। अविसेन्ना (Abu-Ali-Al-Husayne ibn Sina) एक दार्शनिक था किन्तु उसकी विशेष ख्याति उसकी वैज्ञानिक एवं चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तक पर टिकी है। उसकी चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तक (Canon of Medicine) अद्भुत पुस्तक है। उसका लैटिन अनुवाद सत्रहवीं शताब्दी तक बहुत ही प्रसिद्ध था। अवेरोज़ (११२६–९८ ई०) का वास्तविक नाम था अबू-ए-वलीद इब्न रुश्द (Abu-l-Walid ibn Rushd)। वह प्रसिद्ध वैज्ञानिक था। उसने तत्कालीन यूरोपीय विचारों को बहुत प्रभावित किया। इस्लामी विज्ञान एवं चिकित्सा का स्वर्ण युग सन् ९०० से ११०० ई० तक माना जाता है। प्रसिद्ध चिकित्सक राज़ेज़ (Rhazes ८६५–९२५ ई०) की पुस्तक 'अल-हावी' (Al-Hawi) सबसे प्रसिद्ध है। उसने यूनानी, सीरियन, अरबी, फारसी, भारतीय विद्वानों का प्रभूत अध्ययन करके अपनी व्याख्याओं के साथ इस पुस्तक का प्रणयन किया था। अलबरूनी (९७२–१०४८ ई०) का नाम भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। वह महमूद गज़नी के साथ भारत में आया था। वह 'अल-उस्ताद' था, सर्वश्रेष्ठ था। उसकी प्रतिभा बहुमुखी थी। वह डाक्टर, ज्योतिषी, गणितज्ञ, भौतिक-विज्ञानवेत्ता, भूगोल-ज्ञाता तथा इतिहासकार था। उस युग का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान-वेत्ता था अल हसन (Abu-Ali-Al Hasan ibn al-Haytham) जो बसरा (९६५ ई०) का निवासी था। उसकी मौलिक पुस्तक नष्ट हो गयी है, किन्तु लैटिन अनुवाद विद्यमान है। उसने यूनानी गणितज्ञ यूक्लिड तथा टाल्मी के ज्यामिति-शास्त्र का विशेष

किया है और यथार्थ समाधान प्रस्तुत किये हैं। उसने नयन-चिकित्सा में विशेषता प्राप्त की थी। उसकी कृतियों से रोजर बेकन (तेरहवीं शताब्दी) पोले विटलो, आदि (Roger Becon, Pole Witelo etc.) बहुत ही प्रभावित हुए। लेयोनार्डो ड विंसी (Leonardo da Vinci) तथा जॉन केप्लर (Johann Kepler) भी उससे प्रभावित हुए थे।

§. [६] खलीफाओं के सर्वनाश के कारण थे तुर्किस्तान के निवासी सेलूज़ुक तुर्कों के आक्रमण। फारस, फिलस्तीन तथा मिश्र पर तुर्कों ने अपना आधिपत्य जमा लिया। सन् १०७१ ई० में ये कुस्तुन्तुनिया पर घहरा उठे। क्रमशः सब स्थानों पर तुर्कों का आधिपत्य स्थापित होता चला गया। सन् १०७६ में उन्होंने यरूशलम पर भी अपना प्रभाव डाल दिया। इस अधिकार से ईसाई-संसार में तहलका मच गया और चारों ओर धर्म-रक्षा की ध्वनियाँ फूट पड़ीं। सेण्ट पिटर ने ईसाई धर्म की रक्षा के लिए चारों ओर उद्घोष किया और एक समय ऐसा आया कि ईसाइयों ने धर्म-युद्ध (Crusades) के लिए व्यापक तैयारियाँ कर लीं। यूरोप के सभी देशों के साहसिकों ने इन धर्म-युद्धों में भाग लिया। यरूशलम की भूमि रक्त से लाल हो उठी। प्रथम धर्म-युद्ध का नेता स्वयं सेण्ट पीटर था और वह सफल भी हुआ। किन्तु पुनः अशान्ति के बादल मँडराने लगे। दूसरा धर्म-युद्ध आरम्भ हुआ और मिश्र के इस्लामी शासक सलादीन ने इस्लामी संसार का नेतृत्व किया। ईसाई पुनः यरूशलम से सन् ११८७ ई० में निकाल बाहर किये गये। केवल फिलस्तीन के समुद्री तट तथा अनटियाख पर ईसाई बच गए। सन् १२१२ ई० में भिन्न-भिन्न देशों से २०,००० बच्चे एकत्र हुए और फिलस्तीन आए। उनकी बुरी गति हुई। कुछ तो मार्ग में ही मर गए, कुछ बन्दी बनकर दास हो गए और कुछ ही बच कर अपने घर गए। यह धर्म-युद्ध जो "बच्चों का धर्म-युद्ध" कहा जाता है, ईसाइयों के मस्तक पर कलंक का टीका है। भला, उन्हें इन दूध मुहों

सेलूज़ुक तुर्क जाति

को दुर्द्धर्ष तुर्कों से मुठभेड़ लेने के लिए भेजना चाहिए था ? क्या तुर्क दयाशील थे जो उन्हें देख यरूशलम वापस दे देते ? परिणाम बड़ा दुखद रहा। फिलस्तीन पर ईसाइयों का अधिकार न हो सका। सन् १९१८ ई० में भारतीय तथा अंग्रेजी सेनाओं ने यरूशलम से मुसलमानों को हटाया और शताब्दियों के उपरान्त ईसाइयों की पुरानी कसक मिटी।

§. [१०] तुर्कों के इतिहास में भी कई आवर्तन-विवर्तन हुए हैं। जिन तुर्कों का वर्णन हमने ऊपर उपस्थित किया है वे सेल्जूक तुर्क कहे जाते हैं। कालान्तर में पश्चिमी तुर्किस्तान से तुर्कों का एक जूथ आया, क्योंकि उन दिनों मध्य एशिया में चंगेज खाँ का बोलबाला था।

उसमानी तुर्क

अब तुर्कों की शक्ति अत्यधिक बढ़ गयी। पहले के तुर्क एशिया माइनर के अनातोला प्रान्त में रहते थे। नवागन्तुक तुर्क भी वहीं बस गए। ये तुर्क उसमानी तुर्क के नाम से इतिहास में विख्यात हैं, क्योंकि उनके सरदार का नाम उसमान था। ये उसमानी तुर्क बड़े प्रबल सिद्ध हुए। क्रमशः उन्होंने पूर्वी यूरोप में मकदूनिया, यूगोस्लाविया तथा बलगेरिया में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इन स्थानों में बहुत-से लोगों को उन्होंने मुसलमान बनाया और अपनी सेना का संगठन किया। उनकी राजधानी एड्रियानोपुल थी। धीरे-धीरे उन्होंने रूमानिया तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। इस प्रकार कुस्तुन्तुनिया का रोमक साम्राज्य उनसे आवृत हो गया। उस्मानी तुर्कों की सेना का नाम "जाननिसार" था जो बड़ी दुद्धर्ष थी। इस प्रकार इस प्रबल सेना की सहायता से उसमानी तुर्कों ने मुहम्मद द्वितीय की सहायता से कुस्तुन्तुनिया को हड़प लिया और यूरोप में एक नए युग का आरम्भ हुआ। यूरोप वालों ने एक नए धर्म-युद्ध की योजना बनाने की सोची, किन्तु अब वे दिन लद चुके थे। यह विजय तो ऐतिहासिक घटना है, किन्तु उसमानियों को रोमक साम्राज्य की बुराइयाँ ही हाथ लगीं, क्योंकि बूढ़ा रोमक साम्राज्य भोग-विलासमय जीवन,

घूसखोरी आदि दुर्वृत्तियों के विषाक्त पंजों में फँस चुका था। इन बुराइयों को वसीयत के रूप में लेकर उसमानी तुर्क अन्त में बुरी तरह फँस गए।

कालान्तर में उसमानी तुर्कों ने यूनान तथा मिश्र को भी जीत लिया और मिश्र के खलीफाओं का स्थान इन्होंने ही हड़प लिया। गौरव-पूर्ण सुलेमान ने अपने आधिपत्य में उसमानी तुर्कों की ध्वजा फहरायी और बग़दाद, हंगेरी, तथा वायना को अपने अधिकार में कर लिया। सुलेमान के जहाजी बेड़े अलजीरिया तथा वेनिस तक गए और उन पर अपनी विजय-श्री की छाप लगा दी। तुर्की या टर्की की उन्नति इस प्रकार अपने उच्च शिखर पर पहुँच गयी। सुलेमान एक महान् विजेता एवं शासक था। उसकी मृत्यु के उपरान्त तुर्की साम्राज्य अधःपतन के गर्त में गिरने लगा।

विश्व को इस्लामी देन

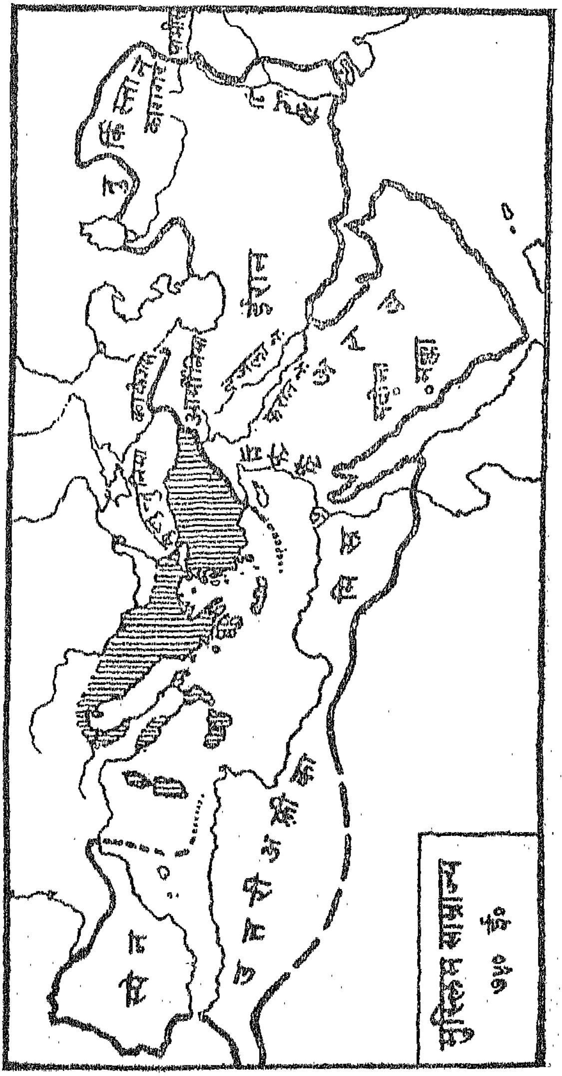
.§. [११] प्रकरण ६८ में हमने इस्लामी विद्वानों तथा उनकी वैज्ञानिक कृतियों का वर्णन कर दिया है और उसके पूर्व प्रकरण .§. ९ में हमने, संक्षेप में बग़दाद की श्री पर दृष्टि-पात कर लिया है। अब हम संक्षेप में, इस्लामी देनों का पर्यवेक्षण करेंगे। वास्तु-कला के क्षेत्र में मुसलमानों ने ग्रेनाडा में अलहम्रा नामक एक विश्व-विश्रुत 'आश्चर्य' दिया। ललित कलाओं में भी इस्लामी सभ्यता प्रसिद्ध रही है। निर्माण-कला में इस्लामी युग ने बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया। इसने धातुओं पर जो काम किए वे विश्व-सभ्यता की देनें ही हैं। सोने, चाँदी, ताम्र, काँस, लौह आदि धातुओं के काम शोभनीय होते थे। उनके बर्तन-कलश बहुत ही सुन्दर होते थे। रंगसाजी का काम इस्लामी युग में प्रसिद्ध था और अन्य देशों के लोगों ने उससे बहुत कुछ सीखा। शर्बत, इत्र तथा रोगन बनाने में इस्लामी अपना सानी नहीं रखते थे। गुड़ से चीनी का उत्पादन इस युग की विशेषता है। यों तो मुसलमानों में शराब हराम है, किन्तु इस्लामी युग में शराब की कई कोटियाँ

अपनी रक्तिम मधुरिमा के लिए व्यापक हो गयीं। इस युग में वैज्ञानिक ढंग से कृषि-उद्योग बढ़ा। सिंचाई का प्रबन्ध सुगठित था। भूमि तथा जलवायु के अनुसार अन्न को बोना तथा समय से काटना वैज्ञानिक पद्धति से ही होता था। मुसलमानों ने भाँति-भाँति के फलों एवं पुष्पों को उत्पन्न करने एवं उगाने की विधियाँ निकालीं। उन्हीं के द्वारा यूरोप में नये-नये पौधों, वृक्षों का आगमन हुआ। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इस्लामी युग में चिकित्सा-शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई थी जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े अस्पतालों का निर्माण हुआ जिनमें दीक्षित डाक्टर तथा दाइयाँ रखी जाती थीं। इन चिकित्साघरों से बड़े-बड़े विद्वान् शिक्षित होकर निकलते थे। विज्ञान एवं शब्द-निर्माण में इस युग में बड़े-बड़े प्रयत्न हुए। सोफा, टैरिफ, अलजेब्रा आदि शब्द इसी युग की देन हैं: प्रसिद्ध कवि एवं दार्शनिक उमर खय्याम इसी युग में अवतरित हुआ था। वह गणितज्ञ भी था। उसने अरबी भाषा में बीजगणित पर एक अलभ्य पुस्तक लिखी। मुसलमानों ने भारत से प्राप्त शून्य (०) का ज्ञान यूरोपीय संसार को दिया। इसी प्रकार भारतीय अंकगणित का प्रचार उन्होंने ही किया। विश्लेषणात्मक ज्यामिति का निर्माण इस्लामी देन है। यूनानियों के लिए अलभ्य ट्रिगनोमेट्री का ज्ञान इस्लामी है। ज्योतिष में भी महत्वपूर्ण निरीक्षण किए गए। इस्लामी विद्वानों ने बहुत-सी अप्राप्त यूनानी पुस्तकों का अनुवाद रख छोड़ा है और आज इस विषय में यूनान इसका ऋण मानता है। जिन

इस्लामी सभ्यता विश्व-इतिहास में एक महत्वपूर्ण तत्व

दिनों यूरोप में पारस्परिक कलह का साम्राज्य था, अरब वालों ने विज्ञान तथा ज्ञान की परम्पराएँ सुदृढ़ रखीं। नवीं एवं दसवीं शताब्दियों में इस्लामी सभ्यता अपने चरम उत्कर्ष पर थी किन्तु उसका प्रवाह पन्द्रहवीं शताब्दी तक रुका नहीं। हमने मूरों की सभ्यता के अध्ययन में देख लिया है कि बारहवीं शताब्दी में यूरोप ज्ञान-विज्ञान के लिए स्पेन का मुँह ताकता

था। इस्लामी सभ्यता ने प्राचीन सभ्यता एवं आधुनिक सभ्यता के बीच एक मोटी लकीर खींच दी है जिस पर उनके गौरव के चिह्न अंकित हैं। यूरोप में जब विद्या का पुनर्जन्म हुआ तो उसके मूल में इस्लामी सभ्यता द्वारा प्रदत्त एवं संचित ज्ञान-राशि ही थी, जिसके बल पर नयी-नयी अभिचेतनाएँ प्रस्फुटित हुईं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लामी सभ्यता विश्व के इतिहास में एक महत्वपूर्ण तत्व है।



चित्र नं० १६

विश्व के इतिहास और सभ्यता का परिचय

द्वितीय भाग

दसवाँ अध्याय

यूरोप में विद्या का पुनरुद्धार, सुधारणा एवं आधुनिक युग का आरंभ (Renaissance, Reformation and the Advent of the Modern Age)

[१] आधुनिक युग का सूत्रपात; विद्या का पुनर्जन्म

§. [१] विश्व-इतिहास एवं सभ्यता के माध्यमिक युग का अन्त कब और कैसे हुआ ? वास्तव में, मानव-जीवन में आवर्तन-विवर्तन होते रहते हैं और परिवर्तनों के फलस्वरूप ही इसकी विचित्रताएँ खिलती रहती हैं। विभिन्न देशों की कहानी अपने ढंग से बहती जाती है, किन्तु कुछेक मानवी प्रक्रियाएँ कभी-कभी मानव-इतिहास में प्रबल मोड़ ला देती हैं। ऐतिहासिकों ने यूरोपीय 'पुनर्जन्म' (Renaissance or Renascence) को संक्रमण-युग माना है। पश्चिमी यूरोप की पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों में जो बहुमुखी परिवर्तन हुए वे विश्व-इतिहास में आधुनिक युग के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। 'पुनर्जन्म' का तात्पर्य केवल विद्या के पुनर्जन्म (Revival of Learning) से नहीं है, प्रत्युत इसमें मानवी ज्ञान की सीमा का बहुमुखी प्रसार निहित है। वास्तव में, आधुनिक युग उन व्यापक प्रवृत्तियों एवं अभिचेतनाओं में निहित है जिनसे मानव को नयी दृष्टि मिली एवं नये दृश्य मिले, नयी प्रतिभा मिली एवं नये उपकरण मिले, नयी कला मिली एवं नये आलम्बन मिले, नयी नैतिकता मिली एवं नयी सुधारणाएँ मिलीं तथा नया बुद्धिवाद मिला एवं मिला नया मानव-समाज। इन विभिन्न नव-नव अभिनव अभिचेतनाओं में भौगोलिक, बौद्धिक, कलात्मक, नैतिक, सामाजिक एवं व्यापारिक प्रसार-तत्व अन्तर्निहित हैं। यूरोपीय देशों का यह भाग्य था कि वे इन विविध क्षेत्रों में विश्व-क्रान्ति करने में समर्थ हो सके। पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों ने

पूर्वाभास

यूरोप को प्रकाश-किरणों से बेध डाला और वह उद्दीप्त हो सम्पूर्ण विश्व को नयी चेतनाओं से प्रकाशित करने लगा।

.§. [२] यूरोपीय सभ्यता में इस्लामी अभ्युत्थान ने नए-नए तत्व भरे। मूरों तथा सरासेनों (Moors and Saracens) ने यूनानी तथा रोमक सभ्यता-संस्कृति को अक्षुण्ण रखा। अरस्तू की अमर कृतियों का प्रसार एवं पठन-पाठन अरबी अनुवादों से ही सम्भव हो सका था। मूरों के विश्व-विद्यालय विशेषतः कार्दोला एवं तोलेदो (Cordola and Toledo) कालान्तर में ईसाई विश्व-विद्यालयों के लिए प्रेरणाजनक सिद्ध हुए। यूरोप के ईसाइयों ने तुर्कों को घृणा की दृष्टि से अवश्य देखा, किन्तु वे उनकी संस्कृति एवं उनके वाणिज्य-व्यवसाय से अछूते न रह सके। ये भौतिक उपकरण इतने महत्वपूर्ण थे कि तुर्कों द्वारा मार्गावरोध हो जाने पर यूरोप वालों ने पूर्व-प्रवेश के लिए अन्य मार्गों का अनुसंधान करना आरंभ कर दिया। सन् १४५३ ई० में कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो गया जिसके फलस्वरूप पूर्व में यूरोपीय निकास बन्द हो गया। किन्तु आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यूरोप ने अपनी शक्ति एवं प्रतिभा की बलवती प्रेरणा से नये मार्गों का सहारा ले ही लिया। ऐसी थी उसकी प्रतिभा से अनुप्राणित उसकी तीव्र लालसा।

प्रसार-भावना के मूल में

आदिकाल में स्थल मार्ग से व्यापारादि के लिए आवागमन भयंकरता से खाली नहीं था, किन्तु व्यापारी भाँति-भाँति की असुविधाओं के बीच यूरोप एवं एशिया को एक सूत्र में बाँधते रहते थे। तुर्कों ने जब कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार कर लिया तो व्यापारी-मण्डल अति व्याकुल एवं आतुर हो उठा। आरम्भिक आविष्कारों के मूल में व्यापार की आवश्यकताएँ थीं ही। पूर्वीय देशों के मसालों की यूरोप में बड़ी आवश्यकता पड़ती थी। इसके अतिरिक्त बहुमूल्य धातु-पत्थरों, औषधियों, रंगों, सुगन्धियों एवं चन्दन की व्यापक माँगें थीं जिनको पूरा करना यूरोपीय व्यापारियों के लिए अति ही आवश्यक था। इन्हीं

आवश्यकताओं से प्रेरित हो नयी दृष्टि एवं नए दृश्य की अनिवार्यता यूरोपीय देशों के साहसिकों के सम्मुख नृत्य करने लगी।

§. [२] देशों एवं मार्गों के अनुसंधान में पोर्तुगाली एवं स्पेन-वासी प्रमुख हैं। चीनियों ने बहुत पहले कुतुबनुमा का आविष्कार कर लिया था। पन्द्रहवीं एवं आने वाली शताब्दियों के आविष्कार एवं भौगोलिक खोजों के लिए कुतुबनुमा ने अंधकार में प्रकाश का कार्य किया। टॉल्मी (Ptolemy) के काल से लोगों में यह धारणा जमी थी कि सम्भवतः पृथिवी गोल है और एक स्थान से चलने पर पुनः उसी स्थान पर कालान्तर में आया जा सकता है। पोर्तुगाल के राजकुमार हेनरी के, जो प्रसिद्ध नौका-विहारी था, समय में अफ्रीका के पश्चिमी तटों की खोज सम्भव हो सकी और कालान्तर में भारत पहुँचने के लिए बार्थोलाम्यू दियाज़ (Bartholomew Diaz) द्वारा सन् १४८७ ई० में कुमारी आशान्तरीप (Cape of Good Hope) का पता चला। सन् १४९८ ई० में वास्कोडगामा (Vasco da Gama) भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट में पहुँचा। वह जब लौटा तो अपने मार्ग-व्यय की ६० गुनी सम्पत्ति लेकर पोर्तुगाल पहुँचा और लम्बी-लम्बी उपाधियों से विभूषित किया गया। पोर्तुगालियों ने क्रमशः सन् १५१२ तक जावा एवं मलाया की खोजें भी कर लीं। कोलम्बस (Columbus) ने भारत पहुँचने की इच्छा से सन् १४९२ ई० में अमेरिका का पता चलाया। जर्मनी के मार्टिन बेहैम (Martin Behaim) ने सन् १४९० ई० में पृथ्वी का नकशा बनाया। अमेरिगो (Amerigo) ने १४९७ ई० में इसी नकशे का उपयोग करके अपने को अमर कर दिया। कोलम्बस ने सन् १४९२, १४९३, १४९८ तथा १५०२ ई० में चार बार यात्राएँ कीं और पश्चिमी भारतीय द्वीपों (The West Indies) का पता चलाया। कोलम्बस की संरक्षिता थी स्पेन की रानी आइसाबेला (Isabella)। बालबोआ (Balboa) ने पनामा के दूसरी ओर सन् १५१३ ई० में प्रशान्त सागर को देखा।

नये-नये स्थानों की खोजें

मैगलन (Magellen) सन् १५१६ ई० में दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी छोर का स्पर्श करता हुआ फिलिपाइन द्वीप-समूहों तक पहुँच कर शहीद हो गया। तीन वर्षों के उपरान्त मैगलन के साथ के पाँच जहाजों में केवल एक कुमारी आशान्तरीप से लौटा और उसने इस प्रकार 'पृथिवी गोल है' की यथार्थता प्रकट की। पोर्तुगाल एवं स्पेन ने इन खोजों में प्रमुख भाग लिया। पोप ने अपने अनुशासन (Papal Bull) से सन् १४६३ ई० में उन देशों को ये नयी खोजें दे दीं जिनके प्रयत्नों के ये फल थे।

मेक्सिको तथा पेरू की खोजें कार्टेज एवं पिजारो (Cortez & Pizarro) द्वारा क्रम से सन् १५१६–२१ तथा १५३१–५२ में हुईं। इन स्थानों की प्राचीन सभ्यता का नाश इन्हीं खोजों के कारण हुआ। बाहरी लोगों ने इन स्थानों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये। पिजारो ने अपने अत्याचारों से मानव-इतिहास को कलंकित कर डाला है। पेरू में इंका नामक स्थान के नेता अताहुआल्पा (Atahualpa) के साथ सोने की प्राप्ति के लिए उसने प्रवञ्चना की। सोना तो लिया ही उसे मार भी डाला। पेरू की सभ्यता ऊँची थी। उस देश में भव्य भवन थे और अच्छी सड़कें, पुल तथा अन्य जन-कल्याण के लिए साधन प्रस्तुत थे। पेरू में यूरोपवासियों ने जो अत्याचार किए हैं वे उनकी अमानुषिकता के परिचायक हैं। वास्तव में, धन एवं सोने की लालसा (El Dorado) ने ही यूरोप वालों को अन्धा बना दिया था।

बौद्धिक विकास में विविध विद्वानों का सहयोग

§. [४] आधुनिक युग के आरम्भ में जो खोजें हुईं उनसे विश्व के ज्ञान की सीमा बढ़ी। किन्तु इन खोजों से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वशाली उस युग की बौद्धिकता थी। पूर्वी यूरोप में तुर्कों के आधिपत्य से यूनानी विद्वान् पश्चिम की ओर भगे और दक्षिणी इटैली (Magna Gracia) में आ बस गए। स्पष्ट है, कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों के अधिकार से यूरोप में यूनानी साहित्य का प्रभाव बढ़ा। प्रथमतः इटैलीवासियों ने यूनानी

साहित्य एवं संस्कृति का आनन्द लिया। माध्यमिक काल में अध्ययन के विषय थे धार्मिक ग्रन्थ। किन्तु आधुनिक विशेषता मानववाद (Humanism) के रूप में प्रस्फुटित हुई। मानववाद के अन्तर्गत ऐसे विषय समाहित होने लगे जिनमें मानव-जीवन की वास्तविक उपयोगिता निहित थी। दाँते (Dante) यद्यपि माध्यमिक काल का लेखक था, किन्तु उसका ग्रन्थ डिविना कॉमेडिया (Divina Commedia) आधुनिक युग के साहित्य का पूर्वगामी कहा जाता है। पेट्रार्क (Petrarch, १३०४–७४) भी मानववाद का ही समर्थक था। "पेट्रार्क को समझना मानववाद को समझना है"। उसने प्राचीन साहित्य के अध्ययन को मानव-कल्याण के लिए हितकर समझा। उसका शिष्य था बोकेशियो (Boccaccio, १३१३-७५) जिसने कालान्तर में इङ्गलैंड के प्रसिद्ध कवि चॉसर को प्रभावित किया। आधुनिक काल की विद्या के प्रवर्तकों में थे फ्लोरेंस के मेडिसी (Cosimo and Lorenzo) तथा निकोलस पंचम (१४४७–५५), जूलिएस (१५०३–१३), लीओ दसम् (१२१३–२१) आदि पोप। लीओ के काल में रोम विद्या के पुनर्जन्म का प्रमुख केन्द्र बन गया। वास्तव में, कुस्तुन्तुनिया की पराजय से यूनान की पराजय नहीं हुई, प्रत्युत वह उठ कर इटैली में चला आया। मानव-इतिहास में इस

विविध साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं अन्वेषक

प्रकार के बौद्धिक विकास का प्रभूत महत्व है। विद्या एवं संस्कृति के लिए जो उत्साह देखा गया, खोजों के फलस्वरूप अनुभव एवं प्रयोगों की जो शैली आरम्भ हुई तथा इन बातों के कारण कालान्तर में जो धार्मिक सुधारणाएँ प्रकट हुईं वे सोलहवीं शताब्दी को न-केवल विचित्र महत्ता देती हैं प्रत्युत विश्व के इतिहास में अभिनव अध्याय जोड़ती हैं। यूरोप के सभी देशों ने इसमें सहयोग दिया। विज्ञान एवं साहित्य ने मानव-मन की विशिष्ट सृष्टियों को उद्भावित किया जो आज विश्व की अमर सम्पत्ति हैं। रोजर बेकन (१२१४–९४) प्रयोगात्मक खोजों का प्रवर्तक था। तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी

तक विविध प्रकार की प्रतिभाएँ उद्भासित हुईं। दाँते (१२६५-१३२१) की बुद्धिवादिता एवं पेट्रार्क (१३०४–७४) की प्रेरणा ऐतिहासिक हो चुकी है। माइकेल एञ्जलो (Michael Angelo, १४७५–१५६४) एवं लेओनार्डो ड विंसी (Leonardo da Vinci, १४५२–१५१६) की बहुमुखी प्रतिभाएँ आज भी सम्पूज्य हैं। कोपर्निकस (Copernicus the Pole, १४७३–१५४३), टीचो ब्राहे (Tycho Brahe the Dane, १५४६–१६०१), केप्लर (Keplar the German, १५७१-१६३०) तथा गैलिलीओ (Galileo the Italian, १५६४–१६४२) आदि ज्योतिषियों एवं गणितज्ञों ने मानव को विशाल दृष्टि दी। चीनी कुतुबनुमा (Mariner's Compass) से बढ़कर चीनी मुद्रण-कला विशेष लाभदायक सिद्ध हुई। मानव-इतिहास में मुद्रण-कला का महत्त्व विद्या-विकास के बाद ही है। जर्मनी के कटेनबर्ग (Cuttenburg) तथा इङ्गलैण्ड के कैक्स्टन (Caxton) ने मुद्रण-व्यवस्था में अभूतपूर्व कार्य किए। कालान्तर में सुन्दर कागद भी बने। जिस प्रकार कालान्तर में वाष्प-यन्त्र के साथ कोयले का महत्व बढ़ा उसी प्रकार आरंभिक काल में मुद्रण के साथ कागद उपकारी सिद्ध हुआ। इनसे विद्या-विकास में महत्वपूर्ण सहयोग मिला।

मुद्रण एवं कागद

§. [५] साहित्यिक संसार में इटैली के अरिस्टो (Aristo, १४७४–१५३३) तथा मैकियावेली (Machiavelli, १४६९–१५२७), फ्रांस के रैब्लस (Rabelas, १४९०–१५५२) तथा मॉटेन (Montaine, १५३३–९२), स्पेन के सरवैंटिस (Cervantes, १५४७–१६१६) तथा इंगलैण्ड के स्पेंसर (Spencer, १५५२–९९), शेक्सपीयर (Shakespeare, १५६४–१६१६), तथा फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon, १५६०–१६२६) प्रतिनिधि लेखक हैं। इन साहित्यिकों ने मानव-बुद्धि को विशेष गति दी। इन विद्वानों ने आधुनिक युग के मानववाद (Humanism) को अपनी कृतियों से न केवल उज्जीवित किया, प्रत्युत

प्रसिद्ध साहित्यिक

उसमें विविध प्रकार की ज्ञानात्मक शृंखलाएँ जोड़ दीं। विद्या के पुनर्जन्म के काल में सबसे बड़ा कल्पनात्मक ग्रन्थ है टॉमस मूर का यूटोपिया (Utopia of Sir Thomas Moor)। यह पुस्तक अपने युग की विशेषताओं से बहुत ऊपर उठती है और व्यक्त करती है कि नयी-नयी खोजों एवं व्यापक बुद्धिवाद के फलस्वरूप एक प्रतिभाशाली व्यक्ति किस प्रकार की मानवी कल्पनाएँ कर सकता है। मूर अपने काल से बहुत आगे था। रेबेलास, मॉण्टेन, सर्बेंटिस, बेकन तथा शेक्सपीयर की साहित्यिक कृतियों ने मानव का बड़ा कल्याण किया है।

§. [६] आधुनिक काल में अभिनव खोजों से जो प्रेरणाएँ मिलीं वे जीवन के अन्य पहलुओं को अनुप्राणित करने में समर्थ हुईं। मानी हुई बात है, जब धन का वैभव बढ़ता है और प्रकाश का अतिरेक होता है तो मानव में निर्माण एवं सौंदर्यानुभूति की अभिकांक्षाएँ जगती हैं। सच है, आधुनिक काल के सूत्रपात के साथ ही कलात्मक सृष्टियाँ भी अपना विशिष्ट महत्व रखने लगीं। निर्माण में सौन्दर्य एवं शैली की खोज होने लगी। माध्यमिक काल की वास्तुकला बोझिल थी। रोमक वास्तु-कला के स्थान पर गोथिक वास्तु-कला-सौन्दर्य फूट पड़ा। अब सुन्दर-सुन्दर पतले एवं समलयता के प्रतीक स्तम्भों पर खड़े भवन बनने लगे जिनमें भव्याकार के वातायन सुशोभित थे। इस युग की निर्माण-कला के ज्वलन्त प्रतीक हैं: रोम में सन्त पीटर, इंगलैण्ड में सन्त पाल, वेनिस में सन्त मार्क एवं डोगे-भवन के गिरिजाघर। ये भवन आधुनिकता के सूचक हैं और हैं विशिष्ट वास्तु-कला के समर्थक।

वास्तु-कला

§. [७] विद्या के पुनर्जन्म के युग में चित्रकला का भी अपना विशिष्ट महत्व है। चित्रकला की देनें आज की दुनिया में अब भी गौरव पाती हैं। हॉलैण्ड के चित्रकार थे भ्रातृ-द्वय हूबर्ट तथा जन (Hubert and Jan, १३८०—१४४०) जिन्होंने अपनी कृतियों में

चित्रकला

मौलिकता के साथ सजीवता भर दी। जर्मनी के प्रमुख चित्रकार थे अलब्रेख्‌ ड्यूरेर (Albrecht Durer, १४७१-१५२८) तथा हैंस होलबीन (Hans Holbein, १४६७-१५३३)। किन्तु इटैली के चित्रकार सबसे बड़े थे जिनमें लेओनार्डो ड विंसी, रैफेल (Raphael, १४८३-१५२०), माइकेल एञ्जलो, टिटिएन (Titian, १४७७-१५७६) प्रमुख हैं। इन चित्रकारों ने अपनी मौलिकता में वास्तविक जीवन की छाया-प्रतिच्छाया पिरो दी है। इनकी कृतियों का प्राधान्य युगों तक चलता रहा और आज का युग इनका बहुत ऋणी है।

गत प्रकरणों में जो तथ्य उपस्थित किए गए हैं वे आधुनिक युग के प्रारम्भिक मोहक प्रयत्न हैं और हैं ऐसी मौलिकता, ऐसे प्रयत्नों एवं ऐसे अनुसंधानों तथा आविष्कारों की प्रेरणा के द्योतक जो हठात्‌ मानव को नया आवरण पहनाने वाले हैं और उसे नये ढंग से अनुप्राणित करने वाले हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

[२] आधुनिक युग का सूत्रपात; धार्मिक सुधारणा

§. [१] गत अध्याय में हमने आधुनिक युग के सूत्रपात के मूल में बिखरी बौद्धिक अभिचेतनाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया और मानववाद की आरम्भिक सचेतन प्रवृत्तियों को उद्भावित करने वाले प्रतिभाशाली व्यक्तियों की कृतियों का पर्यवेक्षण किया। इस परिच्छेद में हम आधुनिक युग की अन्य प्रसरण-धाराओं में उन धार्मिक सुधारणाओं का विवेचन करेंगे जिनके मूल में आदिकाल से चली आती हुई चेतनाएँ माध्यमिक काल में अवरुद्ध हो अन्धविश्वासों, रूढ़ियों एवं परम्पराओं के दुर्भेद्य वृत्तों में आवृत हो गयी थीं। बौद्धिक सुविचारणाओं के फलस्वरूप यूरोप में जिन सुधारणाओं ने बल पकड़ा उन्हें अंग्रेजी में रिफार्मेशन (Reformation) कहा जाता है। जिन बहुमुखी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप यूरोप को विशाल दृष्टि मिली, विशाल मानवता मिली और मिलीं साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं कलात्मक कृतियाँ उनकी परिणति होनी ही थी। कालान्तर में धार्मिक जीवन को बौद्धिक चेतनाओं ने मथ डाला जिनसे निकले अनमोल रत्न। बाइबिल में अनुधारित विश्वजनीन बातों को ठेस लगी, क्योंकि नयी-नयी खोजों, आविष्कारों एवं प्रयोगात्मक प्रणाली ने मानव को तार्किक बना दिया। श्रद्धा को धक्का लगा। इसका परिणाम दुखद एवं सुखद दोनों हुआ किन्तु विचारों के संघर्षों में बहता एवं उमड़ता-घुमड़ता यूरोप एक नवीन यूरोप हो गया जिसमें आधुनिक विश्व की सभी अग्रगामी प्रवृत्तियाँ छिपी हुई थीं।

पूर्वाभास

धर्म के अन्ध-विश्वासों की जड़ें हिल गयीं। धार्मिक स्थानों में श्रद्धा की अन्ध प्रवृत्तियों से विषाक्त वातावरण गूँज रहा था, चारों ओर अमानुषिकता का प्रकोप था। नयी बातों को स्थान नहीं था। धर्मा-

धिकारी कदाचारी हो गए थे और अपनी दुर्वृत्तियों से भक्तों को ठगते थे। यह सब कब तक चल सकता था ? बुद्धिवाद ने एक धक्के से सभी दुर्बोध, अबोध, पापमय एवं अधार्मिक कृत्यों को ला कर जनता की वास्तविक दृष्टि के समक्ष रख दिया। यह किस प्रकार हुआ, एक लम्बी कहानी है। हम नीचे के प्रकरणों को स्थानाभाव के कारण सूक्ष्म रूप ही दे सकेंगे।

§. [२] जिन व्यक्तियों के बुद्धिवाद से धार्मिक चेतना जगी उनमें इङ्गलैण्ड के जॉन विकलिफ (John Wicliffe) का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है। वे धार्मिक सुधारणा के "प्रभा-नक्षत्र" (The Morning Star of Reformation) कहे जाते हैं। उन्होंने पहले-पहल पोप अर्बन पंचम द्वारा निकाली हुई आज्ञा के, कि इंगलैण्ड को राजा जॉन द्वारा प्रतिश्रुत धर्म-कर देना चाहिए, विरुद्ध अपना स्वर ऊँचा किया। उन्होंने कहा कि वह कर इंगलैण्ड की जनता पर नहीं लादा जा सकता। उन दिनों अन्य कारणों से, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है, विदेशी चर्च के विरोध में स्वर ऊँचा हो चुका था। जॉन विकलिफ की महानता बढ़ी। उन्होने बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद किया और इस प्रकार वे अंग्रेजी गद्य-साहित्य के प्रथम अग्रदूत माने गए। किन्तु धर्माधिकारियों ने उनका प्रबल विरोध किया। उनके अनुयायी "लोलॉर्ड" या "साधारण पुजारियों" के नाम से विश्रुत हुए। इन धार्मिक विद्रोहों के कारण "कृषक-विद्रोह" (The Peasants' Revolt) भी हुआ। पोप ने उन्हें धर्म-बन्धन से निकाल बाहर किया (He was excommunicated)। उनकी मृत्यु सन् १३८४ ई० में हो गयी।

'प्रभा-नक्षत्र'
जॉन विकलिफ
(सन् १३२०—८४)

§. [३] उन दिनों चर्च के पास अतुल सम्पत्ति हो गयी थी। देश में राजा की सम्पत्ति और धर्म-सम्पत्ति के बीच एक लम्बी खाईं खुद गयी थी। प्रश्न यह था : चर्च के मठों के अधीशों की नियुक्ति कौन करे ? इन मठों की

पोप एवं उनके झगड़े

भूमि पर राजा कर लगावे या नहीं ? चर्च-सम्बन्धी नियमों के विरोधियों या दुराचारियों पर मुकद्दमा कौन चलावे ? उन पर साधारण कानून लागू होंगे या धार्मिक कानून ? क्या पोप को किसी देश के राजा तथा उसकी प्रजा के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है ? इन प्रश्नों के समाधानों को लेकर एक संघर्ष उठ खड़ा हुआ। पोप बोनीफेस अष्टम तथा फ्रांसीसी राजा फिलिप के बीच इन बातों को लेकर झगड़ा उठा जिसका परिणाम भयंकर हुआ। सन् १५९६ ई० में बोनीफेस ने अनुशासन निकाला कि कोई धर्माधिकारी बिना उसकी आज्ञा के किसी राजा को किसी प्रकार का कर न दे। इन्होंने इस विषय में राजाओं को भी आगाह कर दिया। फ्रांसीसी राजा फिलिप ने झगड़ा मोल ले लिया। सन् १३०५ में फिलिप के मनोनुरूप पोप हुआ (क्लीमेण्ट पंचम)। सन् १३७७ तक सारे पोपों का निर्वाचन फ्रांस की सीमा पर अविग्नान (Avignon) में होता रहा। उधर रोम में भी विरोधी पोप का अभिषेक हुआ। अब इन विपक्षी दलों में संघर्ष आरम्भ हो गया। किसी प्रकार सन् १४०९ में पिसा (Pisa) नामक स्थान पर समझौता हुआ और विपक्षी दलों के पोपों को हटा कर एक तीसरे पोप की नियुक्ति हुई। अब तो इस प्रकार रण-स्थल में तीन पोप आ गए। यह झगड़ा कहीं जाकर सन् १४२७ ई० में दूर आ। जिस सभा ने यह झगड़ा दूर किया उसे कॉन्स्टैंस की कौंसिल (Council of Constance) कहते हैं। इसने विकलिफ के एक अनुयायी हस को, जो बोहिमिया का निवासी था, जीवित ही जला दिया और पूर्व नियुक्त पोपों को हटाकर मार्टिन पंचम को पोप बनाया।

§. [४] विकलिफ के उपरान्त चर्च-विरोधियों में इरैस्मस एवं लूथर (Erasmas and Luthar) के नाम अग्रगण्य हैं। इरैस्मस (१४६६–१५३६) एक विद्वान् था। उसने चर्च के दोषों को दूर करने के अथक प्रयत्न किए। वह हॉलैण्डवासी था, किन्तु उसने अपना जीवन फ्रांस, इंगलैण्ड इटली तथा जर्मनी में बिताया। वह बड़ा धार्मिक

इरैस्मस

था और आरम्भ में एक मठाधीश बना। उसने क्रमशः मठों के अधिकारियों का भण्डाफोड़ किया। उसने एक ग्रन्थ भी लिखा (The Praise of Folly) जिसमें उसने तत्कालीन चर्च की बुराइयाँ स्पष्ट कर दीं। उसकी पुस्तक का जनता में प्रभूत प्रभाव पड़ा। इरैस्मस से कहीं बहुत बड़ा धर्म-सुधारक हुआ मार्टिन लूथर (१४८३—१५४६) जो आरम्भ में विटेनबर्ग की यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर था। वह भी कुछ दिन तक मठाधीश था। जब वह रोम में गया तो वहाँ की कुवृत्तियों को देख कर उसके रोयें खड़े हो गए। उसने पोप को नाना प्रकार के अत्याचारों का अंग पाया। उसने देखा कि मठाधीश दुराचारों के प्रतिपालक हैं और

जॉन लूथर

उनका जीवन राजकुमारों के जीवन को मात करने वाला है। उसने देखा कि उनके पास राज्य है और वे राज्य-प्राप्ति के लिए एक दूसरे से आगे बढ़ जाना चाहते हैं; उसने देखा कि उनकी अनौरस सन्तानें उनकी उत्तराधिकारिणी हैं; उसने देखा कि धर्माधिकारी भौतिक जीवन



चित्र ३३—जॉन लूथर

से इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उन्हें धर्म-भाव का कुछ भी ध्यान नहीं है और उसने देखा कि उनकी आँखों के नीचे अधर्म के अगणित आचरण हो रहे हैं। लूथर का हृदय दहल उठा। उसने जब यह देखा कि धर्म के नाम पर पोप धन इकट्ठा करने के लिए "इण्डल्जेंस" (Indulgence), जो एक प्रकार का टिकट था और जिसके द्वारा स्वर्ग का द्वार खुल जा सकता था, बेच रहा है, तो उसका मन घृणा

से भर उठा। सन्त पीटर के चर्च के निर्माण के हेतु यह धन एकत्र किया जा रहा था। लूथर ने कहा कि यह सब प्रपंच है, ढोंग है और है श्रद्धालु व्यक्तियों को धर्म के ढकोसले से बर्गलाना। उसने एक बलशाली विरोध खड़ा किया। उसने बिटेनवर्ग चर्च के मुख्य द्वार पर अपनी ६५ धर्म-विरोधिनी मान्यताएँ जड़ दीं। उसके विरोध का उत्तर देना कठिनसाध्य कार्य था। अन्त में उसके विरोधों (Protests) के कारण पोप ने उसे सन् १५२० में धर्म-च्युत कर दिया और सम्राट् चार्ल्स पंचम ने उस पर अनुशासन लगा दिया। लूथर ने इन आज्ञा-पत्रों को जला दिया। इस प्रकार योरोप में धार्मिक सुधार की लपटें बढ़ चलीं। विश्व के इतिहास में लूथर का अपना स्थान है।

लूथर पर धार्मिक मुकद्दमा चला, किन्तु उसने एक न मानी। वह अपने विचारों पर आरूढ़ रहा। सम्राट् चार्ल्स पंचम ने उसे दण्ड दिया। किन्तु लूथर विचलित न हुआ। इस प्रकार एक विरोधी धर्म-दल का सूत्रपात हुआ जिसे प्रोटेस्टैण्ट धर्म कहते हैं। लूथर लड़ाई का विरोधी था, यहाँ तक कि आर्थिक बातों को लेकर जब कृषक-विद्रोह हुआ तो उसने उसे दबाने का प्रयत्न किया। क्रमशः लूथर के विचार अग्नि की चिनगारियों की भाँति सर्वत्र फैलने लगे। बड़े-बड़े राजा उसके विचारों से आक्रान्त हो गए और उन्होंने अपने को प्रोटेस्टैण्ट कहा। यह धार्मिक विरोधवाद (Protestantism) अन्त में धार्मिक सुधार बन कर रह गया।

विरोधवाद

§. [५] धर्म को लेकर जो झगड़ा जर्मनी में चला उसका एक निश्चय ऑग्सबर्ग की सन्धि (Peace of Augusburg, १५५५) के नाम से प्रसिद्ध है। तय पाया कि कोई भी राजा अपने राज्य में कैथोलिक धर्म का या नये धर्म का अनुयायी हो सकता है। हाँ, प्रोटेस्टैण्ट होने पर मठाधीशों को अपनी सम्पत्ति लौटा देनी

कैथोलिकवाद के विरोध में प्रोटेस्टैण्टवाद

पड़ती थी। राज्य का धर्म प्रजा का धर्म हो गया (Cujus regio ejus religio)। धर्म में इस प्रकार दो विशिष्ट प्रकार हो गए: कैथोलिकवाद एवं प्रोटेस्टेण्टवाद (विरोधवाद)।

इटैली तथा स्पेन को छोड़ कर सभी यूरोपीय देशों में विरोधवाद की लपटें दौड़ पड़ीं। स्विज़रलैण्ड, इङ्गलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड में तो विरोधवाद को लेकर बहुत-से युद्ध हुए और

ज्विंगली एवं काल्विन

भयंकर परिवर्तन भी हुए। स्विज़रलैण्ड का धार्मिक प्रवर्तक था ज्विंगली (Zwngli, १४८८--१५३१) तथा फ्रांस का काल्विन (Calvin, १५०६--६४) था। ज्विंगली एक विद्वान् एवं मानववादी (Humanist) था। उसने लूथर के पूर्व ही अपने विरोधों को स्वर दिया था। उसके प्राण धार्मिक युद्ध में ही विलीन हो गए। ज्विंगली को जनता से प्रभूत सहायता मिली थी किन्तु उसकी मृत्यु से उसके स्थान ज्यूरिच (Zurich) से उठकर उसका विरोधवाद जिनेवा में चला गया। जॉन काल्विन सभी धार्मिक सुधारकों से प्रबल सिद्ध हुआ। पश्चिमी यूरोप में धार्मिक विषयों में उसका उतना ही प्रभुत्व बढ़ा जितना कि रूस में लेलिन का साम्यवादी विषयों को लेकर। काल्विन आदर्शवादी था। उसने अपने अनुयायियों में कठोर जीवन के आचरणों के प्रतिपालन की लौ फूँक दी। उसकी धार्मिक विचार-धाराओं का केन्द्र था जिनेवा। काल्विन ने श्रेष्ठजनों (Presbyters = elders) के हाथों में धार्मिक बातें छोड़ दीं, अतः उसका विरोधवाद काल्विनवाद या "प्रेसबीटेरियनिज़्म" कहा जाता है। फ्रांस तथा स्काटलैण्ड में उसके वाद का प्रसार बहुत हुआ।

फ्रांस में धार्मिक सुधारणा का एक स्वरूप था वाल्डेनवाद (Waldenism) जिसके प्रवर्तक थे वाल्डो (Peter Waldo)। वाल्डेनों को बहुत कष्ट दिये गये। पीटर वाल्डो

फ्रांस में विरोधवाद

के अनुयायियों को हेनरी द्वितीय ने महान् कष्ट दिये। काल्विन के आदेश से फ्रांस में विरोध-

वाद का नया सूत्रपात हुआ और एक धार्मिक युद्ध उठ खड़ा हुआ जो सन् १५५६ से १५६८ तक चलता रहा। फ्रांस में विरोधवाद ह्यूजेनाट्सों (Huguenots) के द्वारा प्रबल हो उठा। ये ह्यूजेनाट्स प्रोटेस्टेण्ट ही थे। सन्त बार्थोलोम्यू के दिवस के दिन सन् १५७२ ई० में बहुत-से ह्यूजेनाट्स मारे गये। इस युद्ध में इङ्गलैण्ड तथा फ्रांस के विरोधवादी सम्मिलित थे। कालान्तर में नवारे के हेनरी (Henry of Navarre) के नेतृत्व में फ्रांस के विरोधवादियों को कुछ साँस मिली। नेण्टिस की सन्धि (The Edict of Nantes. १५६८) से उन्हें बहुत-सी सुविधाएँ मिलीं।

स्काटलैण्ड में काल्विन के शिष्य जान नॉक्स (John Knox) ने विरोधवाद का प्रचार किया। उसने जिस चर्च (किर्क = Kirk) की स्थापना की वह तीन शताब्दियों तक स्थिर रहा। इङ्गलैण्ड में विकलिफ ने पहले से ही भूमिका तैयार कर रखी थी। वहाँ कुछ दिनों तक इरेस्मस भी रह चुका था। बस आग लगाने की देर थी। वहाँ का राजा हेनरी अष्टम अपनी रानी कैथरिन का त्याग करना चाहता था, अतः उसके वैयक्तिक कारणों ने ही वहाँ विरोधवाद का प्राबल्य बढ़ाया। उसने सन् १५२६ ई० में पार्लियामेण्ट में कानून बना करके इङ्गलैण्ड को पोप का विरोधी बना दिया। पोप ने उसे स्पेन के डर से, क्योंकि कैथरिन स्पेन की पुत्री थी, तलाक की आज्ञा नहीं दी थी। इस प्रकार इङ्गलैण्ड में जो सुधार हुआ वह राजनीतिक था न कि धार्मिक। हेनरी ने अपने को इङ्गलैण्ड के चर्च का प्रधान माना। पहले वह धर्म का प्रधान संरक्षक (Defender of the Faith) माना जाता था, क्योंकि उसने लूथर के विरोध में कैथोलिक चर्च का समर्थन किया था। किन्तु अपनी आशाओं की पूर्ति में ही उसने नये सुधारवादी धर्म की मान्यता स्वीकार की। इंगलैण्ड में विरोधवाद की कहानी कई चक्करों में होकर चलती रही। हेनरी अष्टम के उत्तराधिकारियों में एडवर्ड षष्ठ विरोधवादी था, रानी मेरी कैथोलिक

स्काटलैण्ड तथा इंगलैण्ड में विरोधवाद

थी, किन्तु एलिजाबेथ ने बीच का मार्ग (*Via media*) माना। मेरी ने बहुत से विरोधियों को जला दिया। एलिजाबेथ की नीति से विरोधवाद अन्य वादों के साथ प्रतिफलित होता रहा।

§. [६] यह है संक्षेप में यूरोप में धार्मिक सुधारणा एवं विरोधवाद की कहानी। कैथोलिकवाद को बहुत धक्का लगा। चारों ओर धार्मिक सुधारों की प्रकाश-किरणें दौड़ पड़ीं।

प्रतिक्रिया-सुधारणा

कैथोलिकवाद के लिए जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था। उसे कुछ ऐसे उपाय करने पड़े जिसके फलस्वरूप वह प्रतिकूल आँधियों के बीच तन कर चल सके। इन उपायों को सुधारवादी प्रतिक्रिया या प्रतिक्रिया-सुधारवाद (Counter Reformation) कहा जाता है। (१) स्पेन में सन्त एग्नेटिएस लाएला (१४९१–१५५६) ने एक समिति स्थापित की थी जो "सोसाइटी आव् जीसज" के नाम से प्रसिद्ध थी। उसके अनुयायी जेसुइट्स (Jesuits) कहे जाते थे। इन जेसुइटों ने

जेसुइट्स

कैथोलिक धर्म की रक्षा के लिए नाना प्रकार के उपाय किए। उन्होंने एक सेना का संगठन किया जिसे पोप पाल तृतीय ने आशीर्वाद दिया। जेसुइटों ने अपने प्रयत्नों को यूरोप तक ही नहीं सीमित रखा। वे चीन तक गए। उन्होंने भारत, अमेरिका आदि देशों में अपने धार्मिक दल भेजे। जेसुइटों ने कैथोलिक शिक्षा का प्रबन्ध किया। उनका प्रभाव इतना पड़ा कि कैथोलिक धर्म जीवित रह सका, नहीं तो वह सुधारवाद एवं विरोधवाद की आँधी में कहीं उड़ गया होता। (२) कैथोलिक धर्म के

कौंसिल आव् ट्रेण्ट

उत्थान में दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व था ट्रेण्ट की कौंसिल (The Council of Trent) जिसने सन् १५४५ से १५६३ तक कार्य किया। इसने कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या की, उनका प्रतिपादन किया और उन्हें विरोधवाद के चंगुल से बचाने का प्रयत्न किया। इसने अन्य विरोधी विश्वासों के मूल पर आघात किया। इसने कैथोलिक चर्च

में घुसे हुए दुराचरणों को दूर किया और मठाधीशों में कड़े अनुशासन की व्यवस्था की। (३) पोप ने एक विशेष आज्ञा निकाली जो इण्डेक्स (Index) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा उसने विरोधवादी साहित्य पर प्रतिबन्ध लगा दिए। प्रतिक्रिया-सुधारणा का अन्तिम अस्त्र था इंक्विज़िशन (Inquisition) जिसके द्वारा विरोधियों को प्राण-दण्ड दिया जाता था। इन अन्तिम उपायों से स्पष्ट होता है कि पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी के बहुमुखी प्रकाश-किरणों के फैलने के उपरान्त भी यूरोप में किस प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता कार्यशील थी।

यह है यूरोप में धार्मिक सुधारणा की कहानी जिसके मूल में विद्या का पुनर्जन्म था जिसने जनसाधारण में ज्ञान-प्रकाश की किरणें उद्भासित की थीं। इस सुधारणा से यूरोप को नयी ज्योति मिली किन्तु साथ ही साथ रक्त की सरिता भी बह चली। अस्तु; आधुनिक युग की विशेषताओं में धार्मिक सुधारणा अपना विशेष महत्व रखती ही है।

बारहवाँ अध्याय

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)

§. [१] यूरोप में अठारहवीं शताब्दी में जो औद्योगिक क्रान्ति हुई उसका विश्व-इतिहास में अपना अनूठा महत्व है। इस क्रान्ति का सूत्रपात प्रथमतः इङ्गलैण्ड में हुआ और उसने सारे विश्व को मोह लिया। आज का मानव-इतिहास उसी क्रान्ति से विमोहित है। आज की मानवी सभ्यता एवं संस्कृति में उस क्रान्ति के उपकरण इस सीमा तक अन्तर्निहित हैं कि हम अपने प्राचीन वैभव को केवल रोमांटिक रूप में ही ग्रहण करने लगे हैं। आज का विश्व अपनी यान्त्रिकता की शृंखलाओं में बँधा त्राहि-त्राहि कर रहा है और पीछे घूम कर देखता है तो वह अपने को समझ भी नहीं पाता। आधुनिक उद्योग एवं धन्धे अपनी प्रचुरता में इतने आगे हैं और उन्हें ऐसे-ऐसे आविष्कारों की प्रेरणाएँ मिलती जा रही हैं कि विश्व की गति तीक्ष्ण हो गयी है। वास्तव में, औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात किसी एक तिथि में नहीं हुआ, कई विशिष्ट तिथियों को इसका श्रेय है। ऐतिहासिकों ने अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दो चरणों में एक ऐसी क्रान्ति का दर्शन किया है जिसने विश्व की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक एवं वैज्ञानिक स्थितियों में महान् परिवर्तन ला दिया। जिस युग में यह क्रान्ति हुई उस युग में कई एक क्रान्तियों का दर्शन हुआ जिसने विश्व के इतिहास को नयी-नयी दिशाएँ दी हैं, यथा—सप्तवर्षीय युद्ध, अमेरिका में स्वातन्त्र्य का युद्ध तथा फ्रांस की क्रान्ति। अतः कुछ ऐतिहासिकों ने औद्योगिक शब्द के साथ लगे "क्रान्ति" शब्द को निरर्थक समझा है। किन्तु अब यह शब्द पुराना हो चुका है और वास्तव में, औद्योगिक प्रयत्नों ने विश्व-गति में क्रान्ति की उद्भावना अवश्य कर दी है अतः इस अध्याय में 'क्रान्ति' शब्द का मोह नहीं छूट सकेगा।

पूर्वाभास

§. [२] विश्व के इतिहास में इङ्गलैण्ड की अपनी विशेषता है। अपनी भौगोलिक स्थितियों के कारण इङ्गलैण्ड अन्य देशों की अपेक्षा अपनी पृथक् सत्ता रख सका है। यद्यपि अन्तर्देशीय युद्धों में उसने सक्रिय भाग लिए हैं, किन्तु राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नयनों में उसने अपनी ही गति सँवारी है। यूरोप में जब कभी युद्ध हुए हैं, वहाँ के देशों की आर्थिक स्थिति पर गहरा धक्का पहुँचा है। किन्तु इंगलैण्ड में अपेक्षाकृत आर्थिक शान्ति रही है। इंगलैण्ड विश्वव्यापी युद्धों में भी अपनी आर्थिक स्थिति से व्याकुल नहीं हुआ। हाँ, आधुनिक युग में उसकी स्थिति दूसरी है। इंगलैण्ड को बाह्य युद्धों से मानों व्यापार एवं वाणिज्य में प्रेरणाएँ मिलती रही हैं। रोमकों ने इंगलैंड को उत्तर का अन्नालय (The Granary of the North) कहा था, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप वह संसार की उद्योगशाला (The Workshop of the World) हो गया। औद्योगिक क्रांति ने प्राचीन गाँवों को नष्ट कर दिया क्योंकि अब वहाँ कताई-बुनाई की उद्योग-शालाएँ बन [illegible] से धन-सम्पत्ति में वृद्धि हुई, लोहे, इस्पात एवं [illegible] स्थापित हो गयीं जिनके फलस्वरूप इंगलैण्ड का [illegible] शाला हो गया। यह सब कैसे हुआ? बात यह हुई कि इंगलैण्ड में बहुत-से यान्त्रिक आविष्कार हुए जिनमें निम्नलिखित विश्व-विश्रुत हैं: (१) सन् १७६४ में हारग्रीवृज़ की कातने वाली जैनी (Hargreave's spinning Jenny), सन् १७६६ में अर्कराइट की पानी से चलने वाली मशीन (Archwright's 'Water frame'), सन् १७७६ में क्राम्पटन का म्यूल (Crompton's Mule), सन् १७८५ में कार्टराइट का शक्ति से चलने वाला कर्घा (Cartwright's power looms), सन् १७६२ में ह्विटनी का जिन आदि। इन सब में महत्त्वपूर्ण आविष्कार था यन्त्रों को चलाने वाले वाष्प-एंजिन का आविष्कार। वाट (१७६६) तथा स्टेफेंसन (१८१४) ने वाष्प का प्रयोग सिद्ध कर दिया जिसके फलस्वरूप

औद्योगिक क्रान्ति के उपकरण

औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई और यातायात के साधन उपलब्ध हो सके। इन आविष्कारों ने उत्पादन-शक्ति को बहुत बढ़ा दिया। इन आविष्कारों ने कितने परिवर्तन ला दिये हैं उनका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि इन्होंने ही आधुनिक युग को आज का स्वरूप प्रदान किया है। आज के सारे भोग-विलास, कठिनाइयों, संघर्षों, भयानकताओं, दृष्टिकोणों आदि के मूल में औद्योगिक क्रान्ति ही है।

औद्योगिक क्रान्ति के व्यापक प्रभाव

§. [३] औद्योगिक क्रान्ति ने, जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, इंगलैण्ड की उत्पादन-शक्ति को कई गुनी शक्ति दे दी। इङ्गलैण्ड में कच्चे माल की माँग बढ़ गयी और उसे नये-नये देशों की आवश्यकता पड़ने लगी जहाँ पर वह अपनी तैयार सामग्रियों को उड़ेल सके। अब भारत ही उसे ऐसा देश मिला जहाँ उसकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती थी। भारत से कच्चे माल जाने लगे और निर्मित माल आने लगे। आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कच्चे माल-पर अधिक कर लगाया किन्तु सन् १८१३ ई० में जब इंगलैण्ड की सभी कम्पनियों को व्यापार करने की आज्ञा मिल गयी तो भारत में आने वाले सामानों पर कर साधारण ही था। आने वाले सूत के माल तथा रेशम के माल पर क्रम से १०% तथा २४% का कर था। बंगाली व्यापारियों ने व्यर्थ में आवेदन-पत्र दिये। भारत तो गुलाम देश था! इङ्गलैण्ड वालों ने इसे पर्याप्त चूसा। ध्यान दीजिए: सन् १८१५ ई० में ८,००,००० गज कपड़ा भारत में आता था तथा १८३० में वही बढ़ कर ४५,००,००० गज हो गया। यदि भारत स्वतन्त्र होता तो यहाँ के उद्योग-धन्धे स्वतः बढ़ते और लंकाशायर की उतनी उन्नति न होती।

भारत

औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव इस प्रकार भारत में बड़ा ही भयावह रहा। यहाँ की उद्योगशीलता पर धक्का पहुँचा, ढाका आदि प्रसिद्ध कपड़े के धन्धों को ऐसी चोट पड़ी कि वे पुनः न उठ सके। भारत का धन

चूस लिया गया। यहाँ पर औद्योगिक व्यापार न पनप सका, क्योंकि यह तो इङ्गलैण्ड के माल का बाजार था न!

हाँ, इङ्गलैण्ड को परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रूप से बहुत लाभ हुए। उसकी राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियों में विशाल परिवर्तन हुए। कृषि-उद्योग बढ़ा, ऊन-उद्योग को प्रगतिशीलता मिली, नये-नये यन्त्रों की सहायता से नाना प्रकार के उद्योग बढ़ते ही गये। एक ओर धन-सम्पत्ति का प्राचुर्य हुआ तो दूसरी ओर बेकारी की समस्या भी बढ़ी। जन-संख्या की वृद्धि हुई, किन्तु उनकी खपत उपनिवेशों तथा युद्धों में होती रही। कप्तान कुक ने आस्ट्रेलिया का पता लगा लिया था, वहाँ भी जन-संख्या की समस्या हल की जाने लगी। अमेरिका में भी इंगलैण्ड के लोग जाने लगे। कहा जाता है, अमेरिका उन दिनों भारत का अण्डमान था। इंगलैण्ड के अपराधी इन देशों में जाने लगे और वहाँ पर इंगलैण्ड की सुरक्षा, उत्पादन की शक्ति को बढ़ाने लगे। इंगलैण्ड की जन-संख्या के आवर्तन-विवर्तन में भी परिवर्तन हुए। अब अधिक जन-संख्या औद्योगिक नगरों में जाकर रहने लगी। इन नगरों की दशा बहुत ही असाधु थी। यहाँ धनिकों ने निर्धनों को भलीभाँति चूसा, उनसे काम लिया किन्तु दिया बहुत कम। इन औद्योगिक नगरों में नये लार्डों एवं "भद्र पुरुषों" की संख्या बढ़ी। अब उन्हें भी राज-नीतिक अधिकार चाहिए था, क्योंकि अभी तक के कानूनों से वे दूर थे। फिर तो राजनीतिक सुधारों की माँगें बढ़ीं। उन्नीसवीं शताब्दी में बहुत से सुधार हुए। पार्लियामेण्ट में अभी दकियानूसी सदस्यों का बोलबाला था, उदार दल वाले निर्बल थे। किन्तु समय की गति ने चक्कर पर चक्कर बदले और यूरोप की १८३० तथा १८४८ की क्रान्तियों ने इङ्गलैण्ड में भी अपने प्रभाव छोड़े। सन् १८३२, १८६७, १८८४ में राजनीतिक सुधार हुए, जिनके फलस्वरूप नये नगरों के वासियों को जनमत का अधिकार मिला। धार्मिक क्षेत्रों में उदारता के लक्षण दीख

इङ्गलैण्ड

सुधारों की धूम

पड़े। दरिद्र व्यक्तियों के लिए कानून (Poor Laws) बने, शिक्षा में प्रगति हुई, फैक्टरियों में काम करने वालों के घण्टों में सुधार हुआ, स्वास्थ्य-सुधार कानून बने, दास-प्रथा का नाश हुआ, भारत में भी सुधारों का डंका पीटा गया। प्रेस की उन्नति हुई, तथा अन्य प्रकार के सुधारों के स्वर गूँजने लगे।

§. [४] औद्योगिक क्रान्ति का इंगलैण्ड पर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो हमने देख लिया। अब हमें यह देखना है कि इस क्रान्ति से विश्व में क्या व्यापक प्रभाव पड़े। यह सत्य है कि आधुनिक युग में विश्व में इंगलैण्ड का वही स्थान था जो प्राचीन काल के यूरोप में एथेंस का। इंगलैण्ड की विचार-धाराओं, आन्दोलनों एवं घटनाओं का प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ता रहा है। क्यों? इसके मूल में इंगलैण्ड की राजनीतिक एवं वाणिज्य-सम्बन्धी महत्ता है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कालान्तर में इंगलैण्ड की प्रजातान्त्रिक सत्ता एक प्रकार से पूर्ण हो गयी, क्योंकि उद्योगी जनता की माँगें क्रमशः बलवती होती चली गयीं। आज विश्व के कतिपय देश अभी इस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के लिए अपने भीतर ही संघर्ष कर रहे हैं। आज के विश्व के कुछ राष्ट्रों में औद्योगीकरण की समस्याएँ अब समाधान को प्राप्त होने जा रही हैं। औद्योगिक विकास के साथ-साथ इंगलैण्ड व्यावसायिक क्षेत्र में सब देशों से महान् हो गया और इसके साम्राज्यवाद को प्रभूत गति मिली। इंगलैण्ड की देखादेखी अन्य यूरोपीय देशों ने भी उपनिवेश-स्थापन में होड़ लगायी और कालान्तर में विश्व के मान-चित्र पर यूरोपीय देशों के साम्राज्य दीख पड़ने लगे। चारों ओर साम्राज्यवाद की तूती बोलने लगी, क्योंकि घर के सामान की बिक्री के लिए उपनिवेशों की बड़ी आवश्यकता थी। संसार में जो दो व्यापक महायुद्ध हुए हैं उनके मूल में साम्राज्यवाद की होड़ ही तो है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति ने सारे विश्व को प्रभावित कर

औद्योगिक क्रान्ति की देन

दिया। आज की समस्याओं, विषमताओं एवं यान्त्रिक विचारधाराओं के मूल में वही औद्योगिक क्रान्ति है। आज हमें विराम नहीं मिल पाता। किसी बड़े नगर में जाइए, लगेगा, किसी को अवकाश नहीं है, सब लोग दौड़ते दृष्टि-गोचर होते हैं। आज की सभ्यता बड़े-बड़े नगरों की सभ्यता है जहाँ मिलें हैं, फैक्टरियाँ हैं और हैं बड़े-बड़े उद्योग-धंधे। काल के प्रवाह में क्या रहेगा क्या नहीं रहेगा इसे अभी से सोचना भयावह लगता है। आज हम अणु-युग में हैं। यह युग क्या लेकर आया है, कहा नहीं जा सकता, किन्तु अणु-युग के मूल में औद्योगिक क्रान्ति की देनें अन्तर्निहित हैं। आज सुख के साधन हैं और हैं मृत्यु के सारे उपकरण।

तेरहवाँ अध्याय

यूरोप में बौद्धिक क्रान्ति

[Intellectual Revolution in Europe]

§. [१] आधुनिक यूरोप में १७वीं, १८वीं एवं १६वीं शताब्दियाँ भाँति-भाँति की बौद्धिक चेतनाओं एवं उपचेतनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इङ्गलैण्ड के इतिहास में १७वीं शताब्दी क्रान्तियों के लिए विशिष्ट स्थान रखती है क्योंकि उसी युग में एकतान्त्रिक शासन (Autocracy) की नींव हिल उठी और उसके स्थान पर धनाढ्य लोगों की प्रभुता (Aristocracy = उच्च जनतान्त्रिक शासन) स्थापित हुई। १८वीं शताब्दी में अमेरिका की क्रान्ति हुई जिसने एक नये राष्ट्र को जन्म दिया और राजनीतिक जनतन्त्रवाद (Political democracy) तथा सामान्य धार्मिक सहिष्णुता के विषय में प्रयोग करने की नींव पड़ी। इन शताब्दियों में यूरोप में कतिपय विचारक उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी विचार-धाराओं से ऐसी क्रान्ति उपस्थित की जिसका प्रभाव आज के विश्व पर भी पड़ा है। हम इस क्रान्ति को बौद्धिक क्रान्ति (Intellectual Revolution) की संज्ञा देते हैं।

पूर्वाभास

§. [२] इस क्रान्ति के मूल में कई प्रकार की विशिष्ट उत्क्रान्तियों का हाथ था, यथा—सुदूर स्थानों एवं व्यक्तियों के विषय में अभिरुचि एवं उनका ज्ञान, जिससे १४वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक यूरोप तथा यूरोपीयता का प्रसार होना, (२) धन-वृद्धि एवं अवकाश-प्राप्ति से अध्ययन की ओर उन्मुखता जिसके फलस्वरूप मध्यम वर्ग एवं उच्च वर्ग में जागरूकता आयी, क्योंकि व्यापारवाद एवं एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका में सस्ते श्रमिकों की प्राप्ति से यह सम्भव हो सका था, (३) १६वीं शताब्दी में कॉपर्निकस के सिद्धान्तों (Copernican theories) से भूगोल एवं विश्व के विषय की

बौद्धिक क्रान्ति के मूल में

धाराओं में परिवर्तन, (४) १६वीं एवं १७वीं शताब्दियों में भयङ्कर धार्मिक युद्धों से असहिष्णुता एवं कट्टरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया का उत्पन्न होना तथा (५) १७ वीं एवं १८वीं शताब्दियों में स्वार्थान्ध राज्य-वंशीय एवं औपनिवेशिक युद्धों के फलस्वरूप असाधु प्रवृत्तियों एवं यातनाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया का उत्पन्न हो जाना। इन कारणों से १७वीं एवं १८वीं शताब्दियों में बौद्धिक क्रान्ति हुई जिसने (१) प्रकृति-विज्ञान (Natural Science) की महत्ता प्रदर्शित की, (२) प्रकृति-धर्म (Natural Religion) को उद्बोधित किया एवं हठवादिता (Skepticism) का विरोध किया, (३) विकास (Progress) का उन्नयन किया तथा (४) धर्म, राजनीति, शिक्षा एवं अर्थनीति के विषय में तर्कवाद का समावेश किया। हम आगे के प्रकरणों में बौद्धिक क्रान्ति के कतिपय स्वरूपों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

विज्ञान एवं विज्ञानवेत्ता

§. [३] १८वीं शताब्दी के प्रसिद्ध विचारक फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) तथा डेकार्ट (Rene Descartes) की पद्धतियाँ कार्यान्वित हुईं और विज्ञान के क्षेत्र में निरीक्षण एवं प्रयोगों के फलस्वरूप महान् प्रतिफल प्राप्त हुए। इङ्गलैण्ड के सर आइज़क न्यूटन (Sir Isaac Newton) ने अपने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त (Law of Gravitation) से भौतिक शास्त्र (Physics) में क्रान्ति मचा दी। जर्मनी में लिबनिज़ (Libnitz) ने भी न्यूटन के समान गणित को व्यावहारिक रूप दिया और भौतिक शास्त्र को प्रगति मिली। अमेरिका के फ्रैंकलिन (Franklin) तथा इटैली के गलवैनी (Galvani) ने भी अपने प्रयोगों से विज्ञान को प्रगति दी। बिजली का आविष्कार फ्रैंकलिन के नाम के साथ चलता है। १८वीं शताब्दी में बैरोमीटर एवं थर्मामीटर (Barometer and Thermometer) का व्यावहारिक उपयोग प्रचुर मात्रा में हुआ। प्राणि-विज्ञान (Biology) को भी गति मिली। इङ्गलैण्ड के हार्वे (Harvey) महोदय ने रक्त-सञ्चरण (Blood Circulation) का उद्घाटन किया और

बीमारियों के निदान में विशिष्ट योग दिया। शरीर-विज्ञान (Physiology) की नींव स्विज़रलैण्ड के विज्ञान-वेत्ता एवं कवि अलब्रेख्त वॉं हैलर (Albrecht Von Haller) ने डाली। फ्रांस के बुफन (Buffon) तथा स्वीडन के लिन्नेएस (Linnaeus) ने पशुओं एवं पौधों का अध्ययन करके पशु-विज्ञान (Zoology) एवं वनस्पति-शास्त्र (Botany) की नींव डाली। इंगलैण्ड के डाक्टर एडवर्ड जेन्नर (Edward Jenner) ने चेचक को अच्छा करने के लिए टीका (Vaccination) की प्रथा निकाली। जासेफ प्रीस्टले, अन्त्वाएने लाव्योस्या (फ्रांसिसी) एवं हेनरी कैवेंडिश (Joseph Priestley, Antoine Lavoisier and Henry Cavendish) ने आधुनिक रसायन-शास्त्र (Chemistry) को जन्म दिया। आक्सीजन का पता चला और जल के तत्वों की खोज हुई।

§. [४] १८ वीं शताब्दी में प्रकृति-विज्ञान में जो उन्नति हुई उसका *प्रमुख श्रेय तत्कालीन राजाओं को है,* क्योंकि उन्होंने विज्ञान-वेत्ताओं को प्रश्रय दिया। इङ्गलैंड के मंत्रियों ने उन्हें कार्यालय और कर्मचारी दिए, छोटे-मोटे धनिकों ने भी सम्पत्ति से उनकी सहायता की। यूरोप के अधिकांश देशों में वेध-शालाएँ (Observatories) बनीं। विद्वानों के जमघट संघ (Societies or Academies) आदि बनने लगे। सन् १६६२ में लंदन के राजकीय समाज (The Royal Society of London) की स्थापना हुई जिसमें बड़े-बड़े गणितज्ञ, ज्योतिषाचार्य एवं भौतिक विज्ञान-वेत्ता अपने कर्तृत्वों की व्याख्या उपस्थित करते थे। इसी प्रकार फ्रांस में चौदहवें लुई ने फ्रेंच एकेडेमी (The French Academy) के सदस्यों को पुरस्कृत किया। १८ वीं शताब्दी में इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में अपार उन्नति हुई और उसके लिए साधन भी एकत्र थे। विद्वत्समाजों के सदस्यों द्वारा ज्ञान-विज्ञान-विषयक बातों की बहुधा चर्चा होती थी। मुद्रण

विद्वत्समाजों एवं संघों की स्थापना

की सुन्दर व्यवस्था हुई। सभी ज्ञान-विज्ञानों को एक में समेट कर 'विश्व-कोषों' (Encyclopaedias) का निर्माण होने लगा। इस प्रकार विद्या के लिए तथा उसके सुन्दर परिणामों के लिए जिज्ञासुओं एवं प्रेमियों में एक अभूतपूर्व उत्साह देखने में आया।

धर्म एवं हठवादिता

§. [५] ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का एक परिणाम था धार्मिक अविश्वास। प्रकृति-विज्ञान में जो अनुसंधान हुए उन्होंने धार्मिक विश्वासों की नींव हिला दी। अब ऐतिहासिक अनुवृत्तों एवं बाइबिल में उद्धरित धार्मिक प्रवृत्तियों पर शङ्का की आँच पड़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म एवं बाइबिल के विरोध में बौद्धिकता का प्रसार होने लगा। अब कुछेक वैज्ञानिकों ने प्रकृति-विज्ञान के सिद्धान्तों को धर्म पर लागू करना चाहा और घोषित किया कि विश्वास पर टिके धार्मिक सिद्धान्त अधिकांश में भ्रामक हैं। "प्रकृति के नियमों" के अनुसार चलने के लिए विद्वानों की विचार-धाराएँ प्रभाव डालने लगीं। ऐसे व्यक्तियों को डेईस्ट (Deist) कहा जाता है। वास्तव में, ये नास्तिक (Atheist) नहीं थे, वे परमात्मा में विश्वास करते थे। ये लोग जिसकी शिक्षा देते वह स्पष्ट एवं निश्चित नहीं था, किन्तु ये जिसका विरोध करते थे वह निश्चित था। ये बाइबिल एवं ईसाईवाद के प्रबल विरोधी थे।

डेईस्टवाद

इङ्गलैंड से डेईस्टवाद फ्रांस में पहुँचा। यह उच्च वर्ग के व्यक्तियों में विशेष रूप से प्रचलित था। (१) इसने चर्च की आस्था पर असन्तोष प्रकट किया और धार्मिक प्रयोगों के साथ फ्रांस की क्रान्ति का मार्ग स्पष्ट कर दिया। (२) इसने दार्शनिकों को नवीन सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए प्रेरित किया। (३) इसने सहिष्णुता पर विशेष बल दिया। (४) इसने धार्मिक उदासीनता उत्पन्न कर दी। एक प्रकार की हठवादिता ने 'उदासीनता' का रूप पकड़ लिया।

डेईस्टवाद एवं बौद्धिकवाद (Deism and Rationalism)

के प्रमुख साहित्यिक अभिवक्ता थे वाल्टेयर (Voltoire) जिसका वास्तविक नाम था फ्रांक्वाएज़ अरोवे (Francois Arouet)। उनकी जिह्वा बड़ी तीक्ष्ण थी जिसके फल-स्वरूप उन्हें बन्दी-गृह-सेवन करना पड़ा। बोर्बोन अत्याचार के कारण उन्हें साल भर तक बैस्टील के प्राचीन बन्दी-गृह में रहना पड़ा। पेरिस वाले उनकी पूजा करते थे। जर्मनी में फ्रेडरिक महान् उनका पक्षपाती था; किन्तु जब उन्होंने उसकी भर्त्सना की तो वह क्रुद्ध हो उठा। उन्होंने रूस, स्विजरलैंड का परिभ्रमण किया। वे सच्चे अर्थ में विशाल-दर्शी दार्शनिक थे। वाल्तेयर को इङ्गलैंड की बौद्धिकता से बड़ी प्रेरणा मिली। उनकी पुस्तक "अंग्रेजों पर पत्र" (Letters on the English) उनकी डेईस्टिक दार्शनिकता पर प्रकाश डालती है। वे एक महान् विचारक एवं साहित्यिक थे। वे भयंकर रूप से हठवादी थे। वे अपनी कटु आलोचनाओं के लिए सदा प्रसिद्ध रहेंगे।

वाल्तेयर

§. [६] गत प्रकरणों के परिशीलन से स्पष्ट होता है कि १८ वीं शताब्दी की प्रमुख विशेषता थी विकास की ओर उन्मुखता। यह वैज्ञानिक अनुसंधानों का सहज प्रतिफल था। भौगोलिक खोजों के पथ में वैज्ञानिक अनुसंधानों ने लोगों में आशावादिता एवं विश्वास भर दिया था। लगता था, स्वर्ण युग का अभ्युदय होने वाला है। लगा, मनुष्य सारे विश्व-रहस्यों का उद्घाटन कर लेगा और विश्व से अबोधता, असाधुता, अन्धविश्वास आदि का लोप हो जायगा। दार्शनिकों ने धार्मिक एवं नैतिक समस्याओं का खोखलापन स्पष्ट कर दिया। उन्होंने राज्य, समाज, चर्च आदि का खण्डन करके पृथिवी के स्वर्ग की कल्पना उपस्थित कर दी। अतीत की भर्त्सना की गयी, वर्तमान की प्रशंसा हुई और भविष्य में आशा बाँधी गयी। मानव में तर्कवाद की अद्भुत जागरूकता ने घर कर लिया और आलोचकों ने अपनी अग्रगामी उन्मुखता प्रदर्शित कर दी।

विकास की विचार-धारा

इस प्रकार चतुर्दिक बौद्धिकता की लहरें घूमने लगीं और उसके विधायकों को सम्मान मिलने लगा। इङ्गलैंड के प्रमुख विचारकों ने फ्रांस को अत्यधिक व्यामोहित किया।

.§. [७] बौद्धिकता एवं समीक्षात्मक आशावाद का जीवन के सभी क्षेत्रों में अनुगमन हुआ। धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, एक नयी प्रेरणा आयी।

तर्कवादी चेतनाएँ :

धर्म के विषय में विश्वास से अधिक साधु कर्तृत्व पर विशेष बल दिया गया। चतुर्दिक मानवतावाद (Humanitarianism), दास प्रथा की कटु आलोचना, बन्दी-गृहों के सुधारों, धार्मिक सहिष्णुता धार्मिक अत्याचारों के विरोध के स्वर गूँजने लगे। ये बातें कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टेंटों में समान रूप से विद्यमान थीं। राजनीति के क्षेत्र में राजतान्त्रिकता की आलोचनाएँ एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन होने लगा।

धर्म एवं राजनीति

महा कवि मिल्टन के लेखों, इङ्गलिश अधिकार-याचना (१६२८ ई०), अमेरिका का स्वातन्त्र्य-युद्ध (१७७६ ई०) तथा अन्य कृतियों में नयी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ उच्छ्वसित होने लगीं। अंग्रेज जॉन लॉक (John Locke) तथा फ्रांसिसी मॉंटेस्क (Charles Montesquieu) एवं रूसो (Jean Jacques Rousseau) ने राजा के विरुद्ध जनता की आवाजें ऊँची कीं।

लॉक, मॉंटेस्क एवं रूसो

मॉंटेस्क एवं रूसो लॉक से बहुत ही प्रभावित थे। लॉक ने कहा था कि राज्य शासित वर्ग की सम्पत्ति से ही अस्तित्व रखता है। मॉंटेस्क ने कहा कि प्रत्येक सरकार जनता की आवश्यकताओं एवं उसके चरित्र के अनुसार ग्रथित होनी चाहिए। यदि सरकार की शक्तियों में पृथकत्व लाया जाय तो स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। उन्होंने कहा कि व्यवस्थापिका, कार्य-कारिणी एवं न्याय-कारिणी (Legislature, Executive and Judiciary) की तीनों शक्तियों को किसी एक

व्यक्ति या संघ में सीमित नहीं करना चाहिए। उसने इंगलिश परिपाटी की प्रशंसा की। रूसो अधिक क्रान्तिकारी था। वह क्रान्तिदर्शी था। लॉक के समान उसने सामाजिक समझौते (Social Contract) के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया। उसने इस सिद्धान्त को अत्यधिक मान्यता दी। उसने प्रजातान्त्रिक शासन को अपनी प्रतिभा का रंग दिया। रूसो को भी डेईस्ट कहा जाता है, किन्तु वह अन्य डेईस्टों की अपेक्षा ईश्वर को अधिक मानवी एवं दयाशील मानता था। रूसो विचारों की विषमताओं एवं विरोधाभास का पुतला था। वह प्रकृतिवाद का समर्थक था। उसने कहा कि ईश्वर को प्रेम करना तथा पड़ोसी को अपने समान मानना ही कानून का लक्ष्य है। वह क्रान्ति चाहता था। फ्रांस की क्रान्ति के उपरान्त नैपोलियन ने कहा था— "यदि रूसो न होता तो फ्रांस की क्रान्ति न होती"।

शिक्षा

शिक्षा के क्षेत्र में भी रूसो ने क्रान्तकारी परिवर्तन किए। उसके सिद्धान्तों से शिक्षा की पद्धति में कालान्तर में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। १८ वीं शताब्दी की विचार-धाराओं का प्रभाव शिक्षा पर पड़ना अनिवार्य था। धार्मिक पाठशालाओं का विरोध हुआ और राजकीय पाठशालाओं के लिए आन्दोलन किए जाने लगे।

अठारहवीं शताब्दी में अर्थ-नीति पर भी क्रान्तिकारी विचारधाराएँ जमने लगीं। फ्रांस के कतिपय लेखकों ने, जो आर्थिक समस्याओं के विचारक (Physiocrats) के नाम से प्रसिद्ध हैं, व्यापारवाद (Mercantilism) का विरोध किया। उन्होंने

अर्थ-नीति

कृषि-कार्य तथा खनिज-उद्योग की ओर विशेष रूप से संकेत किया। उन्होंने आर्थिक स्वतन्त्रता पर विशेष बल दिया और राजकीय व्यापार एवं अर्थ-नीति के विरोध में यह कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, व्यापार करने का तब तक अधिकार है जब तक वह दूसरे के अधिकारों पर कुठाराघात नहीं करता। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक

"राष्ट्र-धन" (The Wealth of Nations, १७७६ ई०) में अर्थ-नीति का बड़ा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया। इस पुस्तक से औद्योगिक स्वतन्त्रता को बल मिला। स्मिथ ने कहा कि प्रत्येक स्वामी, प्रत्येक विक्रेता को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए : राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ("Let him alone")। उन्होंने इस प्रकार राष्ट्र-धन के विकास के लिए अपनी मान्यता प्रस्तुत की। स्मिथ की पुस्तक से मध्यम वर्ग का लाभ हुआ और कालान्तर में उच्च वर्ग (Bourgeoisie) का मोह बढ़ा और निम्न वर्गों में आर्थिक व्यामोह फैल गया।

चौदहवाँ अध्याय

फ्रांस की क्रांति (The French Revolution)

§. [१] विश्व के इतिहास एवं सभ्यता में फ्रांस की क्रांति एक ऐसी घटना है जिसने मानव की गति की विचारधाराओं में उथल-पुथल कर दिया। आधुनिक युग की सारी विशेषताएँ उस घटना से स्पष्ट हो गयीं। जिस प्रकार विद्या के पुनर्जन्म एवं भाँति-भाँति के आविष्कारों के फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, साहित्यिक, दार्शनिक आदि प्रवृत्तियों को विशेष गति मिली उसी प्रकार उसके व्यापक प्रकाश की किरणों से कालान्तर में राजकीय प्रवृत्तियाँ हिल उठीं। प्राचीन अवस्थितियाँ जड़ से उखड़ पड़ीं तथा सोचने एवं सक्रिय रूप धारण करने की विचार-धाराओं में एक महान् क्रांति हुई। यूरोप ने जो नया प्रकाश फेंका उसकी चकाचौंध में रूढ़ियाँ एवं परम्पराएँ आपस में उलझ गयीं। धार्मिक सर्वतन्त्रवाद से कालान्तर में धार्मिक विप्लव उठ खड़ा हुआ था और उसके फलस्वरूप सुधारणाओं ने तीव्रता ग्रहण की थी। अब क्रमशः वह युग आया जिसने राजाओं की शक्ति पर छापा मारा और जन-जन में अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी। राजाओं की 'दैवी शक्ति' (Divine Right of Kings) अब सही नहीं जा सकती थी। अब उसके स्थान पर 'जनता की दैवी शक्ति' (Divine Right of Peoples) या 'जनवाणी दैववाणी' (The Voice of the People is the Voice of God) के स्वर गूँजने लगे। कालान्तर में जनवाणी ने नेदरलैंड, इङ्गलैंड, फ्रांस तथा भारत में राजकीय परिवर्त्तन ला दिये। प्राचीन युग जड़ से उखड़ पड़ा और नयी प्रणालियाँ चल पड़ीं : सोचने एवं सोचने के प्रतिफलों को सक्रियता मिली। फ्रांस की राज्य-क्रांति जन-जन की क्रांति थी। उसमें एक ऐसा जीवन-मोह छिपा था, एक ऐसी गति छिपी थी और था ऐसा आवर्त्तन एवं

पूर्वाभास

विवर्त्तन की मानव-इतिहास ने करवटें लीं और उसमें बड़े-बड़े रंगीन अध्याय लिखे गए। इस अध्याय में उसी मानव-इतिहास के विप्लव-कार्य एवं महत्वपूर्ण अध्याय का परिशीलन किया जायगा। स्थान के अभाव के कारण हम केवल सूक्ष्म शैली का ही सहारा लेंगे।

§. [२] फ्रांस की क्रांति के पूर्व हॉलैंड एवं इङ्गलैंड में व्यापक राजनीतिक परिवर्त्तन हो चुके थे। राज्यतन्त्रात्मक सत्ता को भयंकर धक्का लग चुका था। युगों से अपनी ही शक्ति से विगलित होने वाली राज-प्रभुता (Aristocracy) अब बहुत दिनों तक अपने अत्याचार की महिमा के गान नहीं गा सकती थी। फ्रांस की क्रांति का आरम्भ १४ जुलाई सन् १७८९ ई० में बैस्टील (Bastille) के अधःपतन से होता है। उस दिन क्रोधाग्नि में जलते पेरिस वासियों ने केन्द्रीय जेल बैस्टील पर आक्रमण किया था, जहाँ पर राजनीतिक बन्दी अपनी पुकारों,

क्रांति के मूल में

चित्कारों एवं विप्लव के गर्जन से युक्त अपने विचारों को लेकर पड़े थे। उसी प्रकार बन्दी मुक्त कर दिये गए जिस प्रकार वे बन्द कर दिये गए थे। ऐसा क्यों कर हो सका? मानी हुई बात है, इसके पीछे कोई बहुत बड़ा कारण रहा होगा। वास्तव में, फ्रांस युगों से सामाजिक एवं राजनीतिक दुर्वह भारों से लदा चला आ रहा था। समाज में या राष्ट्र में दो विशिष्ट वर्ग थे: शासक एवं शासित। प्रथम वर्ग में थोड़े से लोग थे जिन्हें आनुवंशिक सुविधाएँ प्राप्त थीं और राजा उनका संरक्षक था। द्वितीय वर्ग में शेष व्यक्ति आते थे जो अत्याचारों के दुर्द्धर्ष चक्र में पीसे जाते थे। राष्ट्रधन केवल मुट्ठी भर लोगों के हाथ में था, अधिकांश जनता करों के भार से लदी धनिकों एवं शासकों की सेवा में लगी थी। ऊँचे-ऊँचे पद, चाहे वे सैनिक हों या शासन-सम्बन्धी, सभी भागी लोगों के हाथ में थे, जो करों के भार से मुक्त थे। साधारण व्यक्ति जिनमें कृषक अधिक थे, सेना में भरती होते थे, कर देते थे, तथा सामंतवादी राजा की अनिवार्य सेवा में लगे थे। चौदहवें लूई का उत्तराधिकारी पन्द्रहवाँ लूई अपने पितामह

से भी गया बीता था, किन्तु उसके राजकीय सपने बड़े थे। उसकी विलासिता, दोषों, अनाचारों एवं अमानुषिक व्यवहारों ने उसे अन्धा बना दिया था। दूसरी ओर उसकी सत्ता पर मोहकता की मुहर लगाने वाले संरक्षित शासक उतने ही दुराचारी, दोषी एवं विलासी थे। फलतः संवर्त्त (प्रलय) का आवेग फूट पड़ा। पन्द्रहवें लूई का उत्तराधिकारी हुआ सोलहवाँ लूई (१७७४–९२) जिसे अपने पूर्वजों के पापों का फल भोगना पड़ा। अब तक राजाओं ने राष्ट्र पर अत्याचार किये, अब युग ने करवट ली। "दिन बदले और बदली रातें, बदल गई सब बातें" वाली कहावत चरितार्थ हुई। अब राष्ट्र ने राजाओं के साथ वैसा ही व्यवहार किया। इस प्रकार बन्दी-गृह बैस्टील पर जो आक्रमण हुआ उसके मूल में शताब्दियों की बातें अन्तर्निहित थीं।

§. [२] फ्रांस की क्रांति के मूल में राजकीय अहंकार (Vanity) था। इस अहंकार ने राजकोष पर धक्का दिया। प्राचीन व्यवस्था के पुजारी थे राजा तथा उनके कर्मचारी जिन्होंने राष्ट्र के दिवालियापन को कर से लदी सामान्य जनता को पुनः कर से लाद कर दूर करना चाहा। जनता सीमा से अधिक शोषित हो चुकी थी। राज्य-कर्मचारी जानते थे कि धन की कमी किस प्रकार पूरी की जा सकती है किन्तु उस उपाय से उन्हें स्वयं कर देना पड़ता। टरगो (Turgot) ऐसे व्यक्तियों ने कोष को दूर करना चाहा किन्तु उन्हें दरबारी षड्यन्त्रों ने कुचल डाला। नेकर (Necker) ने भी दोषों को दूर करना चाहा किन्तु उसे भी सफलता नहीं मिली। पुनः कालोने तथा लोमनी (Calonne and Lomenie) ने प्रयत्न किए किन्तु उन्हें भी किसी प्रकार की सफलता न मिली। फ्रांस की पार्लियामेण्ट १७५ वर्षों से नहीं बुलाई गई थी। बिना उसकी सहमति के नये कर नहीं लगाए जा सकते थे। इस्टेट जनरल (The Estate-General) का बुलाना आवश्यक हो गया। सन् १७८९ में वह बुलाई गयी। मेराबो (Mirabeau) की अध्यक्षता में वह

राष्ट्रीय विधान-सभा तथा घोषणा-पत्र

सभा राष्ट्रीय सभा (National Assembly) में परिवर्तित हो गयी, और इसने सन् १७६१ का विधान (Constitution of 1791) बनाया। इस विधान ने फ्रांस के राजा को अंग्रेजी प्रथा के अनुसार नियमानुमोदित शासक (Constitutional king) बनाना चाहा। फ्रांस के मध्यम वर्ग वालों (Bourgeois) ने सामान्य जनता पर विश्वास करके जनमत के लिए यह निर्णय किया कि सब को कम से कम तीन दिनों के पारिश्रमिक के बराबर कर देना अनिवार्य है। इस प्रकार जनमत की शक्ति से दस्तकारी करने वाले तथा कुछ कृषक वञ्चित रहे। इस राष्ट्रीय विधान सभा ने व्यक्ति के अधिकारों को भी घोषित किया जो फ्रांस की क्रान्ति के सिद्धान्तों के प्रतीक थे। ये अधिकार (Declaration of the Rights of Man) ये थे: "सभी व्यक्ति अपनी योग्यताओं के अनुसार सब प्रकार के उच्च स्थानों, नौकरियों एवं पेशों के लिए बराबर हैं, बिना अभियोग के कोई भी व्यक्ति पकड़ा या बन्दी नहीं बनाया जायगा। जब तक अभियोग का पता नहीं चल जायगा तब तक व्यक्ति निर्दोष समझा जायगा। प्रत्येक व्यक्ति को बोलने, लिखने या छापने की स्वतंत्रता है, यहाँ तक धार्मिक विषयों में भी, केवल इस प्रकार की स्वतंत्रता का दुरुपयोग न करना होगा। कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से वञ्चित न किया जायगा, केवल राजकोष के लिए ही उसे कुछ देना होगा, वह भी क्षतिपूर्ति के लिए।" किन्तु

अग्रगामी या उग्रवादी दल (Radicals)

मेरी अन्त्वायने की भूल इस घोषणा से सन्तुष्ट न हो सका। राजा ने

जनता के स्वर की गति-विधि नहीं समझी।

आस्ट्रिया की रानी मेरिया थेरेसा की पुत्री एवं फ्रांस की रानी मेरी अन्त्वायन ([illegible]) ने अपनी दुर्वृत्तियों से प्रजा की सहानुभूति [illegible] राजकीय परिवार बोरबोन (Bourbon) की सहायता के लिए आस्ट्रिया एवं प्रशा के राजाओं से प्रार्थना की जिससे फ्रांस की जनता की आग और भड़क उठी। इसके उपरान्त फ्रांस में प्रलयंकारी घटनाएँ हुईं।

§. [४] सितम्बर के हत्याकाण्ड, रानी एवं राजा की हत्याएँ (१७९२), भयंकरता का राज्य (१७९३-९४, The Reign of Terror) जनता-सुरक्षा की समिति (Committee of Public Safety) जिसने सभी के जीवन को अरक्षित कर दिया, डायरेक्टरी (Directory) और अन्त में नैपोलियन का अभ्युदय आदि घटनाएँ एक के पश्चात् एक उतरने लगीं। इतना ही नहीं, आतुर क्रान्तिवादियों ने यूरोप के सभी व्यवस्थित राज्यों को चुनौती दे डाली और नैपोलियन (Napoleon Bonaparte, १७६७-१८१५) को उन्होंने अपना अधिनायक चुना। नैपोलियन ने फ्रांस को विप्लवकारी सम्वर्त में डाल दिया जिससे सारा यूरोप व्यामोहित (Embarrassed) हो उठा। नैपोलियन ने बड़ी-बड़ी विजयें प्राप्त कीं, किन्तु फ्रांस की राजनीति एवं क्रान्ति को एक नया ही रूप दे डाला। नैपोलियन फ्रांस की उन्मत्तता से सम्राट् हो गया और उसने क्रान्ति की विरोधिनी राज्य-सत्ता को पुनः संगठित करना चाहा। यह थी क्रान्ति के सम्वर्त या प्रलय की परिवर्तनकारी विभीषिका जिसमें यूरोप की राजकीय प्रभुताएँ हिल उठीं। नैपोलियन ने भद्र नौकरशाही पुनः गठित की। उसने गुप्तचरों की सहायता से जनमत को कुचल डाला। लोग बन्दी बनाये जाने लगे। बातचीत एवं सम्मतियों का प्रकाशन कुचल डाला गया। इतना ही नहीं, उसने पाठशालाओं एवं चर्चों को भी नयी निरंकुश सत्ता के प्रतिपालन में लगा दिया। इस प्रकार उसका शासन चौदहवें लुई के सदृश हो गया, यद्यपि उसकी अपनी विशेषताएँ थीं। नैपोलियन की अपनी देनें भी थीं। उसके शासन-काल में फ्रांस को एक नयी सुगठित केन्द्रीय शासन-व्यवस्था मिली। उसने क्रान्ति की कृतियों को नियोजित किया। उसने फ्रांस को कानून (The Code of Napoleon) दिए। उसने सामाजिक समानता दी। उसने जूरियों द्वारा

क्रान्ति की भयंकरता के प्रतीक

नैपोलियन का उद्भव

नैपोलियन की देनें

अभियोग की देख-रेख की व्यवस्था की। उसने राष्ट्रीय चर्च की व्यवस्था की। उसने बड़े-बड़े मकानों, सड़कों, नहरों आदि का निर्माण कराया। उसने अपने सर पर आदि काल से चली आयी हुई गौरव-परम्पराओं को बिठाया। वह सार्वभौम सत्ता का प्रतीक बन गया। इसका परिणाम भयंकर हुआ जो यूरोप के रक्तरञ्जित इतिहास का परिचायक है।

§. [५] यह थी, बहुत ही संक्षेप में, फ्रांस की क्रान्ति की कहानी जो एक सम्वर्तमय घटना थी और थी युग-युग के लिए एक प्रेरणासूचक नियामिका। यद्यपि कालान्तर में क्रान्ति के वास्तविक स्वरूप नैपोलियन की भयानक व्यक्तिता में लुप्त हो गए, किन्तु यह क्रान्ति व्यर्थ में न गयी। इसने 'वसीयतें' दीं और दी 'नसीहतें'।

फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव एवं महत्त्व

इसके सिद्धान्त शुभेतर हो गए। इसकी कहानियाँ इतिहास के पन्ने रँगने लगीं। इसके नियामक शहीद तो हो गए, किन्तु उन्होंने अपनी बलि से विश्व-इतिहास को एक बल दिया। जिन विद्वानों ने इसे अपने अनुभवों से लिखा, यथा—रूसो, तथा उसके समकालीन विचारक, उनकी लेखनी का बल सत्य होकर रहा। फ्रांस की क्रान्ति अपने सिद्धान्तों एवं प्रेरणाओं से यूरोप के देशों में प्रलयंकरी वायु-लहरियाँ उठाने लगी जिनमें कितने निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजा बह गए और बह गयीं उनके साथ चलने वाली राजकीय दुर्वृत्तियाँ। आज का विश्व भी उस क्रान्ति के सिद्धान्तों से विमोहित है। स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृभाव (Liberty, Equality and Fraternity) का उद्घोष आज भी बहुत से देशों में गूँजता रहता है। इस क्रान्ति ने केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही परिवर्तन नहीं लाये, प्रत्युत उसने जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित किया। यद्यपि एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) ने इसके विरोध में स्वर फूँका, किन्तु यह क्रान्ति विश्व के सुन्दर व्यवस्था-स्थापन एवं नये प्रकाश के लिए एक सन्देशवाहक थी। इस क्रान्ति ने बहुत शीघ्र ही नेदरलैण्ड, जर्मनी तथा इटैली में क्रान्ति

की चिनगारियाँ दौड़ा दीं। उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात् चारों ओर अतीत से आती हुई सुविधाओं एवं प्राचीन राज्य-सत्ता (Ancient regime) की सम्पत्ति एवं अन्य विशेषताओं के निरोध एवं उत्पादन के लिए स्वर गूँजने लगे। हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास जनता की सार्वभौमिकता के क्रमशः जागरण का इतिहास है और इस विषय में जो कुछ प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विकास हुआ है उसकी जड़ में फ्रांस की क्रान्ति है। फ्रांस की क्रान्ति ने सोचने में एवं सामाजिक व्यवस्था को सुधारने में प्रेरणाएँ दीं, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। आगे चलकर बहुत-से साहित्यिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिनमें क्रान्ति-विषयक चेतनाओं को उनके लेखकों ने जो बल दिया उसमें फ्रांस की क्रान्ति की ही अभिव्यंजनाएँ अन्तर्निहित थीं। सचमुच, फ्रांस की क्रान्ति विश्व-इतिहास की एक सम्वर्तमय घटना है जिसमें शोषित, शासित, अधिकारविहीन, एवं अत्याचारों से विगलित व्यक्तियों की पुकार की प्रेरणा है, जिसमें जनता की आवाज़ की कहानी है, जिसमें क्रोधावेग में हत्या-कृत्योन्मुख क्रान्तिवादियों का अन्धा संवेग है, जिसमें भावनाओं, सद्विचारों का बवण्डर है, जिसमें नवीनता का मोह है, जिसमें प्राचीनता के प्रति आक्रोश का प्रस्फुटन है और है समाज एवं राजनीति को हिला देने वाला बल।

परिशिष्ट

फ्रांस की क्रान्ति : सारांश

मूल कारण

§. [१] इङ्गलैण्ड में सन् १६४२ तथा १६८८ की क्रान्तियाँ राजनीतिक एवं धार्मिक थीं। अमेरिका की सन् १०७६ वाली क्रान्ति मुख्यतः राजनीतिक थी, किन्तु सन् १७८९ की फ्रांस-क्रान्ति राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक थी। फ्रांस की क्रान्ति के मूल में ये बातें थीं : (१) एकतान्त्रिक फ्रांसीसी राजा अयोग्य थे ; (२) फ्रांस के दार्शनिक अन्य देशों के विचारकों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली थे, तथा (३) अन्य देशों की अपेक्षा फ्रांस की जनता अंग्रेजी एवं अमेरिकीय क्रान्तियों से अधिक प्रभावित हुए।

विशेष कारण

§. [२] (क) पन्द्रहवें एवं सोलहवें लूई (१७१५–१७७४ एवं १७७४–१७९२) अयोग्य शासक थे। वे राजकीय मस्ती में झूम रहे थे। वे योग्य मन्त्रियों को सँभाल नहीं सकते थे। टर्गो (Turgot) ने जब सुधारों की बात चलाई और राज्याधिकार को कम करना चाहा तो सोलहवें लूई ने उसे पदच्युत कर दिया (१७७६)। राजकीय सत्ता खोखली हो गयी थी। (ख) जनता पिस रही थी, उच्च वर्ग उसके विनाश पर नाच रहा था। धनी धनी थे, कोष खाली था। "रोम जल रहा था और रोमराज नीरो नृत्य कर रहा था"। (ग) अल्पसंख्यक उच्च वर्ग के लोग तथा धर्म के ठीकेदारों की तूती बोल रही थी, उनके पास अपार सम्पत्ति एवं अधिकार थे, सारे सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के स्वामी वे ही थे, किन्तु वे कर से मुक्त थे! धर्म-ठेकेदार प्रथम वर्ग (First Estate) में आते थे, भद्र लोग द्वितीय (Second Estate) तथा कृषक, दास एवं व्यापारी, उद्योगी आदि तृतीय वर्ग (Third Estate) में। इस प्रकार लगभग ३००,००० व्यक्ति प्रथम दो वर्गों में कर-मुक्त थे और २०,०००,००० व्यक्ति अन्तिम वर्ग में भूमि, अधिकारों से हीन करों से लदे थे। इस प्रकार तृतीय वर्ग सूख चला था,

चिनगारी की देरी थी। (घ) तृतीय वर्ग की मध्यम श्रेणी के लोग (Bourgeoisie) १८ वीं शताब्दी के दार्शनिकों की वाणी एवं कृतियों से प्रभावित हो उठे थे। वाल्तेयर (Voltaire) प्रसिद्ध हो चला था। मॉंटेस्क, रूसो ने बौद्धिकता की अग्नि फूँक दी थी। बौद्धिक क्रान्ति (Intellectual Revolution) जिसमें वैज्ञानिकों, दार्शनिकों ने राजनीतिक, सामाजिक चेतनाएँ कूट-कूट कर भर दी थीं, उभर उठी। अब क्या था! सन् १७८९ ई० में काउण्ट मिराबो (Count Mirabeau) ने तृतीय वर्ग को उभाड़ा और इस्टेट-जनरल की, जो १७५ वर्षों से नहीं बुलायी गयी थी, माँगें पेश कीं। इन माँगों को द्वितीय वर्ग (The Second Estate) के सदस्य, यथा लफायते (Lafayatte etc.) तथा प्रथम वर्ग (The first Estate) के बहुत से छोटे-छोटे धर्माधिकारियों ने भी उद्घोषित किया। राष्ट्र में ऐसी माँगें गूँजने लगीं। सोलहवें लुई तथा द्वितीय वर्ग के अधिकांश सदस्यों ने विरोध उपस्थित किया। टेनिस कोर्ट की शपथ (The Oath of the Tennis Court) में सामान्य जनता एक थी। क्रान्ति का जागरण हुआ। राजा विवश हुआ। तीनों वर्गों की "राष्ट्रीय सभा" को बुलाने को सन्नद्ध हुआ। किन्तु वैसा हो न सका और फलतः पेरिस नगर के बुभुक्षित लोगों ने तीन दिनों तक मारकाट की और तीसरे दिन बैस्टील बन्दी-गृह के द्वार को खोल दिया। यह घटना १४ वीं जुलाई सन् १७८९ में घटी। क्रांति आरम्भ हो गयी। आज भी फ्रांसिसी इस तिथि को राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाते हैं।

क्रान्ति का आरम्भ

मुख्य-मुख्य घटनाएँ

§. [२] अब हम संक्षेप में क्रान्ति की कहानी पढ़ेंगे।

(१) प्रथम घटना थी टेनिस कोर्ट की शपथ (२० वीं जून, १७८९)। यह शपथ एकतान्त्रिक शासन के अन्त की घोषणा थी।

(२) बैस्टील बन्दी-गृह का पतन (१४ वीं जुलाई, १७८९)। यह महान क्रान्ति-दिवस है।

(३) राजा लुई ने नये राष्ट्रीय झंडे के चिह्न (लाल-श्वेत-नील = Red-White-and-blue Cockade) को स्वीकार किया। किन्तु शीघ्र ही (पहली अक्टूबर १७८९) राजा को उच्च वर्ग का समर्थन मिला, सैनिकों ने राज्य-भक्ति के उन्माद में वर्साई (Versailles) में प्रीति-भोज लिया। वर्साई नगर बुभुक्षित था और राज-भक्ति के मद में चूर्ण उच्च वर्ग एवं सैनिक वैभव-विलास में मस्त थे!

(४) दरिद्र नारियों ने तथा (५वीं अक्तूबर, १७८९) नारी-वेश में कुछ पुरुषों ने पेरिस से वर्साई की १२ मील लम्बी यात्रा की, और राज्य भवन को घेर कर 'रोटी का प्रश्न' (Screaming of Bread! Bread!) उठाया। राष्ट्रीय रक्षक-दल (National Assembly) के रक्षक लेफायते ने राजा की रक्षा करनी चाही किन्तु बहुत-से राजकीय नौकर मारे गए। अन्त में राजा अपने परिवार के साथ पेरिस चला। बुभुक्षित क्रान्तिकारियों के बीच लेफायते के साथ राजा पेरिस चल पड़ा वर्साई कभी न लौटने को!

(५) प्राचीन राजकीय गौरव समाप्त हो गया (Collapse of the Old Order)। सन् १७८९ की उष्मा में बोरबोन-शासन (The Bourbone Rule) गल गया।

(६) सुधारों की माँगें उपस्थित की गयीं। राज्य के प्रत्येक कोने से आवेदन ('काया' = Cahiers) आने लगे। लोगों ने भक्ति के साथ सुधार माँगे। वर्ग-समानता के लिए उद्घोष होने लगे।

(७) सन् १७८९ से १७९१ तक बड़े-बड़े सुधार हुए। (क) अगस्त के दिनों ("The August Days") में प्राचीन अधिकारों (Old Privileges) की इति-श्री हो गयी। दासता नष्ट कर दी गयी। सब पर समान कर लगे। (ख) मानव एवं नागरिकों के अधिकारों की (Declaration of the Right of Man and of the Citizens) घोषणा हुई। रूसो (Rousseau) की आत्मा चमक उठी और वह पुनः बोल उठी थी:

सुधार, मानव-अधिकार-घोषणा; सीमित राज्य-सत्ता आदि

मानव स्वतन्त्र जन्म लेते हैं, स्वतन्त्र रहते हैं और उनके अधिकार समान होते हैं (Men are born and remain free and have equal rights); उनके अधिकार हैं: स्वतन्त्रता, समानता, सुरक्षा तथा अत्याचार-अवरोध; कानून सामान्य इच्छा का अभिव्यञ्जन है;……कोई व्यक्ति बिना कानून के अपराधी नहीं समझा जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता, तथा धार्मिक सहिष्णुता, वाणी-स्वातन्त्र्य, मुद्रण-स्वातन्त्र्य पर जनता की मुहरें हैं। (ग) कैथोलिक-विरोधी कानून बने। राष्ट्रीय सभा का यह तीसरा प्रमुख कार्य था। अधिकांश क्रान्तिकारी वाल्टेयर की डेईस्टिक, हठवादी एवं कैथोलिक-विरोधी नीति से प्रभावित थे। चर्च के विरोध में धार्मिक भूमि छीन ली गयी, मठ छीन लिए गए। धर्माधिकारियों का चुनाव होने लगा और उन्हें राजकीय वेतन दिया जाने लगा। इससे कुछ धार्मिक क्रान्तिकारियों को क्षोभ भी हुआ। (घ) राज्य-कोष का दिवाला निकल चुका था। कोष-वृद्धि में उच्च वर्ग के धन ने योग दिया। समान कर की योजना ने धन दिया। राष्ट्रीय सभा ने इस प्रकार कोष बढ़ाया। (ङ) एक नया विधान बना (The Constitution of 1791) और नियमानुमोदित शासन (Constitutional Government) की व्यवस्था हुई।

यूरोप में प्रतिक्रिया; भगोड़

(८) वाह्य देशों के राजाओं ने क्रान्ति को रोकना चाहा, क्योंकि उससे उन पर विपत्ति वहराने वाली थी। यूरोप की प्राचीन सत्ता काँप उठी थी। यहाँ तक कि अमेरिका की क्रान्ति के समर्थक इङ्गलैण्ड बर्क (Edmund Burke) ने फ्रांस की क्रान्ति का विरोध किया, क्योंकि उससे इंगलैण्ड में सामाजिक क्रान्ति हो सकती थी। फ्रांस के अधिकांश धनिक, उच्च धर्माधिकारी बाहर चले गए और बाह्य सहायता के इच्छुक हो गए। ये भगोड़ (The *Emigres*) प्राचीन सत्ता को पुनः स्थापित करना चाहते थे। फलतः यूरोपीय राजाओं ने फ्रांस के राजा के साथ सहानुभूति दिखायी। लुई भी भागना चाहता था किन्तु वह अपनी रानी के साथ वरेन्नीज

(Varennes) में पकड़ा गया (जून १७९१)। आस्ट्रिया तथा प्रशा ने फ्रांस पर आक्रमण करने की योजना बनायी (The Declaration of Pillnitze, August 1791)। फ्रांस ने इनसे युद्ध छेड़ दिया और राष्ट्रीय गीत (Marseillaise) गूँज उठा जिसे रक्त-स्वतन्त्रता-टोपी वाले क्रान्तिकारियों ने मुक्त कंठ से गाया। फ्रांस के क्रान्तिकारी यह नहीं चाहते थे कि उनके किए कराये पर बाहरी देशों के राजाओं द्वारा पानी फेर दिया जाय। वे इस प्रयत्न में लगे कि किसी प्रकार भी भगोड़ (The *Emigres*) पुनः अपने प्राचीन अधिकारों (Privileges) को प्राप्त न कर सकें। फ्रांस की नवीन सेना का अध्यक्ष लेफायते अपनी योग्यता से अधिक आशावान् था। उसने बेलजियम के राजा लिओपोल्ड को हराना चाहा, किन्तु असफल रहा, क्योंकि लुई ने लिओपोल्ड की सहायता की।

बाह्य आक्रमण

(९) ब्रंसविक के ड्यूक ने आस्ट्रिया एवं प्रशा की सम्मिलित *सेना की अध्यक्षता करते हुए फ्रांस पर आक्रमण किया और क्रान्ति-*कारियों के विरुद्ध राजकीय घराने की रक्षा के हेतु घोषणा की। इसका प्रतिफल यह हुआ कि क्रान्तिकारियों ने सीमित राज-सत्ता (Limited Monarchy) का नाश कर प्रजातान्त्रिक सत्ता स्थापित की (२२वीं सितम्बर, १७९२)। राजा बन्दी बना डाला गया। लगभग २००० राजप्रेमी (Royalists) मार डाले गए (सितम्बर १७९२)। ड्यूमोरिज (Dumouriez) के सेनानायकत्व में २०वीं सितम्बर को क्रान्ति-सेना ने बाहरी शत्रुओं को हटाया। २१ वीं जनवरी, १७९३ को बेचारा लुई मार डाला गया!

(१०) राजा की हत्या के उपरान्त इंगलैण्ड, हालैण्ड, स्पेन, सार्डिनिया ने आस्ट्रिया तथा प्रशा के साथ प्रजातान्त्रिक फ्रांस पर आक्रमण किया। किन्तु क्रान्तिकारियों ने सारे यूरोप में अपनी प्रेरणाएँ भरनी आरम्भ कर दीं। इस प्रकार युद्ध और भयंकरता (War and Terror) की तुमुलता उठ खड़ी हुई।

(११) प्रथम फ्रांसीसी प्रजातन्त्र के आरम्भिक वर्ष इस प्रकार रक्तरंजित एवं भयावह थे। कुछ कृषकों ने विरोध किया, ड्यूमोरिज ने धोखा दिया और वह शत्रुओं से मिल गया। लज़ारे कर्नो (Lazare Carnot) ने सुरक्षा की योजना बनाई। किन्तु स्वयं क्रान्तिकारी उदारवादी एवं अनुदारवादी दलों में बँट गए, जिसके फलस्वरूप बहुत-से उदारवादी क्रान्तिकारी मार डाले गए। सन् १७९३ से १७९४ तक 'भयंकरता का राज्य' (The Reign of Terror) था

फ्रांसीसी प्रजातन्त्र और विरोध; युद्ध एवं भयंकरता; गिलोटिन, विजय-पंख

जिसका नेता था रॉबसपीअर (Robespierre)। रानी अन्तायने मार डाली गयी। किन्तु जुलाई सन् १७९४ में स्वयं रॉबसपीयर अपनी मृत्यु का कारण बन बैठा। 'गिलोटिन' (Guillotine) की प्राचीन प्रथा बड़ी भयंकरता से कार्यान्वित हुई। दो खम्भों के बीच से भारी छूरा गले को अवश्य काट देता था! लगभग १२५०० व्यक्ति गिलोटिन हो गए। चारों ओर मार-काट मच गयी। कर्नो विजयी घोषित हुआ। फ्रांसीसियों ने शत्रुओं को मार भगाया और क्रान्ति-गीत (Marseillaise) गाते हुए उन्होंने स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृ-भाव (Liberty, Equality and Fraternity) के शब्दों से अंकित झण्डे चतुर्दिक फहरा डाले। ये शब्द विजय के पंख (Wings of Victory) थे।

(१२) सन् १७९५ फ्रांस के इतिहास में अपनी विशेष महत्ता रखता है। राष्ट्रीय सभा (The National Convention) का, जिसने फ्रांसीसी प्रजातन्त्र की नींव डाली थी, अब अन्त हो गया। प्रजातन्त्र के अधिकार डाइरेक्टरी (Directory) के अधिकार में थे। पाँच सदस्यों (प्रबन्धकों) की एक डायरेक्टरी थी, जिसने

नैपोलियन की सैनिक नादिरशाही

अब तक क्रान्ति-शासन किया था। क्रान्ति-सेना ने उसी सन् में बाहरी छः शक्तियों को नीचा दिखाया था। अब केवल आस्ट्रिया, सार्डिनिया तथा इंगलैंड विरोधी बच गए थे। किन्तु इसी समय एक नये व्यक्ति

का उद्भव हुआ। सन् १७६५ में नैपोलियन केवल २६ वर्षीय युवक था। उसने १७६३ ई० में कर्नों के साथ अंग्रेजों को हराया था। उसे अवसर पर अवसर मिलते गए। उसने रूसो का अध्ययन किया था। वह रोबिस्पीयर के साथ काम कर चुका था और क्रान्ति के साथ पूरी सहानुभूति रखता था। आगे के दस वर्षों में उसकी कलई खुल गयी, और वह नादिरशाह हो गया और अन्त में यूरोप का स्वामी बन बैठा।

नैपोलियन ने आस्ट्रिया को कई बार हराया (१७६६-१७६७)। उसने अंग्रेजों को हराना चाहा और मिश्र तक बढ़ गया (१७६६)। यूरोप में फ्रांसीसी, इंगलैंड, आस्ट्रिया, रूस द्वारा हराये गए। फ्रांस में लौटने पर नैपोलियन नेता बना। उसने डाइरेक्टरी तोड़ दी और नये प्रजातन्त्र का निर्माण किया और सैनिक नादिरशाह बन बैठा। नये विधान के अनुसार वह प्रथम अधिनायक (First Consul) बना। उसने १८०१-२ में यूरोप में अपनी नीति से शान्ति स्थापित की और दस वर्षों के उपरान्त (१७६२-१८०२) फ्रांस को साँसें दीं। सन् १८०२ में वह जन्म भर के लिए कौंसल बना और सन् १८०४ में सम्राट् घोषित हुआ। उसने क्रान्ति की रक्षा करनी चाही! किन्तु फ्रांस के स्वप्न अधूरे रह गए। तब से फ्रांस साम्राज्य, राज्य या प्रजातंत्र (Empire, Kingdom or Republic) के रूप में विद्यमान रहा है। आगे की कहानी की यहाँ आवश्यकता नहीं है। चाहे जो हो, नैपोलियन "क्रान्ति का ही उद्भव" (A Child of the Revolution) था। क्रान्ति के मुख को उसने अपनी नीति से मोड़ दिया। किन्तु क्रान्ति के संदेशों को वह कैसे मिटा सकता था! वह तो एक ऐसी आग थी जिसमें प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पात भस्म हो जाते और कालान्तर में नये अंकुर निकलते ही।

पन्द्रहवाँ अध्याय

यूरोप में राष्ट्रीयता (Nationalism in the West)

§. [१] आधुनिक युग की विशेषताओं में एक है राष्ट्रीयता की भावना का अभ्युदय। प्राचीन काल में भी संस्कृति-विषयक प्रश्नों को लेकर देश-देशान्तरों में राष्ट्र स्थापित थे, किन्तु आधुनिक काल में, विशेषतः यूरोप के आधुनिक युग में, राष्ट्रीयता का उद्भव अन्य कारणों को लेकर हुआ। ऐतिहासिकों ने अनुशीलन के उपरान्त यह तथ्य उद्-घोषित किया है कि आधुनिक युग की राष्ट्रीयता के मूल में दो प्रमुख तत्व समाहित थे: धार्मिक भावना एवं प्रसार की उत्तेजक कसमकस। यूरोप में प्रथमतः इसका उद्भव हालैण्ड में हुआ जहाँ धार्मिक भावना से उत्तेजित होकर हालैण्डवासियों ने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। स्पेनवासी कैथोलिक थे और हालैण्ड में विरोधवाद (Protestantism) का दौरदौरा था। विरोधवाद की लहर में बहुत-से धर्मावलम्बी अपने देशों को छोड़ कर अन्य देशों में भी चले गए और इस प्रकार उनके द्वारा अन्य देशों में उपनिवेश स्थापित होने लगे। कालान्तर में यूरोप के राष्ट्रों में औपनिवेशिक कारण भी उत्तेजक सिद्ध हुए और उन्होंने प्रसार की भावना से विश्व के कोने-कोने में उपनिवेश स्थापित किए। क्रमशः एशिया, अफ्रीका, अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में उपनिवेश स्थापित होने लगे जहाँ से मूल देशों से व्यापारादि चलने लगे। इन उपनिवेशों की स्थापना सत्रहवीं शताब्दी से आरम्भ हुई अतः औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना भी तभी से आरम्भ हो गयी। उपनिवेश-स्थापन में यूरोपवासी प्रतिस्पर्द्धा करने लगे। इस विषय में इङ्गलैण्ड, हालैण्ड आदि देशों ने प्रमुख भाग लिया। इंगलैण्डवासी चाहते थे कि विश्व में उनका बोलबाला रहे, हालैण्ड वासी अपना डंका पीटना चाहते थे। इस प्रकार यूरोप के देशों में औपनि-वेशिक भावना से प्रेरित बहुत-से संघर्ष चले। हाँ, निस्सन्देह, इन

(margin note beside lines 3–5: पूर्वाभास)

कारणों से विश्व में व्यापार तथा व्यवसाय की उन्नति हुई और नये-नये आविष्कारों की सृष्टि हुई। एक देश दूसरे से बढ़ जाने की प्रेरणा से उत्फुल्ल हो राष्ट्रीयता का गुण-गान करने लगा। यूरोपवासियों ने इस प्रकार अपने राष्ट्र के अभ्युत्थान के लिए, अपने प्रसार के लिए तथा अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े अमानुषिक कार्य किए जिससे इतिहास के पृष्ठ रक्तरञ्जित हो गए। राजनीतिक हत्याएँ, डकैतियाँ, रक्तशोषण तथा लूट-खसोट का बाज़ार गर्म हो गया। तुर्रा यह कि ये सारे कृत्य राष्ट्रीयता के नाम पर होते थे! उपनिवेशों को समृद्धिशाली बनाने के लिए विभिन्न राष्ट्रों ने दासों का व्यापार भी चलाया और उसे औचित्य भी समझा! हाय रे मानव! तू अपने स्वार्थ के लिए कितना नीचे गिर जाता है! यूरोप वालों ने हब्शियों को किस प्रकार अपने पोतों में भर कर अपने उपनिवेशों में ला रखा, यह मानव-सभ्यता के इतिहास की लोमहर्षक कहानी है।

राष्ट्रीयता के मूल में

§. [२] जिस राष्ट्रीयता को लेकर यूरोप वालों ने अपने में संघर्ष किया और जघन्य अपराध किए वह वास्तव में है क्या? राष्ट्रीयता के मूल तत्वों के विषय में मतभेद है। भौगोलिक एकता, जातिगत पवित्रता एवं सांस्कृतिक एकता को लेकर विविध मत प्रकाशित किए गए हैं। वास्तव में, ये सभी तत्व राष्ट्रीयता के उद्भव में सहायक होते हैं। एक ही संस्कृति के आलम्बन से एक ही प्रकार की ऐतिहासिक पर-परम्पराओं को लेकर एक ही भाषा में अपने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन को लिखने वाले व्यक्ति एक ही प्रकार की राष्ट्रीयता के समर्थक कहे जाते हैं। राष्ट्रीयता अन्त में एक व्यापक स्थायीभाव (Sentiment) बन जाती है जिससे प्रेरित हो राष्ट्र-प्रेमी अपना बलिदान तक कर देते हैं। सांस्कृतिक चेतनाओं में राष्ट्र का धर्म, साहित्य, दर्शन एवं समाज अप्रतिहत रूप से निमग्न रहते हैं। इन्हीं सब को लेकर देश-प्रेम या राष्ट्र-प्रेम के सुन्दर संश्लिष्ट संवेग जागते हैं। जब राष्ट्र जागता है तो उसकी राष्ट्रीयता जागती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्र के

पुजारी अपना-अपना उत्थान करते हैं। भारत की राष्ट्रीयता से ही उसे स्वराज्य मिला है। किन्तु यह तो एक बात है। राष्ट्रीयता की संकीर्णता भी होती है जो अन्त में ईर्ष्या का साम्राज्य खड़ा करती है। संकीर्ण राष्ट्रीयता (Narrow nationalism) का उद्भव "यह मेरा देश है, यह मेरा धर्म है, यह मेरी संस्कृति है, ये मेरे हैं ..." आदि उक्तियों से होता है। अपनी सीमित सीमा में राष्ट्रीयता असाधु नहीं है किन्तु जब इसका उद्भव स्वार्थ की भावना को लेकर होता है और राष्ट्रीयता के पुजारी दूसरे राष्ट्रों पर छापा मारते हैं तो कलह उत्पन्न होता है। यूरोप की राष्ट्रीयता उसी प्रकार की थी और है, क्योंकि यूरोप के राष्ट्रों ने कालान्तर में अपने विकास में अन्य बाह्य देशों को अपने में समेट लिया। इंगलैण्ड का राष्ट्र कहता था "हमारे साम्राज्य में सूर्य नहीं डूबता"। राष्ट्रीयता के उद्भव में कुछेक उदाहरण स्मरणीय हैं। इटैली की एकता एवं स्वाधीनता का संग्राम इतिहास की सम्पत्ति है। फ्रांस एवं अमेरिका की क्रान्तियाँ विश्व-इतिहास की अमर निधियाँ हैं। किन्तु जैसा कि अभी कहा जा चुका है, जब स्वच्छ त्याग, बलिदान, देश-प्रेम ऐसे उदात्त स्थायीभाव (Higher sentiments) संकीर्णता से आवृत्त हो जाते हैं तो रक्त से पृथ्वी लाल हो जाती है। यूरोप की राष्ट्रीयता की कहानी दोनों प्रकार के साधु एवं असाधु भाव-तत्वों से भरी पड़ी है।

राष्ट्रीयता के उद्भव से औपनिवेशिक साम्राज्यों की स्थापना

§. [३] औद्योगिक क्रान्ति के अध्ययन के सिलसिले में हमने देख लिया है कि किस प्रकार व्यापार एवं प्रसार की भावना से प्रेरित होकर यूरोप के राष्ट्रों ने देश-विदेशों में उपनिवेश-स्थापन की प्रेरणाएँ ग्रहण कीं। नये युग के सूत्रपात के साथ ही नये-नये मार्ग मिले, नये-नये देश मिले। देशों से व्यापार करने के लिए राष्ट्रों में विविध व्यापारिक कम्पनियाँ बनीं जिन्होंने कालान्तर में अपने देश के लिए उपनिवेश स्थापित कर डाले। भारत इङ्गलैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक उपनिवेश

ही तो था। भारत के अतिरिक्त अन्य एशियाई देशों में व्यापारिक उपनिवेश स्थापित हुए। धर्म-प्रचार एवं व्यापार-प्रसार ने तो यूरोप के राष्ट्रों की दृष्टियों को विस्तृत कर दिया। अजीबोगरीब नाटकाभिनय हुए। कहीं पर तो सभ्य बनाने की लालसा काम कर रही थी, कहीं धर्म-विजय की दुंदुभी बज रही थी और कहीं पलड़ों पर धन-धान्य तौला जा रहा था! इतना ही नहीं मनुष्य-व्यापार भी किया गया! अंग्रेजों, पोर्तुगालियों एवं स्पेन वालों ने हब्शियों को बेच-बेच कर पापमय कृत्यों से अपने इतिहास को कलंकित कर दिया। इस प्रकार यूरोप की राष्ट्रीयता ने विश्व के कोने-कोने में औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए। राष्ट्रीयता के इस प्रकार के उद्भव से व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता (Merchantilism) चल पड़ी जो साम्राज्यवादी युद्ध में परिणत हो गयी। इसका वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे। इन विवेचनों के उपरान्त अब हम यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों की राष्ट्रीयता का इतिहास पढ़ेंगे।

§. [४] यूरोप के अन्य देशों में इंगलैण्ड की राष्ट्रीयता की कहानी अपनी कहानी है। वह देश बहुत-सी बातों में अग्रगण्य रहा है। उसकी भौगोलिक स्थिति ने उसे एक अनूठा गौरव प्रदान किया है। वहाँ पर राष्ट्रीयता का उद्भव राजा जॉन के 'महास्वतन्त्रता-पत्र' (Magna Charta, १२१५ ई०) से होता है जब कि जनता ने पहली बार अपनी माँगों से राजा को विवश कर दिया। ट्यूडर वंश की अपनी कृतियाँ हैं। इस वंश ने पार्लियामेण्ट की शक्ति को दबा रखा और सामन्तों के बल को कम कर दिया। पार्लियामेण्ट की शक्ति का बढ़ना अवश्यम्भावी था, क्योंकि वह जनता की शक्ति का प्रतीक थी, किन्तु अभी उसमें वास्तविक जनता का प्रवेश नहीं हो सका था। पार्लियामेण्ट ने क्रमशः अपना प्रभुत्व बढ़ाया। स्टुअर्ट वंश के शासन-काल में उसकी शक्ति बढ़ी। राजाओं की "दैवी शक्ति" (Divine Right) का विरोध होने लगा। जेम्स प्रथम ने कहा कि राज्याधिकार ईश्वर प्रदत्त है। अतः

इंगलैण्ड

उससे पार्लियामेण्ट से संघर्ष हो ही गया। जेम्स की स्वेच्छाचारिता का दुखद परिणाम चार्ल्स प्रथम को भोगना पड़ा। पार्लियामेण्ट ने प्रबल विरोध खड़ा किया। दोनों पक्षों में युद्ध हुआ और अन्त में उसे फाँसी दे दी गयी (सन् १६४६)। यह एक विचित्र घटना है जिसका विश्व-इतिहास में विशिष्ट स्थान है। लगभग १५० वर्ष के उपरान्त इतिहास की पुनरावृत्ति हुई थी और फ्रांस का राजा सोलहवाँ लुई भी उसी प्रकार मार डाला गया। इसे कहते हैं जनता की शक्ति जो कभी-कभी अपने राजा की बलि चाहती है। चार्ल्स प्रथम के प्राण-दण्ड के उपरान्त इंगलैण्ड में प्रजातन्त्र-राज्य की स्थापना हुई जो बहुत दिनों तक न चल सका। प्रजातन्त्र का संरक्षक क्रामवेल तानाशाह सिद्ध हुआ। उसकी सैनिक नीति से जनता ऊब गयी। यद्यपि क्रामवेल ने अपनी वाह्य नीति से राष्ट्र का गौरव बढ़ाया, किन्तु आन्तरिक नीति में वह असफल रहा। क्रामवेल के शासन-काल में पार्लियामेण्ट द्वारा स्थापित नियमानुमोदित शासन (Constitutional Government) समाप्त हो गया। पार्लियामेण्ट ने सन् १६६० ई० में पुनः राज्य-सत्ता स्थापित की और चार्ल्स प्रथम के पुत्र चार्ल्स द्वितीय को राजा बनाया जो था तो स्वेच्छाचारी किन्तु जनता की माँगों को ठुकरा नहीं सकता था। उसका पुत्र जेम्स द्वितीय ऊब कर फ्रांस भाग गया। इस घटना को "इंगलैण्ड के इतिहास में "रक्त-हीन क्रान्ति" (The Bloodless Revolution) कहते हैं। अब इंगलैण्ड में पार्लियामेण्ट की शक्ति प्रबलतर हो गयी। शासन पार्लियामेण्ट द्वारा निर्वाचित मन्त्रियों के हाथ में आ गया। इतना होने पर भी सन् १६८८ से १८३२ तक इंगलैण्ड में जन-तन्त्र की ही व्यवस्था रही। पार्लियामेण्ट में धनाढ्यों की ही प्रबलता थी। क्रमशः औद्योगिक क्रान्ति तथा अन्य कारणों से जनता को पार्लियामेण्ट में गति मिली और इंगलैण्ड पूर्णतः प्रजातान्त्रिक हो गया।

§. [५] हालैंड पहले स्पेन के आधीन था। हालैंड तथा बेलजिएम पर स्पेन का साम्राज्यवादी आधिपत्य स्थापित था। धार्मिक

विषयों में शासक तथा शासित में पृथ्वी-आकाश का अन्तर था। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, स्पेन कैथोलिक धर्मावलम्बी था और वहाँ प्रतिक्रियात्मक सुधारवादी प्रेरणाएँ (Counter Reformation) उमड़-घुमड़ रही थीं। हालैण्डवासी विरोधवाद के समर्थक थे। जब स्पेन ने धार्मिक दबाव डाला तो हालैण्ड ने स्वाधीनता तथा धर्म के लिए संग्राम किया। स्पेनराज फिलिप हालैण्डवासियों को दबाने में असमर्थ रहा। 'शान्त' उपाधिधारी विलियम ने सन् १६०६ में स्वतंत्रता की घोषणा कर दी किन्तु ४० वर्षों के उपरान्त सन् १६४८ में ही हालैण्ड स्वतंत्र हो सका। यह है हालैण्ड की स्वतंत्रता की छोटी कहानी। स्पेन का हत्याकाण्ड, उसकी निरंकुशता, धार्मिक कट्टरता आदि एक ओर और हालैंडवासियों का धर्म-मोह, स्वाधीनता-प्रेरणा दूसरी ओर। अन्त में सत्य की विजय हुई। किन्तु बेलजियम में कोई राष्ट्रीय विकास न हो सका। हालैंड ने इङ्गलैंड के शासन की अनुकृति की। वहाँ की विधान-सभा थी स्टेट-जनरल (Estate General) जो राजा के ऊपर नियन्त्रण रखती थी। राज्य पार्लियामेण्ट द्वारा नियुक्त मंत्रियों के ऊपर था। किन्तु हालैंड में इङ्गलैंड की पूर्ण परम्परा स्थापित न हो सकी।

हालैंड

§. [६] हम ने गत अध्याय में फ्रांस की क्रान्ति का वर्णन कर दिया है। किन्तु इस अध्याय में हम फ्रांस की राष्ट्रीयता के इतिहास को दूसरे ढंग से दोहराते हैं। पाठक इस प्रकरण के पढ़ने के उपरान्त उस अध्याय को अवश्य पढ़ लें। हमने ऊपर के प्रकरणों में इङ्गलैंड तथा हालैंड की राष्ट्रीयता के विषय में पढ़ा और देखा कि वहाँ पर जनता की संस्था पार्लियामेण्ट ने राजा की शक्तियों को कम कर दिया। फ्रांस की कहानी दूसरे ढंग की है। वहाँ पर क्रान्ति (सन् १७८९ ई०) के पूर्व राजा पूर्ण स्वेच्छाचारी रहा। फ्रांस की पार्लियामेण्ट का नाम था इस्टेट-जनरल (Estate-General) जो

फ्रांस

राजा की शक्ति को दबाने में पूर्णरूपेण असमर्थ रही। इङ्गलैंड में आरम्भिक पार्लियामेण्ट के तीन भाग थे। (१) लार्ड सभा, (२) सर्वसाधारण सभा, (३) पादरियों की सभा जिन्होंने कालान्तर में मिलकर राजा की शक्ति का ह्रास किया। फ्रांस में भी ऐसी ही सभाएँ थीं, किन्तु वे मिलकर संयुक्त मोर्चा न दे सकीं जिससे राजा की शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। फ्रांस में राजा की शक्ति को कम करने के प्रयत्न होते रहे, किन्तु एकता के अभाव के कारण सफलता न मिली। राजा बिना पार्लियामेण्ट बुलाये ही शासन करता रहा। यहाँ तक कि १७५ वर्ष (१६१४ से १७८६) तक पार्लियामेण्ट की बैठक न हो सकी। फ्रांस में जो राजनीतिक विद्रोह हुए वे एकता न होने से असफल ही रहे। सन् १६५२ ई० में राजनीतिक विद्रोह समाप्त हो गए और फ्रांसीसी राजा पूर्णरूपेण निरंकुश बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा मनमाना कर लगाता चला गया और जनता कर-बोझ से दबती चली गयी। बिना अपराध के लोगों को बन्दी-गृह में रखा जाता था। युद्ध करना राजकीय प्रवृत्ति थी और थी राजा की महत्ता। फ्रांसीसी राजा भी ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों के स्वामी थे। चौदहवें लुई (सन् १६४३—१७१५) ने बड़ी राजकीय मर्यादा के साथ राज्य किया। वह महत्वाभिलाषी था। उसकी नीति प्रसरण की थी। वह चाहता था कि फ्रांस की सीमा पूर्व में राइन नदी तथा दक्षिण में पेरेनीज़ पर्वत तक हो जाय। वह चाहता था कि सारा यूरोप उसकी महत्ता स्वीकार करे। वह धार्मिक नीति में बड़ा असहिष्णु था। विरोधवाद का वह प्रबल शत्रु था। वह कहता था "मैं ही राज्य हूँ" (La etat e'est moi = I am the state)। उसे अपनी महत्वाकांक्षा को लेकर इंगलैण्ड, हालैण्ड तथा आस्ट्रिया से युद्ध करने पड़े। इन युद्धों से प्रजा सूख कर काँटा हो गयी। इतना ही नहीं, वह अन्धलोलुप प्रजा-धन से अपनी विलासिता के भवनों को खड़ा करता गया। वर्साई में उसने एक सुन्दर राज-भवन का निर्माण कराया। उसकी शान-शौकत की तुलना उसके समकालीन भारत के

मुगल सम्राटों से की जाती है। उसका शासन कला, साहित्य के मार्मिक उदाहरणों से परिपूर्ण भी है।

लुई की धार्मिक कट्टरता से फ्रांस के ह्यूजनाटों को, जो दस्तकारी के कामों में निपुण थे, अपना देश छोड़ना पड़ा। वे इंगलैण्ड, हालैण्ड आदि देशों में चले गए। उनकी कलाकारिता से उन देशों के व्यापार को बड़ा लाभ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि लुई के शासन ने फ्रांस की जनता को पीस डाला, उसकी सुषुप्त भावना को कुचल डाला और उसे निर्जीव बना डाला जिसका परिणाम बड़ा ही भयङ्कर हुआ। लुई के उपरान्त उसका पौत्र पन्द्रहवाँ लुई राजा हुआ। वह बड़ा ही विलासी था। उसने भी राज-कोष को पानी की भाँति बहाया। उसके शासन-काल में रूसो, डायडोरट तथा वाल्टेयर (Rousseau and Voltaire) ऐसे महान् विचारक हुए जिन्होंने जनता के स्वर को अपने अमूल्य ग्रन्थों में बाँधा। रूसो की "सोशल काण्ट्रैक्ट" (सामाजिक समझौता) नामक पुस्तक अद्वितीय सिद्ध हुई। इन विचारकों की कृतियों से ही जनता की आग भड़क उठी और सन् १७८९ ई० में फ्रांस में महान् क्रान्ति की उद्भावना हुई जिसने जीवन के सभी पहलुओं को हिला दिया।

§. [७] विश्व-इतिहास में प्रशा का विशिष्ट महत्व है, क्योंकि उसी के अभ्युदय के फलस्वरूप कालान्तर में विश्वव्यापी प्रथम युद्ध हुआ था। यहाँ पर होहेनजालर्न नामक राज्य-वंश था जो अपने गौरव

प्रशा

के लिए फ्रांस के राज्य-वंश बोरबोन के समान ही प्रसिद्ध है। इस वंश के प्रथम राजा फ्रेडरिक ने लुई की भाँति प्रशा में भी निरंकुश शासन की भित्ति डाली। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ महान् फ्रेडरिक जिसने साइलेशिया को आस्ट्रिया से छीन लिया। उसने पोलैण्ड के एक भाग को प्रशा में मिला लिया। उसकी सेना विशाल थी। वह था तो निरंकुश किन्तु उसने राज्य-गरिमा बढ़ाई। वह धार्मिक स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। लुई द्वारा प्रताड़ित ह्यूजनाटों को

उसने अपने राज्य में शरण दी और अपने देश में उन्नति के मार्ग खोल दिए। वह विरोधवादी था किन्तु उसने कैथोलिकों को भी उच्च पद देकर अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति स्पष्ट की। प्रशा में इस प्रकार प्रजातान्त्रिक राज्य की स्थापना सम्भव नहीं थी।

§. [८] रूस की राष्ट्रीयता का उदय, वास्तव में, सन् १६६६ ई० से आरम्भ होता है, क्योंकि उसी वर्ष में वहाँ का राजा महान् पीटर हुआ जिसने अपनी सक्रियता से रूस को एक विशेष गति दी। रूस के पास न तो बन्दरगाह थे, न जहाज थे और न कोई संगठित सेना थी।

रूस

पीटर ने स्वयं पश्चिमी यूरोप में जाकर भाँति-भाँति की कलाएँ सीखीं। उसने जहाज-निर्माण की कला सीखी और अपने देश में वैज्ञानिकों को दीक्षित किया। इस प्रकार आधुनिक रूस के निर्माण का आरम्भ काल पीटर का राज्य-काल है। उसने सामाजिक सुधार भी किए। उसने मास्को के स्थान पर सेण्टपीटरबर्ग को नयी राजधानी बनायी। किन्तु था वह स्वेच्छाचारी। वह अपना विरोध सहन नहीं कर सकता था, अतः विरोधियों को उसने तलवार के घाट उतारा। उसकी योजनाओं के फलस्वरूप रूस एक शक्तिशाली देश हो गया। अब रूस का सम्पर्क बाल्टिक सागर से हो गया। इस प्रकार समुद्र से उसका नाता हुआ और विश्व-इतिहास में एक समस्या का उद्घाटन भी हुआ जिसे पूर्वी समस्या (The Eastern Questions) की संज्ञा मिली है। पीटर के उपरान्त रानी कैथरिन द्वितीय शासिका बनी जिसने रूस की शक्ति को और आगे बढ़ा दिया। पीटर तथा कैथरिन का शासन-काल रूस के इतिहास में महान् है। उन्हीं दोनों के प्रयत्नों से यूरोप में रूस शक्तिशाली हो सका। रूस के राजा जार कहे जाते थे। यह जारशाही निरंकुश थी, अतः जनता की शक्ति को उभड़ने का अवसर न मिला। अन्त में स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता का भाण्ड फूटा और सन् १९१७ ई० में रूस में साम्यवाद (Communism) की स्थापना हुई, जिसका इतिहास हम आगे पढ़ेंगे।

§. [६] दसवें अध्याय में हमने पोर्तुगाल तथा स्पेन की सामुद्रिक उन्नति का विवरण उपस्थित कर दिया है और देखा है कि इन दोनों देशों ने किस प्रकार आधुनिक यूरोप के निर्माण में सहयोग दिया। पोर्तुगाल का राजा हेनरी बड़ा उत्साही था। उसने अपने नाविकों को अफ्रीका तथा पूर्वी देशों के लिए मार्ग खोजने के लिए प्रेरित किया। मार्गों की खोजों के साथ पोर्तुगाल का व्यापार प्रचुर मात्रा में बढ़ गया। वास्को-ड-गामा ने भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करके भारत में पोर्तुगालियों के लिए मार्ग बता दिया। अलबुकर्क ने भारत के पोर्तुगाली उपनिवेश पर शासन किया। किन्तु पोर्तुगाली शासकों ने धार्मिक कट्टरता से अपने मार्ग में काँटे बो दिये। सन् १५८० में पोर्तुगाल तथा स्पेन का शासन एक में मिल गया जिससे पोर्तुगाल की जातीय हानि हुई, उसका व्यापार मन्दा पड़ गया। जब सन् १६४० में पोर्तुगाल पुनः स्वतन्त्र हुआ तो विश्व परिवर्तित दृष्टिगोचर हुआ क्योंकि तब तक भारत तथा अन्य देशों में अन्य यूरोपीय देशों की तूती बोलने लगी थी। वज्रपात पर वज्रपात होता रहा। सन् १८०८ में पोर्तुगाल पुनः स्पेन के आधीन हो गया। कालान्तर में यूरोपीय युद्धों में पोर्तुगाल तथा स्पेन पिस गये और उसके उपनिवेशों में ब्रेजील, पेरू, मेक्सिको आदि स्वतन्त्र हो गए। इस प्रकार पोर्तुगाल एवं स्पेन के साम्राज्यवाद की रीढ़ की हड्डी टूट गयी।

पोर्तुगाल एवं स्पेन

हमने पढ़ लिया है कि आरम्भिक आधुनिक युग में स्पेन का दबदबा था। उसके अन्तर्गत हालैण्ड तथा बेलजियम के देश थे। उसे अमेरिका से बहुत धन मिलता था। उसकी कैथोलिक नीति का परिणाम बड़ा दुखद हुआ। विशेषतः इङ्गलैण्ड उसका विरोधी हो गया। साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक अभिकांक्षाओं से प्रेरित इंगलैण्ड ने स्पेन का खुल कर विरोध किया। हालैण्डवालों ने इंगलैण्ड की सहायता पा कर विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और वे कालान्तर में स्वतन्त्र हो गए। स्पेन के आर्मेडा (Armada) नामक जहाजी बेड़े

को (१५८८ ई०) इंगलैण्ड ने कितनी सफलता से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया यह इंगलैण्ड की सामुद्रिक चातुरी का ज्वलन्त उदाहरण है। स्पेन का अधःपतन यहीं से आरम्भ होता है और इंगलैण्ड का सामुद्रिक अभ्युदय भी इसी तिथि से आरम्भ होता है।

स्पेन की धार्मिक नीति ही उसके अधःपतन का कारण बनी। उसके निवासी अत्याचारों से पीड़ित हो दूसरे देशों में जाने लगे। फ्रांस के राजा चौदहवें लुई ने उसके अधिकार पर छापा मारा और अपने पौत्र को उसके राज्य सिंहासन पर बिठलाया। इंगलैण्ड तथा हालैण्ड ने इस नियुक्ति का घोर विरोध किया। युद्ध चल पड़े और स्पेन बुरी तरह से पिसता चला गया। लुई की नीति का विवेचन पहले हो चुका है। वह अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति स्पेन के साम्राज्य से करना चाहता था। यह तो हुई एक नीति। दूसरी विपत्ति आई नैपोलियन की महत्वाकांक्षा के साथ। सन् १८०८ से १८१३ तक वह युद्धों से आक्रान्त रहा। नैपोलियन ने स्पेन की गद्दी पर अपना व्यक्ति रखा। किन्तु स्पेन में राष्ट्रीयता की लहरें उत्ताल हो उठीं। ऐसी परिस्थिति में नैपोलियन के विरोधी इंगलैण्ड ने स्पेन की सहायता की। नैपोलियन की पराजय हुई और स्पेन की राष्ट्रीयता की विजय। इस विजय ने यूरोप का कायाकल्प कर दिया। चारों ओर राष्ट्रीयता की उत्ताल तरंगें उठने लगीं और स्पेन उसका अग्रगामी हुआ।

§. [१०] छठे अध्याय में हमने रोमकों के इतिहास एवं सभ्यता पर प्रकाश डाला है। प्राचीन रोमकों के अधःपतन के शताब्दियों पश्चात् यूरोप में उसी परम्परा में एक ऐसा साम्राज्य स्थापित हुआ जो विश्व-इतिहास में अपनी विशिष्टता रखता है।

पवित्र रोमक साम्राज्य

पोप की अध्यक्षता में जिस साम्राज्य की स्थापना हुई उसे पवित्र रोमक साम्राज्य कहते हैं (The Holy Roman Empire)। इसकी स्थापना का मूल उद्देश्य था यूरोपीय देशों को एक सूत्र में बाँध रखना। पंचम चार्ल्स के राजत्व-काल में यह साम्राज्य अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया।

प्रसिद्ध सम्राट् शार्लमैन (Charlesmagne) के उपरान्त यही चार्ल्स सब से महान् था। उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे समस्त मध्य यूरोप के राष्ट्र, अमेरिका के उपनिवेश, इटैली के अधिकांश भाग तथा हालैण्ड एवं बेलजियम जो नीदरलैण्ड के नाम से प्रसिद्ध थे। इसके वंश का नाम था हैप्सबर्ग (Hapsburg)। वीयना पवित्र रोमक साम्राज्य की राजधानी था। चार्ल्स की महानता में कई चाँद लगे हैं। उसके राजत्व-काल में धार्मिक सुधारणाएँ हुईं जिनकी चर्चा दसवें अध्याय में हो चुकी है। उसे कई आपत्तियों का सामना करना पड़ा। एक तो जर्मनी का धार्मिक विद्रोह था। दूसरा था तुर्कों का बलशाली आक्रमण। जर्मनी में फूट के कारण तुर्की आक्रमण रोकने में उसे पूरी सहायता न मिली। अपनी मृत्यु के पूर्व उसने साम्राज्य को बाँट दिया। अपने भाई फर्डिनेण्ड को उसने जर्मनी राज्य दिया और अपने पुत्र फिलिप को उसने स्पेन तथा नीदरलैण्ड दिए। अब पवित्र रोमक साम्राज्य अपनी पूर्वावस्था में न रहा। वह सन् १८०६ तक यों ही चलता रहा। अब उसकी व्यवस्था दूसरे ढंग की थी। उसके अन्तर्गत सभी राष्ट्र मानो एक संगठन के भीतर थे। नैपोलियन के उत्कर्ष ने उस साम्राज्य का अन्त कर दिया।

§. [११] गत प्रकरणों में हमने, बहुत ही संक्षेप में, यूरोप की राष्ट्रीयता एवं उससे अवगुण्ठित विभिन्न राष्ट्रों का अनुशीलन किया। इस प्रकरण में अब हम उस यूरोपीय राष्ट्रीयता की महत्ता का वर्णन करेंगे।

यूरोप की राष्ट्रीयता का विश्व-इतिहास में महत्त्व

हमने देख लिया है कि धार्मिक नयी-नयी खोजों तथा राज नीतिक कारणों के फलस्वरूप यूरोप में राष्ट्रीयता का उद्भव हुआ जो विभिन्न राष्ट्रों में विविध ढंग से प्रसारित होती रही। उसके फलस्वरूप यूरोप के देशों में अपनी सांस्कृतिक भावनाएँ जमीं और एक धर्म, एक भावना, एक शासक तथा एक प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं से विभिन्न राष्ट्र-कोटियाँ बँधती चली गयीं। इस विषय में इंगलैण्ड, हालैण्ड, फ्रांस, रूस अधिक प्रबलतर सिद्ध हुए और उन्होंने अपनी प्रसरण की नीति को देश-देशान्तरों तक पहुँचाया। केवल जर्मनी तथा इटैली

राष्ट्रीयता की कसमकस से अभी वञ्चित रहा। किन्तु उनके उत्थान में विशेष देर नहीं थी। वे तो कालान्तर में इतने उग्र हो गए कि विश्व के इतिहास को अचानक नये-नये अध्याय लिखने पड़े। विश्व-व्यापी दो महान् युद्ध उन्हीं की राष्ट्रीयता के प्रबल प्रमाण हैं जिनसे सारी मानवता काँप उठी।

राष्ट्रीयता के उद्भव से इंगलैण्ड तथा हालैण्ड ने संसार को नियमानुमोदित शासन की प्रणाली दी। इङ्गलैण्ड तथा हालैण्ड की इस प्रणाली से विमोहित अन्य राष्ट्रों में भी सक्रियता बढ़ी। परिणाम यह हुआ कि जनता ने अपनी माँगें उपस्थित कीं जिनको ठुकराना निरंकुश शासकों के लिए सम्भव नहीं था। नयी-नयी खोजों से जो नयी दृष्टियाँ प्राप्त हुई थीं उनमें यूरोप के राष्ट्रों ने अपने दृश्य देखे और लिखे अपनी राष्ट्रीयता के गौरव के इतिहास। राष्ट्रीयता ने भौगोलिक सत्ता को प्रबल भित्ति दी। एक भूमि के रहने वालों ने अपनी स्वाधीनता के लिए आत्म-बलिदान किए और उनके शासकों ने इस भावना से लाभ उठा कर राष्ट्र की सीमा को बढ़ाया। फ्रांस में जोन-आव आर्क ने आत्म-बलिदान किया था। हालैण्डवासियों ने स्पेन की दुर्द्धर्ष सेना के सम्मुख अपने को रख दिया। यह थी राष्ट्रीयता की अद्भुत माँग जिसने विश्व को अद्भुत आदर्श दिया जिससे वह आज भी विमोहित है और है व्यामोहित। धर्म की रक्षा के लिए राष्ट्र-धर्म जाग पड़ा और यूरोप में रक्त की नदियाँ बह चलीं। पाश्चात्य राष्ट्रीयता का यह कलंक है। विश्व को इससे बलवती प्रेरणा मिली, उसे या तो अपने को रक्त में डुबो देना है या संकीर्ण भेद-भावों को दूर फेंक देना है। बड़े-बड़े विचारकों ने ऐसा ही सोचा। संकीर्ण राष्ट्रीयता से ही तो कालान्तर में विश्व के आकाश में युद्ध के बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे जिससे मानवता त्रस्त हो त्राहि-त्राहि करने लगी। राष्ट्रीयता की यह भयंकर देन मानवता के लिए ग्रह होकर रह गयी। तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इससे राष्ट्र को शक्ति मिली, जनता को वाणी मिली और राजकीय निरंकुशता का सत्यानाश हुआ।

सोलहवाँ अध्याय

साम्राज्यवादी लहरें [Imperialism]

§. [१] गत अध्याय की भूमिका में अब हम यूरोप की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का अध्ययन करेंगे। हमने देख लिया है कि किस प्रकार संकीर्ण राष्ट्रीयता के उद्‌भव से यूरोप के उन्नत राष्ट्रों ने विश्व के कोने-कोने में साम्राज्यवाद का जाल बिछाना आरम्भ कर दिया।

पूर्वाभास

उन्नीसवीं शताब्दी में विश्व साम्राज्यवादी बोझ से तड़प उठा जिसकी पूर्ण परिणति बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई और आज का विश्व उससे त्राहि-त्राहि कर रहा है। एशिया एवं अफ्रीका के महाद्वीपों में ब्रिटेन, फ्रांस, बेलजियम, हालैण्ड, जर्मनी तथा इटैली ने अपने-अपने साम्राज्य स्थापित किए और शासित देशों की धन-सम्पत्ति को जोंक की भाँति चूसने लगे। साम्राज्यवाद के उन्माद के साथ ईसाई धर्म ने भी अपने पैर फैलाने आरम्भ कर दिए। राजनीतिक प्रवृत्तियों ने शासक-देशों के व्यापार को पर्याप्त रूप में बढ़ाया। यूरोप धनी, मानी एवं अहंकारी हो उठा और उद्‌घोष करने लगा कि वह सभ्यता की प्रकाश-किरणें बिखेर रहा है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के स्थापन में उपनिवेशों की भूमि, जलवायु, संस्कृति, राजनीति एवं धार्मिक अवस्थितियाँ अन्तर्निहित थीं। औद्योगिक क्रान्ति ने औपनिवेशिक साम्राज्यवाद को उकसाने में प्रभूत योग दिया। क्रमशः एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों के सभ्य एवं असभ्य देश यूरोप की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक प्रवृत्तियों से आक्रान्त हो उठे। औपनिवेशिक साम्राज्यों में यूरोपवासियों ने अपनी जातिगत भावनाएँ फैलायीं; और क्रमशः व्यापार के मोह से वे अधिक से अधिक संख्या में वहाँ बसने लगे। जैसा कि गत अध्याय में कहा जा चुका है, यूरोप के राष्ट्रों ने इन उपनिवेशों में चाहा कि वहाँ की सभ्यता का नाश हो जाय, वहाँ

की जातियों का उन्मूलन हो जाये। आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के देशों के कुछ भागों से तो सचमुच कुछ जातियाँ सम्पूर्णतः नष्ट कर दी गयीं। क्रमशः बहुत से यूरोपीय साम्राज्य साम्राज्यवादी संघर्षों के कारण नष्ट भी हो गए। सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों के बहुत से साम्राज्य नष्ट हो गए तो उन्नीसवीं शताब्दी के साम्राज्यों ने एक नयी दिशा पकड़ी। आरम्भिक साम्राज्य के स्थापन में आधुनिक युग की आरम्भिक विशेषताएँ कार्यशील थीं किन्तु अब देश-भक्ति की भावना प्रमुख रूप से भाग लेने लगी। साम्राज्यवादी देश-भक्त अपने साम्राज्य में रहना चाहते थे, व्यावसायिक वर्ग धनाढ्य होना चाहते थे, धार्मिक वर्ग धर्म का प्रचार करना चाहते थे। अब क्या था, साम्राज्यवाद ने सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार का ढिंढोरा पीट कर विश्व के सम्मुख अपनी 'उदार भावना'(!) का परिचय दिया। साम्राज्यवाद की इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण कालान्तर में शासित राष्ट्रों में विद्रोह की अग्नि उद्भावित हुई।

ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ: अमेरिका एवं भारत में

§. [२] विश्व के इतिहास में ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का विशिष्ट महत्व है। ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य नहीं डूबता था, यह बात सत्य है। अमेरिका में उसका जो साम्राज्य खड़ा हुआ था उसकी कहानी विचित्र है। वहाँ पर निर्वासित बन्दियों ने ही एक प्रकार से साम्राज्य खड़ा किया, क्योंकि उनके आगमन से अमेरिका को नयी संस्कृति का आह्वान मिला। क्रमशः वहाँ के उपनिवेशों में इंगलैण्ड की प्रणाली पर आधारित स्कूल एवं कालेज खुले, व्यापारिक संस्थाएँ स्थापित हुईं, जिन्होंने उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया। कालान्तर में ब्रिटेन ने न्यूजीलैण्ड को भी अपना लिया। कनाडा में भी अंग्रेजी प्रभुत्व स्थापित हुआ, किन्तु इसके लिए फ्रांसीसियों से घोर संघर्ष करना पड़ा। सन् १८४७ में कनाडा को अपनी आन्तरिक नीति में स्वतन्त्रता दे दी गयी। फिर अमेरिका के साम्राज्य में संघीय शासन की व्यवस्था की गयी। अफ्रीका में जिस प्रकार से ब्रिटिश साम्राज्यवाद

खड़ा हुआ वह भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रवृत्ति की द्योतक है। भारत में किस प्रकार अंग्रेजों का बलशाली प्रभुत्व हुआ उससे तो भारतीय इतिहास का आधुनिक युग भली-भाँति परिचित है। भारत में अंग्रेज व्यापारी के रूप में आये। उन्होंने कालान्तर में देशीय राजाओं की राजनीतिक दुर्व्यवस्था से लाभ उठा कर साम्राज्यवादी पंजे फैलाए और एक लम्बा-चौड़ा साम्राज्य खड़ा कर लिया। राजनीतिक प्रभुत्व के साथ ही अंग्रेजों ने यहाँ की आर्थिक स्थिति को अपने हाथों में ले लिया। भारतीय व्यापार अंग्रेजी व्यापार हो गया और भारतीय राज्य अंग्रेजी राज्य। सन् १८५७ में भारतीय नरेशों तथा सैनिकों ने उस "पुरानी कसक" को स्वाधीनता के युद्ध में परिणत कर दिया किन्तु एकता के अभाव तथा अन्य आकस्मिक कारणों से वह विद्रोह विफल रहा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य जाता रहा। अब सीधे इंगलैण्ड की रानी यहाँ की शासन-रक्षिका हो गयी। भारत ने अपनी स्वाधीनता के लिए इण्डियन नेशनल कांग्रेस के आधिपत्य में बड़े-बड़े प्रयत्न किए। महात्मा गाँधी ऐसे महापुरुष का अवतार हुआ जिन्होंने भारत को विदेशी शासन से मुक्त किया। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त भारत स्वतन्त्र हो गया और यहाँ से ब्रिटेन साम्राज्यवाद समाप्त हुआ।

पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रिटेन ने अफ्रीका में भी अपना साम्राज्य खड़ा किया। नैपोलियन से युद्ध करता ब्रिटेन अफ्रीका की ओर उन्मुख हुआ था। बहुत से ईसाइयों ने दक्षिणी अफ्रीका में प्रवेश किया, क्योंकि सन् १८१५ ई० में कुमारी आशान्तरीप ब्रिटेन के अधिकार में आ चुका था। कुमारी आशान्तरीप के उत्तरी भू-भाग में हालैण्डनिवासियों का अधिकार था। हालैण्डवासी वहाँ पर

अफ्रीका में

"बोअर" के नाम से प्रसिद्ध थे। उनसे अंग्रेजों का संघर्ष हो गया। जब अंग्रेजों ने सन् १८६३ ई० में दास-प्रथा का अन्त किया तो बोअरों ने इसका विरोध किया क्योंकि उन्होंने अपने कृषि-उद्योग में हब्शियों को लगा रखा था। ये बोअर कालान्तर में नेटाल में चले आए किन्तु अंग्रेजों

ने उनका पीछा वहाँ तक किया और नेटाल हथिया लिया। पुनः बोअरों ने ट्रांसवाल तथा ऑरेंज फ्री स्टेट के दो प्रजातन्त्र राज्यों की स्थापना की। १८५३ में केप उपनिवेश भी स्थापित हुआ। अंग्रेजों ने चाहा कि ट्रांसवाल, ऑरेंज फ्री स्टेट तथा केप के उपनिवेशों में संघीय शासन स्थापित हो, किन्तु उन्हें इस विषय में विफल होना पड़ा। जब ट्रांसवाल में हीरे का पता चला तो अंग्रेजों ने अपनी नीति से उसे हथिया लिया। ट्रांसवाल की जनता ने विरोध किया। ट्रांसवाली जूलुओं ने वीरता दिखाई किन्तु वे परास्त हो गए। अन्त में इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री उदार ग्लैडस्टन ने ट्रांसवाल को आन्तरिक स्वाधीनता देकर झगड़ा समाप्त कर दिया और ट्रांसवाल दक्षिणी अफ्रीका का जन-तन्त्र कहा जाने लगा। ट्रांसवाल के साथ जुटी हुई एक व्यक्ति की कहानी ऐतिहासिक हो गयी है। सैसिल रोडस एक अंग्रेज व्यापारी था जो बहुत ही धनाढ्य था और उसके हृदय में साम्राज्यवादी प्रेरणाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं। उसने एक योजना से काहिरा एवं केप अन्तरीप को एक में मिलाना चाहा। उसने बोअरों से मित्रता स्थापित की, ट्रांसवाल के उत्तरी भाग पर अधिकार-स्थापन के लिए एक व्यापारिक कम्पनी का निर्माण किया। रोडस ने अपने प्रयत्नों से रोडेशिया नामक उपनिवेश स्थापित किया। जब ट्रांसवाल की सरकार ने हीरे की खानों में काम करने वाले व्यक्तियों से अच्छा व्यवहार नहीं किया तो विद्रोह उठ खड़ा हुआ। रोडस, जो उन दिनों केप अन्तरीप का प्रधान मंत्री था, आतुर हो उठा। उसने विद्रोही विदेशियों को सहायता देने का वचन दिया। जब अंग्रेजी सेना ने ट्रांसवाल पर आक्रमण किया तो बोअरों ने अपना संगठन करके संघर्ष लिया। बोअर-युद्ध सन् १८९९ से १९०२ तक चलता रहा। अन्त में ऑरेंज फ्री स्टेट, ट्रांसवाल को अंग्रेजों के सामने झुकना पड़ा। क्रमशः सन् १९०९ ई० में दक्षिणी अफ्रीका के संयुक्त राज्य की स्थापना हुई जिसमें नेटाल, ऑरेंज फ्री स्टेट, ट्रांसवाल तथा केप अन्तरीप सम्मिलित हो गए। प्रथम महायुद्ध में बोअरों ने अंग्रेजों की सहायता की। उन्होंने फ्रांस में जाकर

जर्मनों से लोहा लिया। बोअरों से तो मित्रता हो गयी किन्तु हब्शिओं को राजनीतिक अधिकार से वञ्चित कर दिया गया। तीसरी समस्या थी अफ्रीका में रहने वाले भारतवासियों की। ये भारतवासी व्यापारी तथा मजदूर थे जिन्होंने व्यापार और परिश्रम से प्रभूत धन उत्पन्न कर लिया था और एक प्रकार से अफ्रीका के वासी हो गए थे। अंग्रेजों ने यहाँ रंग-द्वेष फैलाया। यह समस्या आज तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है और विश्व के समक्ष एक प्रमुख समस्या है। चौथी समस्या थी आर्थिक दशा का सुधार। यह समस्या अफ्रीका दूर करता जा रहा है।

ब्रिटेन और आयरलैण्ड का पारस्परिक विद्वेष शताब्दियों से चला आ रहा था। आयरलैण्ड वालों ने अपनी स्वाधीनता के लिए बड़े-बड़े प्रयत्न किये हैं। सन् १८०० ई० में आयरलैण्ड की पार्लियामेण्ट को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में मिला लिया गया। आयरलैण्ड ने धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक बातों को लेकर संघर्ष करना आरम्भ कर दिया।

आयरलैण्ड में

वहाँ की अधिकांश जनता कैथोलिक थी किन्तु राज्य-धर्म प्रोटेस्टैण्ट था। आयरलैण्ड वालों को कर पर्याप्त मात्रा में देने पड़ते थे। क्रमशः वे आर्थिक स्थिति से व्याकुल हो उठे। पार्लियामेण्ट में आयरलैण्ड वालों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त उन्हें औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हुआ। किन्तु यह पर्याप्त नहीं था। अन्त में आयरलैण्ड के दो टुकड़े कर दिए गए। उत्तर में इंगलैण्ड का प्रभुत्व तथा दक्षिण में आयरलैण्ड के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई। आयरलैण्ड स्वतन्त्रता के लिए किये गये संग्रामों के लिए प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेन के साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियाँ बहुमुखी थीं। उसका संगठन व्यापक था। आज इसमें कुछ तो ऐसे देश सम्मिलित हैं जिन्हें औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो गया है जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका आदि ऐसे ही देश हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ ऐसे देश भी हैं जो संरक्षित कहे जाते हैं। इन संरक्षित राज्यों में मिश्र, फिलस्तीन भी

थे, जिन्हें आज स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। तीसरे प्रकार के राज्य हैं जिन्हें आश्रित समझा जाता है, किन्तु इनमें अधिकांश आज स्वतन्त्र हैं, जैसे भारत, ब्रह्मा, लङ्का। अभी मलाया प्रायद्वीप में स्वतन्त्रता के संग्राम चल रहे हैं। आज ये सभी प्रकार के राज्य ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्तर्गत हैं।

§. [३] फ्रांसीसी साम्राज्य का दबदबा अफ्रीका तथा दक्षिणी एशिया में है। साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के उत्थान में फ्रांस १९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही प्रवृत्त हो सका।

फ्रांसीसी साम्राज्य

उसने प्रथमतः भूमध्य सागर तथा अल्तास पर्वत के बीच का प्रदेश प्राप्त किया। सन् १८२७ में अल्जीरिया उसके अधिकार में आया जहाँ पर फ्रांसीसी भी अधिकांश संख्या में हैं। इसके उपरान्त फ्रांस ने क्रमशः पश्चिमी अफ्रीका-तट पर अपना प्रभुत्व घोषित कर दिया। मिश्र में भी उसने घुसने के प्रयत्न किए। फ्रांसीसी इञ्जीनीयर लेसेप्स ने ही सन् १८६९ ई० में स्वेज़ नहर का निर्माण कराया। सन् १८६२ ई० में कोचीन भी फ्रांस के अधिकार में आ गया। इन प्रयत्नों के साथ-साथ प्रशान्त सागर, हिन्दचीन तथा अफ्रीका में फ्रांसीसी साम्राज्य फूलता रहा। सन् १८७८ ई० विश्व-इतिहास में यूरोपीय साम्राज्यवादी दौड़ के लिए प्रसिद्ध है। जर्मनी तथा इटैली ने भी महत्वाकांक्षा की उद्दाम प्रवृत्तियाँ दिखानी आरम्भ कर दीं। सन् १८८१ में ट्यूनिस भी फ्रांस को प्राप्त हो गया। इसी समय इङ्गलैण्ड ने मिश्र पर अपना दबदबा डाला। आगे के वर्षों में विश्व के विभिन्न शेष देशों पर अधिकार जमाने की प्रेरणा से साम्राज्यवादी बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे। कहीं भयङ्कर गर्जना हुई तो कहीं वर्षा। साम्राज्यवादी होड़ में प्रवृत्त थे, प्रमुखतः फ्रांस, जर्मनी, इटैली एवं जापान। सन् १८७१ ई० में जर्मनी ने फ्रांस को हराया जिसके फलस्वरूप उसे अलसास एवं लॉरेन के प्रान्त दे देने पड़े। फ्रांस इसे सह नहीं सकता था। उसने इसका प्रतिशोध अफ्रीका तथा चीन में लिया और उसके साम्राज्य की प्रभुता बहुत भागों में स्थापित

हो गयी। १९१२ ई० में मोरक्को उसके अधिकार में आ गया। उसने क्रमशः सहारा की मरूभूमि, सेनीगाल तथा कांगो के बेसिन को अधिकृत कर लिया। मेडागास्कर पर उसका अधिकार सन् १८९६ में ही हो गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि फ्रांस भी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों में अन्य राष्ट्रों के समकक्ष में आ गया।

रूसी साम्राज्य

§. [४] आज के विश्व में रूस का विशिष्ट राजनीतिक महत्व है। उसने विश्व को एक नया संदेश दिया और दिया है मानव-जीवन की सभी प्रवृत्तियों को हिला देने वाला साम्यवादी प्रयोग। किन्तु इस अत्याधुनिक राजनीतिक प्रक्रिया के मूल में क्या था इसे जानना परमावश्यक है। जिन दिनों यूरोप के अन्य राष्ट्रों में, प्रजातन्त्र एवं स्वाधीनता की उद्दाम लहरें राज्यतन्त्रात्मक सत्ता की नींव को हिला रही थीं, रूस निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासकों से पिसता एवं उत्पीड़ित होता जा रहा था। प्रजा-जन में निरंकुशता के प्रति विद्रोह न हो अतः रूस के शासकों ने साम्राज्यवादी मोह उत्पन्न किया। हॉलैण्ड तथा फिनलैण्ड पर रूस का अधिकार हो चुका था। इसी प्रकार उसने काकेशिया प्रान्त, तुर्किस्तान तथा साखालिन के आधे भू-भाग पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कालान्तर में रूस अफगानिस्तान, फारस, चीन तथा जापान की सीमाओं को स्पर्श करने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी तक रूस का दबदबा बहुत बढ़ गया। यूरोप के अन्य राष्ट्रों में रूस के उत्थान से खलबली मची और *पूर्वी समस्या* (The Eastern Questions) का उद्घाटन हुआ। प्रशान्त महासागर में भी रूस एक समस्या के रूप में विराजमान हो गया। क्रमशः साइबेरिया उसका हो गया। सन् १८९१ से १९०५ तक उसने ट्रांस-साइबेरियन रेलवे का निर्माण कर अपने उद्योग की छाप डाली। रूस की इच्छा थी मंचूरिया तथा कोरिया पर अधिकार जमाने की। किन्तु जापान ने उसका प्रबल विरोध किया। इङ्गलैण्ड ने उसकी बाढ़ रोकी, क्योंकि उसे भय था कि रूस कहीं भारत तक न चढ़ आये।

अठारहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड का प्रबल शत्रु था फ्रांस, अब रूस ने उस स्थान को ग्रहण कर लिया। रूस की गति फारस में हो रही थी। ब्रिटेन ने इसे भरपूर रोका क्योंकि इससे भारत पर आक्रमण का भय हो जाता। किसी प्रकार रूस से सन्धि हुई और फारस तीन भागों में बट गया। उत्तरी भाग रूस को, दक्षिणी भाग इंगलैण्ड को मिला। बीच का भाग स्वतन्त्र रखा गया। फारस ने इस अप्रत्याशित बटवारे का विरोध किया जो बहुत दिनों तक चलता रहा। रूस को अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के विकास में इस प्रकार जापान, इंगलैण्ड से विरोध मोल लेना पड़ा। अब टर्की भी उसका प्रबल विरोधी हो गया क्योंकि रूस की आँख उसपर भी तो लगी थी। जर्मनी आग पड़ा था। उसने कुस्तुन्तुनिया को बग़दाद और फारस की खाड़ी तक मिलाने के लिए एक रेलवे बनाने की जर्मन-योजना उपस्थित की जो अन्य राष्ट्रों को मान्य नहीं थी। रूस, इंगलैण्ड आदि देशों ने इसका प्रबल विरोध किया। यह बात छोटी नहीं थी, इसमें निहित थीं जर्मनी की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ जो प्रथम विश्व-युद्ध के प्रसिद्ध कारणों में एक थी। रूस इस प्रकार अपनी योजनाओं में जर्मनी, इंगलैण्ड तथा जापान को अपना शत्रु समझने लगा। रूस अन्त में एक प्रबल राष्ट्र हो गया।

§. [५] अफ्रीका में यूरोप के सभी प्रमुख राष्ट्रों ने लूटना-खसोटना तथा अधिकार-स्थापन करना आरम्भ कर दिया। इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने वहाँ क्या किया इसका वर्णन हो चुका है। यद्यपि यूरोप के धर्म-प्रचारकों ने अफ्रीका की छान-बीन कर डाली थी और लिविंगस्टन, स्टैनली बर्टन आदि धर्म-प्रचारकों ने अपने अफ्रीका-परिभ्रमण को अति प्रसिद्ध कर दिया था, किन्तु वहाँ पर राजनीतिक सत्ता स्थापित की बेलजिएम ने।

बेलजिएम का साम्राज्य

बेलजिएम के राजा लियोपोल्ड द्वितीय ने कांगो बेसिन के अनुसंधान के लिए एक संघ का निर्माण कराया जिसके प्रयत्नों से कांगो में बेलजिएम का उपनिवेश स्थापित हो गया। इस

प्रकार बेलजिएम भी एक छोटा साम्राज्य बन गया।

§. [६] हालैंड की स्वाधीनता के संग्राम की कहानी हमने पहले ही पढ़ ली है। हालैंड था तो एक छोटा देश किन्तु उसका साहस अपूर्व था। उसने लगभग सभी महाद्वीपों में अपने व्यापारिक केन्द्र और उपनिवेश स्थापित किये थे। उसके प्रभुत्व-स्थलों को इंगलैंड ने बहुत अंशों में अपने अधिकार में कर लिया। अमेरिका के न्यू एमस्टर-डम तथा दक्षिणी केप के उपनिवेश हालैंड के ही थे जहाँ अंग्रेजों ने अपनी पूछ गाड़ दी। क्रमशः लंका तथा गिनी के समुद्र-तट भी हालैंड के हाथ से जाते रहे। सन् १८२५ तक उसके पास केवल मलाया का टापू बचा। यों तो पूर्वी द्वीप समूह में उनका पर्याप्त दबदबा था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध ने उसके साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी। इन्देशिया स्वतंत्र हो गया है।

हालैंड का साम्राज्य

§. [७] ऊपर के प्रकरणों में जर्मनी की चर्चा कई स्थानों पर हुई है। जर्मनी के पास आरम्भ में कोई उपनिवेश नहीं थे। उसकी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का प्रेरक था बिस्मार्क जिसके नाम से विश्व-इतिहास भली भाँति परिचित है। बिस्मार्क ने ही आधुनिक जर्मनी का एक प्रकार से निर्माण किया था। यद्यपि वह उपनिवेश-स्थापन में विशेष अभिरुचि नहीं रखता था किन्तु उसने जर्मनी को संगठित किया जिसके फलस्वरूप जर्मनी एक प्रबल राष्ट्र हो उठा। सन् १८८३ ई० में जर्मनी का अधिकार एक व्यापारिक कम्पनी के रूप में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रिका में हो गया। सन् १८८४ में वहाँ उसका उपनिवेश स्थापित हो गया। जंजीबार पर अधिकार सन् १८८५ में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अफ्रीका के चार प्रदेश उसके अधिकार में आ गए : टोगोलैंड, कैमरून, दक्षिण-पश्चिमी एवं पूर्वी अफ्रीका। जर्मनी को बाहर निकलने की गति मिली और मिली साम्राज्यवादी उत्कट प्रेरणा।

जर्मनी का साम्राज्य

§. [८] स्पेन और पोर्तुगाल की गौरवपूर्ण कहानी सत्रहवीं शताब्दी तक ही सीमित रही। उनके अधःपतन की कहानी पहले ही कही जा चुकी है। उनके साम्राज्यों का अन्त १९ वीं शताब्दी तक होता रहा। हमने देख लिया है कि पोर्तुगाल का साम्राज्य एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका में फैला हुआ था। ब्रैजील पर उसका अधिकार सन् १८२२ में समाप्त हो गया। क्रमशः उसका पतन भारत में गोआ, डामन एवं ड्यू तथा अफ्रीका में मोजम्बीक तथा अंगोलिया तक आकर रुक गया। हम जानते हैं कि पोर्तुगाल तथा स्पेन का कई बार सम्मिलित शासन रहा। नैपोलियन के युद्धों ने स्पेन को नष्ट कर दिया और उसके उपनिवेश क्रमशः स्वतन्त्र होते चले गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष में पोर्तुगाल एवं स्पेन नहीं आ पाए। नयी प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने के पूर्व ही उनके साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गए थे।

पोर्तुगाल तथा स्पेन

§. [९] जर्मनी के सदृश इटैली भी अन्त में साम्राज्यवादी होड़ में आ उतरा। अफ्रीका, जो यूरोप का अखाड़ा था और जहाँ यूरोप के राष्ट्र अपनी कुमुक ला पटकते थे तथा पारस्परिक संघर्षों के साथ उसका बटवारा करते थे, इटैली के प्रयत्नों का प्रारम्भिक क्षेत्र बन गया। सन् १८८२ ई० में इटैली ने यहाँ के एरिट्रिया नामक प्रदेश में अपना उपनिवेश स्थापित किया। सोमालीलैंड भी उसका हो गया। जब सन् १९११ ई० में टर्की की पराजय हुई तो ट्रिपोली तथा सिरेनिका भी उसके अधिकार में आ गए। इटैली ने अबीसीनिया पर अधिकार करना चाहा किन्तु वह अभिलाषा सन् १९३५ ई० में पूर्ण हुई। द्वितीय विश्व-युद्ध में इटैली की पराजय से अबीसीनिया स्वतंत्र हो गया। इटैली की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति २० वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से खिली और वह विश्व के लिए प्रलयंकारी सिद्ध होकर रही। किन्तु हाय रे काल-गति! आज इटैली ने अपने घुटने टेक दिये हैं।

इटैली का साम्राज्य

§. [१०] आज विश्व में अमेरिका का गौरव अद्वितीय है। यह दो विशिष्ट भागों से राजनीति में प्रसिद्ध है : संयुक्त राज्य अमेरिका तथा लैटिन अमेरिका। आज संयुक्त राज्य

संयुक्त राज्य अमेरिका एवं लैटिन अमेरिका

अमेरिका की तूती सारे विश्व में बोल रही है। लैटिन अमेरिका में स्पेन तथा पोर्तुगाल के उपनिवेश स्थापित थे किन्तु वे क्रमशः यूरोप के प्रबल राष्ट्रों के संघर्ष में पड़ गए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने लैटिन अमेरिका की सहायता की जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८२१ ई० में ये उपनिवेश अपनी स्वाधीनता के लिए मचल पड़े। यूरोपीय पवित्र संघ (The Holy Alliance) ने उन्हें हड़पना चाहा, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन सभापति मनरो ने इसका सिद्धान्ततः विरोध किया (The Doctrine of Munero)। उन्होंने उद्घोष किया कि वे यूरोपवासियों का अमेरिका में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकते। यूरोप के राष्ट्र भयभीत हो गए और युद्ध-संकुल उपनिवेश स्वतन्त्र हो गए। इस प्रकार ब्रेजील, चिली तथा अर्जेण्टाइना आदि स्वतंत्र हो गए। मनरो ने एक ओर अपने सुन्दर राजनीतिक सिद्धान्त का उद्घोष किया किन्तु दूसरी ओर उसका राष्ट्र स्वयं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों की पकड़ में आ गया। जब सन् १८८६ में मेक्सिको से युद्ध हुआ तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसे परास्त करके कैलीफोर्निया, उटाह आदि प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। उसकी गति बढ़ती गयी। सन् १८६७ में उसने अलास्का प्राप्त किया और स्पेन से सन् १८६८ ई० में फिलिप्पाइन, क्यूबा तथा पोर्टरिको के उपनिवेश छीन कर अपनी प्रबुद्ध साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का परिचय दिया। क्रमशः उसका अधिकार हवाई द्वीपों तथा पनामा नहर पर हो गया। निकारगुआ, हैटी, सन्तो, डामिंगो पर भी उसने बलपूर्वक अधिकार कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि चुपचाप अमेरिका का वह शक्तिशाली भू-भाग जो आज संयुक्त राज्य अमेरिका के नाम से प्रसिद्ध है एक व्यापक साम्राज्य हो गया। आज उसकी

सम्पत्ति तथा राजनीतिक नीति कितनी प्रबल है उसका अनुमान स्वतः लग जाता है। आरम्भिक कालों में, जब से वह अंग्रेजों के प्रभुत्व से अलग हुआ, वह चुपचाप बढ़ता रहा। आज वह विश्व का एक महान् साम्राज्यवादी प्रदेश है।

§. [११] साम्राज्यवादी दौड़ में पूर्वी समस्या अपना पृथक् महत्व रखती है। इसकी ओर संकेत गत प्रकरणों में हो चुका है।

पूर्वी समस्या

हम इस प्रकरण में इसका पृथक् वर्णन करते हैं, क्योंकि इसने बहुत दिनों तक यूरोपीय राष्ट्रों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। हमने देख लिया है कि १४५३ ई० में उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करके आधुनिक युग के सूत्रपात में प्रबल परोक्ष सहायता दी थी। अठारहवीं शताब्दी तक तुर्क लोग प्रबल रहे, किन्तु अब उनकी श्री विचलित होने लगी। पश्चिमी एशिया तथा पूर्वी यूरोप में तुर्कों का प्राबल्य था। उनकी अधिकांश प्रजा ईसाई थी अतः उस पर जब कभी धार्मिक आरोप होता तो यूरोप के ईसाई राष्ट्र तिलमिला उठते। क्रमशः राष्ट्रीयता के उद्भव के साथ शासित राष्ट्रों में स्वतंत्रता की अग्नि भड़क उठी। ये दो विशिष्ट कारण तो थे ही। प्रजा में स्लाव जाति की प्रमुखता थी अतः जातीय सहानुभूति से विगलित होकर रूस ने अपनी साम्राज्यवादी दृष्टि इधर भी फेरी। तुर्कों की दशा पतनोन्मुख थी अतः रूस ने काले सागर को प्राप्त करना चाहा। इंगलैंड रूस का प्रबल विरोधी हो गया क्योंकि इस प्रकार पूर्व में रूस का दबदबा हो जाता और उसके एशियाई साम्राज्य पर भय के बादल मँड़रा जाते। रूस तुर्की साम्राज्य को मरणासन्न समझ कर समाप्त कर देना चाहता था। किन्तु इंगलैंड उसे जिलाना चाहता था। यह थी पूर्वी समस्या (The Eastern Question) जिसे लेकर यूरोप में पर्याप्त समाधान-बौछारें छूटीं। (१) सर्व प्रथम स्वभाग्य-निर्णय (Self-determination) की प्रेरणा युगोस्लाव जाति में आयी। उसने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और सन् १८१७ में

उसने सर्विया का स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। कालान्तर में १८७८ ई० में सर्विया पूर्णरूपेण स्वाधीन हो गया और इसमें उसे रूस से पर्याप्त सहायता मिली। क्रमशः यूनान, माण्टनिग्रो तथा बलगेरिया ने भी विद्रोह किया और सन् १९१४ तक सारी स्लाव जाति स्वतंत्र हो गई और बूढ़ा टर्की अपने झुर्री भरे गालों पर आँसू की रेखाएँ मिटाता रहा। (२) यूनानियों को प्रबल युद्ध करना पड़ा। फ्रांस की क्रान्ति ने बहुत से पराधीन राष्ट्रों को प्रेरित कर दिया था। यूनानियों ने सन् १८२१ ई० में स्वाधीनता का संग्राम आरम्भ किया। रूस, इंगलैंड तथा फ्रांस ने सहयोग दिया और यूनान में नियमानुमोदित शासन स्थापित हुआ। अब भी बहुत से यूनानी बूढ़े टर्की की गोद में थे जिन्हें वेंजिलो ने सन् १९१३ ई० में अपनी राजनीति-चातुरी से मुक्त कराया। (३) अब रूमानिया की बारी आयी। रूमानिया में जो जाति है वह तीन राष्ट्रों में विभक्त थी। मोल्डेविया एवं वेलेशिया तुर्की साम्राज्य में थे, ट्रांसिलवेनिया आस्ट्रिया के आधीन था और बसोबिया रूस के। प्रथमतः मोल्डेविया तथा वेलेशिया ने अपने को मुक्त किया और रूमानिया के नाम से दोनों एक राष्ट्र बन गए। (४) अब बच्चा बलगेरिया का राष्ट्र-निर्माण। यहाँ के लोग यूनानी चर्च के पुजारी थे और इनकी भाषा स्लाव की भाषा से मिलती-जुलती थी। इस जाति ने सन् १८७५ में अपने को स्वतन्त्र करने की प्रेरणा ली। तुर्कों ने उसपर अत्याचार किए, किन्तु रूस की सहायता से वह सन् १८७७ में स्वतन्त्र हो गयी और बलगेरिया स्वतन्त्र हो गया। किन्तु यह स्वतन्त्रता इंगलैण्ड की चातुरी से कई टुकड़ों में बँट गयी। बलगेरिया का एक भाग तो पूर्णतः स्वतन्त्र हो गया, दूसरा भाग तुर्कों के आधीन रहा और तीसरा भाग तुर्कों के आधीन एक ईसाई शासक को दिया गया। कालान्तर में पहले तथा तीसरे भागों ने सन् १९०८ में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

इस प्रकार हमने देखा कि तुर्की साम्राज्य से चार स्वतन्त्र राष्ट्रों की नींव पड़ी : सर्विया, यूनान, रूमानिया तथा बलगेरिया। बूढ़ा

तुर्की साम्राज्य सिकुड़ कर कुस्तुन्तुनिया तथा उसके आस-पास के प्रदेश तक रह गया। इतना ही नहीं, तुर्की साम्राज्य के उपनिवेश भी क्रमशः अलग जा खड़े हुये। ट्यूनिस पर फ्रांस के, ट्रिपोली पर इटैली के और मिश्र पर इंगलैण्ड के अधिकार जम गए। इन राजनीतिक उपद्रवों से तुर्की साम्राज्य का एशियाई भाग भी हिल उठा। अन्त में, विवश होकर टर्की (तुर्की) ने उभरते हुए साम्राज्यवादी जर्मनी से मेल स्थापित किया और जर्मनी ने अवसर पाकर उसकी सेना को सुव्यवस्थित कर डाला तथा उसके शासन को सुगठित बना डाला। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि जर्मनी टर्की की इस अवस्था से लाभ उठाकर विश्व में भयंकरता ढाहने के उपक्रम में बड़ी सरगर्मी से प्रयत्नशील था। हुआ भी, विश्व-युद्ध में जर्मनी को तुर्की से पर्याप्त सहयोग भी मिला।

साम्राज्यवादी देन

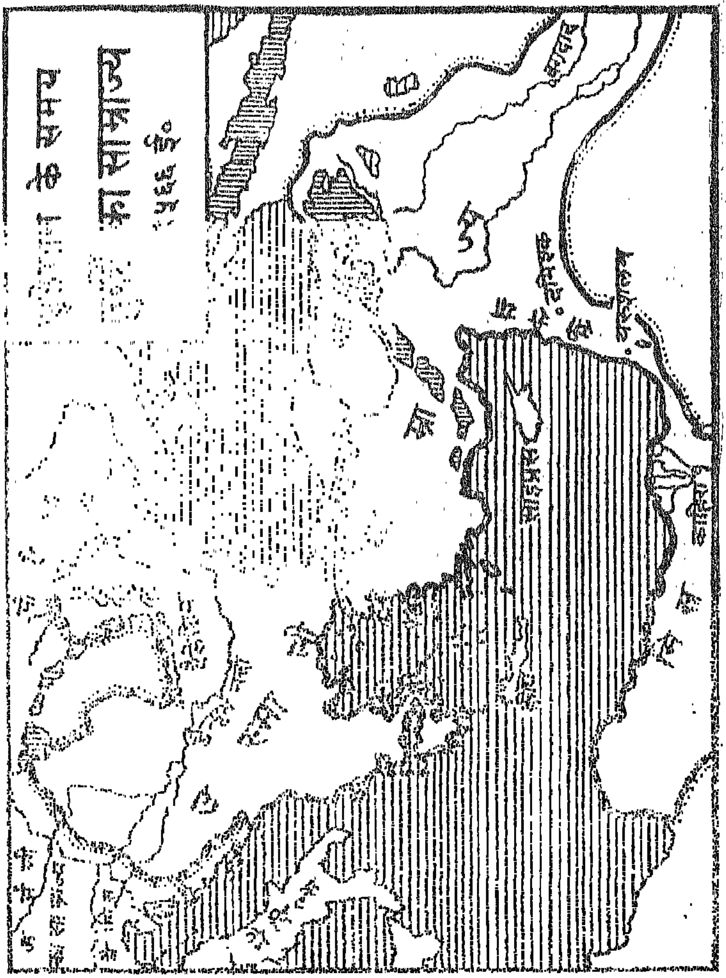
§. [१२] गत प्रकरणों में हमने यूरोप की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला और देखा कि उनके मूल में दो प्रेरणाएँ कार्यशील थीं। एक थी प्रतिद्वन्द्विता की तथा दूसरी थी रक्त-शोषण की। साम्राज्यवाद आर्थिक आधारों पर ही टिका रहता है और यह तभी सम्भव होता है जब कि शासित प्रदेशों की सम्पत्ति पर उसका पूर्ण अधिकार हो। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने रक्त-शोषण की प्रवृत्ति को पर्याप्त बढ़ाया। राजनीतिक अधिकार तो साम्राज्यवाद के मूल में है ही। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने जहाँ शासन किया वहाँ पर यही उद्‌घोष किया कि वे वहाँ की सभ्यता, संस्कृति एवं आर्थिक दशा का सुधार करना चाहते हैं। वास्तव में, यह सब ढकोसला था, केवल स्वार्थ-साधन की प्रवृत्ति ही प्रबल रही है। अफ्रीका का बटवारा हुआ और वहाँ की जातियों का शोषण किया गया और उन्हीं के धन से राष्ट्रों ने सेनाएँ बनाईं जिनकी सहायता से देश-देशान्तरों में वे युद्ध करते रहे। भारत इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। साम्राज्यवादी शक्ति अक्षुण्ण रहना चाहती है। वह गोजर के समान अपने सारे पंजों से घर पकड़ लेती है। शासित देशों में

"विभक्त कर दो और शासन करो" (Divide and Rule) की नीति चलायी जाती है जिससे एक पक्ष सदा शासक का समर्थन करता रहे। भारत में जो स्वाधीनता का संग्राम चला उसमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद की यही नीति थी। मुसलमानों को अंग्रेजों ने मिलाया और मुस्लिम-लीग को राजकीय बल दिया। आज स्वतन्त्र होने पर भी भारत बट गया है। यदि कहीं पर विद्रोह की अग्नि उभड़ती है, उसे कुचल दिया जाता है और अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं। क्या जापान द्वारा मंचूरिया, कोरिया तथा चीन पर किए गए अत्याचार भुलाए जा सकते हैं?

साम्राज्यवाद की अन्य देनों में एक है जाति-द्वेष को उभाड़ना और रंगों के आधार पर जातियों को बाँट कर विरोधी दलों को आपस में लड़ाना। इस प्रकार अन्त में शासक एवं शासित के बीच संघर्ष होता है और शासित वर्ग साम्राज्यवाद की प्रबल सेना से कुचल दिया जाता है। शासित अपना स्वावलम्बन तथा स्वाभिमान खो बैठता है। क्या भारतीय अंग्रेजी शासन में निष्क्रिय नहीं हो गये थे? क्या उन्हें यदि महात्मा गान्धी ऐसे कुछ महापुरुष प्रेरक रूप में न मिलते तो वे स्वतन्त्र हो सकते थे? हाँ, कुछेक वर्ग साम्राज्यवाद के पोषक भी होते हैं। पूँजीपति तथा व्यापारी वर्ग को साम्राज्यवाद से पर्याप्त लाभ होता है। सामान्य जनता अपनी संकीर्णता में ही पड़ी रहती है।

संसार में जितने व्यापक युद्ध हुए हैं उनके मूल में साम्राज्यवाद था। संसार के दोनों महायुद्ध इस उक्ति के समर्थक हैं। युद्ध के दिनों में आर्थिक स्थितियों से विगलित व्यक्ति अपनी नैतिकता खो देते हैं। चारों ओर घृणा, ईर्ष्या आदि अभावात्मक स्थायीभावों (Negative sentiments) को उत्पन्न करना ही साम्राज्यवाद का अपने अस्तित्व के लिए कार्य हो जाता है। संसार के प्रसिद्ध युद्ध, यथा—बोअर-युद्ध (१८६६-१६०२), रूस-जापान-युद्ध (१६०४) तथा १६१४ तथा १६३६ के महायुद्धों में साम्राज्यवादी प्रेरणाएँ ही काम कर रही थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्यवाद में दोष ही दोष हैं। ऐतिहासिकों ने कुछ अंशों में इसका समर्थन भी किया है। उनका कहना है कि साम्राज्यवादी शक्ति के भीतर बड़े-बड़े कार्य होते हैं, रोमाण्टिक वातावरण रहता है, कुछेक धनाढ्य व्यक्तियों की उत्पत्ति से कला-कौशल की वृद्धि होती है, भवन बनते हैं आदि। किन्तु ये बातें कितनी निमू ल हैं! जहाँ एक का लाभ होता है सहस्रों की हानि होती है। मनुष्य मनुष्यता खो बैठता है। सदाचारों की वृद्धि नहीं होती। आज तक के जितने साम्राज्यवादी युद्ध हुए हैं वे हमें यही शिक्षा देते हैं। आज का विश्व अभी साम्राज्यवाद की बोझिल प्रवृत्तियों से खाली नहीं हो सका है, किन्तु विश्व की राजनीति जिस प्रकार बढ़ रही है उससे हम आशान्वित हो उठे हैं। साम्राज्यवाद का नाश अवश्यम्भावी है, भले ही अभी एक विश्वव्यापी युद्ध घटित होने को शेष हो।



चित्र नं० १८

सत्रहवाँ अध्याय

रूस की क्रान्ति (The Russian Revolution)

§. [१] आधुनिक मानव-इतिहास में रूस ने जो चित्र खींचे हैं, जो रंग भरे हैं, जो प्रकाश-किरणें फेंकी हैं, जो जीवन-दर्शन दिए हैं तथा जिस प्रकार की उन्नति उसने की है वह सब न-केवल रूसी मानव के लिए ही क्रान्तिकारी है प्रत्युत सारे विश्व को जड़ से हिला देने वाला है। हमने पहले ही देख लिया है कि किस प्रकार रूस का अभ्युदय पीटर महान् तथा रानी कैथराइन के प्रयत्नों से सम्भव हो सका। हमने यह भी देख लिया है कि किस प्रकार रूस कालान्तर में यूरोप का एक प्रबल राष्ट्र हो गया और यूरोप के प्रमुख राष्ट्र उससे भय खाने लगे। रूसी अभ्युदय ने पूर्वी समस्याओं को जन्म दिया और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से प्रचालित उसकी राजनीतिक प्रक्रियाएँ दिग-दिगन्त में व्याप्त हो गयीं। अठारहवीं शताब्दी में रूस ने अपने अभ्युदय का इतिहास लिखा। किन्तु क्रमशः उसकी स्थिति बाहर के लिए भयावह और अन्तः के लिए विस्फोट का कारण बनी। रूस स्वतः अपनी निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता के आवेग में पिसता जा रहा था। ज़ारशाही अपनी विलासिता से पंगु होने लगी और जन-साधारण उसके भार से बोझिल हो उठा। इसका परिणाम हुआ सन् १९१७ की क्रान्ति जो ज़ारशाही का काल थी और जन-जन में एक नये व्यापक संदेश को फूँकने वाली थी।

पूर्वाभास

§. [२] ज़ारशाही से प्रजा सन्तप्त थी। कृषकों की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। कृषि-निर्भर देश आर्थिक व्यामोहों से विकल था। कृषकों के बन्धन बड़े कष्टदायक थे। ऋण-भार से मुक्त होने के लिए उन्हें अपनी गाढ़ी कमाई तथा भूमि पूँजीपतियों के हाथ बेच देनी पड़ती थी। यद्यपि सन् १८६० में कृषक

रूसी क्रान्ति के मूल में

दासत्व के भार से मुक्त हो गए थे, किन्तु आर्थिक झंझटों के कारण वे कालान्तर में सेठ-साहूकारों एवं पूँजीपतियों के दास ही थे।

रूस में जब औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके फलस्वरूप कल-कारखानों का अभ्युदय हुआ तो उनमें काम करने वाले श्रमिकों की दशा असाधु हो गयी। वे परमुखापेक्षी थे और पूँजीपतियों के अमानुषिक व्यवहारों के पुतले हो उठे। ऊपर से राजकीय बन्धन कठोर थे। अतः श्रमिकों में भयानक असन्तोष की अग्नि भड़क रही थी।

तीसरा कारण था सर्व-साधारण का धनिक वर्ग के प्रति विद्वेष-भाव। रूस में शिक्षा का अभाव था। सामान्य जनता अशिक्षा के कारण भाँति-भाँति की असामाजिक दुर्वृत्तियों में फँसी थी। नैतिकता का नितान्त अभाव था। शिष्टाचार से परिचित न होने के कारण साधारण जनता अत्याचारों से पीड़ित हो उबल रही थी।

एक ओर जारशाही की प्रबल शक्ति थी और दूसरी ओर राज-नीतिक व्यवधान। निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता का बोलबाला था। बोलने-लिखने पर प्रतिबन्ध थे। श्रमिक वर्ग अपनी कु-व्यवस्थाओं को स्वर नहीं दे पा रहे थे। जो लोग व्यापारिक अथवा औद्योगिक संघों का निर्माण करते थे उन्हें राजकीय दण्ड भुगतने पड़ते थे। या तो उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जाता था या वे साइबेरिया के शीतप्रधान देश में कष्ट-साध्य जीवन बिताने को दण्डित होते थे। क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ सुलग रही थीं और जहाँ-तहाँ चिनगारियाँ उद्-भासित हो उठती थीं और जारशाही उन पर अत्याचार की बौछारें उड़ेल रही थी। रूस में एक क्रान्तिकारी दल उत्पन्न हो गया था जो रहस्यात्मक ढंग से कार्यशील था। गुप्त रूप से बम एवं पिस्तौल से राज्य-कर्मचारियों की हत्याएँ होने लगी थीं। निकोलस द्वितीय के पूर्वज अलक्जेण्डर की हत्या भी की जा चुकी थी। इन सब क्रान्ति-चिनगारियों को बलपूर्वक दबाया जाता था न कि शीतल फौवारों से उन्हें शान्त किया जाता था।

इस प्रकार फ्रांस की क्रान्ति के सारे सामान तो विद्यमान थे ही। स्वयं राजा निकोलस द्वितीय और उसकी रानी, फ्रांस के राजा लुई तथा रानी मेरी अन्त्वायनेत के सदृश क्रान्ति के अभ्युदय में अपनी दुर्बुद्धियों से ईंधन डाल रहे थे। राजा निकोलस निष्क्रियता के पंजे में जकड़ा हुआ था और था स्त्रैण। वह चापलूसी का शिकार था। परामर्शदाता रासपुटीन तथा अन्य कर्मचारियों की चरित्र-भ्रष्टता उसकी घोर अनैतिकता की समर्थक थी। उसमें अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं थी। उसकी रानी ज़ारीना जर्मन राजकुमारी थी। वह रूसी प्रजाजनों को कुत्ते समझा करती और घृणा की दृष्टि से देखती थी। प्रथम महायुद्ध में लोगों को यह सन्देह था कि वह जर्मनी की सहायता कर रही है, क्योंकि उसके सलाहकार जर्मनी के लोग ही थे। पादरी रासपुटीन गुरुघण्टाल था। उसने राजकुमार को अपनी मोहनी शक्ति एवं इन्द्रजाल में फँसा रखा था। वह राजकुमार का प्राण-रक्षक समझा जाता था अतः राजा-रानी उसके विचित्र व्यामोह में पड़े थे। यों तो शासक था ज़ार, किन्तु उसको चलाने वाली थी ज़ारीना जो बुरी तरह से रासपुटीन के वश में थी। रासपुटीन कुविचारी, दुर्व्यसनी एवं स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करने वाला था। वह इतना बढ़ गया था कि उसी की तेवर से प्राण-दण्ड दिए जाते थे। इस प्रकार रूसी क्रान्ति के सारे उपकरण विद्यमान हो गए थे।

रूस में जो क्रान्ति हुई वह थी ज़ारशाही के विरुद्ध। क्रान्तिकारियों को पकड़-पकड़ कर साइबेरिया भेजा जाता था और वहाँ उनपर अमानुषिक अत्याचार होता था। मार्ग में ही उत्पीड़न, मार तथा घसीटे जाने के कारण कितने मर जाते थे। रूसी इतिहास जानता है कि कितनी बार क्रान्तिदर्शी लेलिन साइबेरिया में निर्वासित किया गया था। उसके भाई को फांसी दी गयी थी। लेनिन ने प्रतिज्ञा की कि वह ज़ारशाही का अन्त करके छोड़ेगा। वह महान् नायक, नेता एवं क्रान्तिदर्शी था। उसने अपने निर्वासन-काल में यूरोप का परिभ्रमण किया और वहाँ से रूस को क्रान्ति का सन्देश समाचार-पत्रों से

देता रहा। उसकी क्रान्तिकारिणी भावनाओं से प्रेरित हो कितने ही युवक अन्य देशों में गुप्त रीति से रह रहे थे। जब ज़ारशाही को सन् १९०५ में पराजय खानी पड़ी तो देश-प्रेमी रूसी व्यक्तियों का आवेग उबल पड़ा।

क्रान्ति का आरम्भ तथा विभिन्न दल

४. [३] अन्त में १२ जनवरी सन् १९०५ ई० में एक लाख श्रमिक जार्ज गापोन के अधिनायकत्व में ज़ार के महल की ओर चल पड़े। यह श्रमिक-दल अपनी करुण कहानी कहने जा रहा था कि ज़ारशाही ने उस पर गोलियों की बौछार की। पृथ्वी रक्त-रंजित हो गयी। यह दिन रूस की क्रान्ति के इतिहास में "लाल दिवस" के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में, गापोन की प्रवञ्चना से ही ऐसा हुआ। वह क्रान्तिकारियों तथा पुलीस दोनों से मिला हुआ था। अन्त में एक क्रान्तिकारी ने उसकी हत्या कर दी। इसका परिणाम क्रान्तिकारी हुआ। इस आन्दोलन से ज़ार की आँखें खुलीं। उसने कुछ सुधार किये। प्रजा को ड्यूमा (रूसी पार्लियामेंट) बनाने की अनुमति मिली। यह एक परामर्शदातृ संस्था थी जिसकी आज्ञा का मानना-न-मानना शासक की इच्छा पर निर्भर था। चारों ओर व्यापक हड़तालें हुईं, क्योंकि श्रमिक-वर्ग इस सुधार से सन्तुष्ट नहीं था। मजदूरों ने सोवियटें (सभाएँ) बनाईं, जिनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। इन सोवियतों ने सभी विरोधियों का पीछा गया। ज़ार का प्रधान मंत्री स्टोलिपन ज़ार के सम्मुख ही मार डाला गया। जब प्रथम महा-युद्ध आरम्भ हुआ तो बोल्शेविक दल के पाँच सदस्यों के अतिरिक्त सभी ने युद्ध का समर्थन किया। रूस की क्रान्ति में कई दल सम्मिलित थे, यथा—(१) सामाजिक जनसत्तावादी दल (Social Democratic Party) (२) सामाजिक क्रान्तिकारी दल (Social Revolutionary Party), (३) उदार दल (Cadet or Liberal Party), तथा अराजकतावादी दल (Anarchist-Party)।

प्रथम दल के नेता थे प्लेखानोव जो कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों के

पोषक थे। औद्योगिक विकास के साथ पूँजीपतियों के अभ्युदय में श्रमिक-वर्ग का संगठन निहित है, ऐसा प्लेखानेव ने उद्घोषित किया। कालान्तर में इस दल में मतभेद हो गया। एक दल का नेता था लेनिन जिसने कहा कि दल को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिये, उसे किसी मध्यम वर्ग की आवश्यकता नहीं है। यही दल अन्त में बोल्शेविक कहलाया और इसने जारशाही के अन्त करने तथा श्रमिकों की सरकार तथा साम्यवादी समाज की स्थापना करने का प्रबल समर्थन किया।

सामाजिक क्रान्तिकारी दल का विचार था कि राजनीतिक सत्ता सभी वर्गों के हाथ में हो, यथा श्रमिक, कृषक तथा शिक्षित। यह संघ-प्रणाली का समर्थक था।

तीसरा मुख्य दल उदार वृत्ति वालों का था जिसमें शिक्षित समुदाय तथा प्रगतिशील धनाढ्य तथा भूमि-पति सम्मिलित थे। इसके नेता थे प्रो० मिल्यूकोव् जो इतिहास के अध्यापक थे। यह दल पर्याप्त संगठित था।

अराजकतावादी दल सहयोग के बल पर प्रजातन्त्र की स्थापना करना चाहता था। इसमें विद्रोहात्मक प्रवृत्तियाँ उमड़-घुमड़ रही थीं। सदस्य लोग पार्लियामेंटवादी सरकार को अभिशापमय समझते थे।

क्रान्ति का स्वरूप

§. [४] जिन दिनों रूस प्रथम महायुद्ध में भिड़ा था उसकी आर्थिक स्थिति बहुत बुरी थी। युद्ध-सामग्री, भोजन-वस्त्र आदि की बड़ी कमी थी। युद्ध में लगभग डेढ़ करोड़ व्यक्ति भिड़े थे। प्रबन्ध की कुव्यवस्था से सैनिक रण-क्षेत्र से भागने लगे। रूस की क्रान्ति में इस भयंकर स्थिति ने भी सहयोग किया।

रूस की वास्तविक क्रान्ति का आरम्भ हुआ १९१७ ई० की व्यापक हड़ताल से। सेना ने हड़तालियों पर गोली की बौछारें नहीं कीं। यह एक राजकीय निरशता थी जो जारशाही के अन्त करने में सहायक हुई। मार्च में नगरों की जनता ने राज-कर्मचारियों तथा पुलीस पर आक्रमण किए और कृषकों ने पूँजीपतियों से जमीनें छीन लीं। यहाँ

तक कि पार्लियामेण्ट (ड्यूमा) ने भी क्रान्ति का समर्थन किया। ज़ार उसे भंग करना चाहता था, किन्तु सोवियतों के सहयोग से पार्लियामेण्ट ने शासन पर अधिकार कर लिया। प्रिंस लवोव नेता बने और करेंसकी न्याय-मन्त्री। इस प्रकार राजा को सिंहासनाच्युत करके उसे उसके परिवार के साथ बन्दी बना लिया गया।

ड्यूमा की सरकार अस्थायी थी। उसे सोवियतों ने सहयोग देना बन्द कर दिया क्योंकि मतभेद उत्पन्न हो गया। सोवियत चाहते थे कि उनके विरोध में सेना तथा जहाजी बेड़ा न पड़े। सेना में कुव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। अप्रैल के मास में बोल्शेविक दल के नेता लेनिन ने रूस में प्रवेश करके उद्घोष किया की मार्च की क्रान्ति व्यर्थ गयी क्योंकि उससे पूँजीपतियों का हित होता था। उन्होंने श्रमिक-वर्ग तथा कृषक-वर्ग को संगठित करने की बात चलाई और सोवियतों को प्रेरित किया। इस प्रकार लेनिन के प्रयत्नों से सोवियतों का संगठन हो गया।

अब ड्यूमा की अस्थायी सरकार तथा सोवियतों में संघर्ष आरम्भ हो गया। जुलाई में पुनः क्रान्ति हुई और करेंसकी प्रधान मन्त्री हुए। इस नयी सरकार में समाजवादियों की बन आयी और क्रान्ति को मनोनीत सफलता न मिल सकी। क्रमशः कृषक एवं श्रमिक बल पकड़ते चले गये। जमीनों एवं कल-कारखानों पर उनका अधिकार हो गया। "रोटी, शान्ति, भूमि" की आवाज़ें गूँजने लगीं। क्रमशः जनता सोवियतों एवं लेनिन की ओर आकृष्ट होने लगी। अक्तूबर में लेनिन ने अपने ढंग की क्रान्ति प्रारम्भ कर दी। पेट्रोग्राड में छठे एवं ७वें नवम्बर को आक्रमण हुआ और सभी मन्त्री बन्दी कर लिए गए। जो लोग लेनिन के साथ नहीं थे उन्होंने विरोधी दल बनाया। क्रान्तिकारी सोवियतों को कई कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, किन्तु उन्होंने क्रमशः समस्त रूस को अपनी क्रान्ति-ज्वाला में लपेट लिया। लेनिन नहीं चाहता था कि विश्व-युद्ध में रूसी सैनिकों का रक्त बहे। मार्च ३, सन् १९१८ ई० में जर्मनी-रूस की संधि (ब्रेस्ट-लिटोस्क की संधि)

हुई। रूस को ६ अरब सोने के मार्क देने पड़े और फिनलैण्ड, लटेविया, लिथूनिया, एस्टोनिया, यूक्रेन आदि से अपनी सेनाएँ हटा लेनी पड़ीं। मित्र-राष्ट्रों को यह सन्धि बड़ी बुरी लगी। उन्होंने रूस को घेर लिया। क्रान्ति की अग्नि में जलती रूसी जनता क्षुब्ध हो उठी। सोवियतों ने ज़ार, ज़ारिना तथा युवराज आदि को मार डाला। क्षुब्धता आगे भी बढ़ी। बड़े-बड़े पूँजीपति, मध्य वर्ग के लोगों पर अत्याचार हुए और वे मारे गए। सन् १९१८ ई० में सामाजिक क्रान्ति-कारी दल के एक युवक ने लेनिन को मारने का विफल प्रयत्न किया। साम्यवादियों के विरोध की भावना प्रबल हुई। चारों ओर अराजकता फैल गई। क्रमशः स्थिति में परिवर्तन हो सका और बोल्शेविकों का प्राधान्य हो गया।

बोल्शेविकों ने स्थायी सरकार के स्थान पर विधान-निर्माण करने वाली परिषद् बुलाई जो अन्त में भंग कर दी गयी क्योंकि इसमें बोल्शे-विक अल्पसंख्यक थे। नयी परिषद् बनी और बना नया विधान जो निम्न रूप से व्यवस्थित था।

§. [५] जो विधान बना वह साम्यवादी था। राज्य-शासन की सर्वोच्च सत्ता श्रमिकों, कृषकों तथा सैनिकों के हाथों में निहित थी।

१९१८ ई० का रूसी विधान

सभी नागरिकों के लिए यह आवश्यक समझा गया कि वे अपनी रोटी स्वयं कमावें। धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गयी। शिक्षा के लिए सभी के अधिकार बराबर थे। शोषण की नीति नष्ट कर दी गयी। सभी के अधिकार बराबर थे, न कोई छोटा न कोई बड़ा। सब नागरिकों द्वारा चुनी हुई एक कांग्रेस बनी जिसमें २५,००० व्यक्तियों पर एक व्यक्ति की प्रणाली से सदस्य रखे गए थे। इसकी एक कार्यकारिणी थी जिसमें ४०० सदस्य थे। अन्त में कार्य-कारिणी ४० व्यक्तियों (कमीसारों) की रह गयी। स्थानीय शासन-प्रबन्ध की व्यवस्था की गयी और चुनाव व्यवसायात्मक सिद्धान्त पर आधारित था। प्रत्येक व्यवसाय के सदस्य होते थे। १८ वर्ष की

अवस्था वाले मतदान कर सकते थे। न्यायकर्ता जनता द्वारा चुने जाते थे। 'दण्ड' की व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। अब बन्दियों के सुधार की व्यवस्था की गयी। जो विधान बना उसकी विशेषताएँ निम्न थीं :

(१) विधान संघीय था। केन्द्रीय शासन बलशाली था, वह संघों के अधिकारों के ऊपर था।

(२) निर्वाचन-प्रणाली व्यवसायात्मक थी।

(३) चुनाव-प्रणाली परोक्ष थी। गाँव के सदस्य या सोविएत जिलों के सोवियतों को चुनते थे और जिले के सोवियत कमिश्नरियों के। इस प्रकार गाँव की जनता का सर्वोच्च शासन-सभा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।

(४) सरकार के कार्यों का विभाजन नहीं था। यूनियन की कार्य-कारिणी के हाथ में व्यवस्थापक, शासन तथा न्याय-सम्बन्धी सभी अधिकार थे।

§. [६] सन् १६१८ वाले विधान की त्रुटियों को सन् १६३६ ई० में दूर किया गया। सन् १६३६ वाला विधान रूसी सामाजिक जीवन का सर्व प्रथम संगठन-कर्ता कहा गया है। श्रमिक-वर्ग को प्रधानता दी गयी है। सामाजिक ढाँचा वैधानिक आधार पर अवलम्बित है। शारीरिक एवं मानसिक श्रम को उच्च स्थान दिया गया है। जो व्यक्ति अपनी रोटी स्वयं नहीं कमा सकता उसे भोजन करने का अधिकार नहीं है। यह विधान एक यूनियन के संगठन का प्रतिफल है। यूनियन में रूस, यूक्रेन, आज़रबैजान आदि के जनतन्त्र मुख्य हैं। यूनियन को युद्ध-संधि करने, नये जन-तन्त्रों को सम्मिलित करने, देश-रक्षा, व्यापार आदि की व्यवस्था करने का पूर्ण अधिकार है। विधान बनाने के लिए दो सभाएँ हैं : (१) यूनियन की सोवियतों की सभा तथा (२) अधीनस्थ प्रदेशों की सोवियतों की सभा। प्रथम सभा का निर्वाचन नागरिकों द्वारा होता है। तीन लाख पीछे एक सदस्य चुना जाता है।

१६३६ ई० का रूसी विधान

प्रादेशिक सभा का निर्वाचन जनतन्त्र द्वारा होता है। प्रत्येक जनतन्त्र २५ सदस्यों को चुन कर भेजता है। ये दोनों सभायें अपने अध्यक्ष का चुनाव करती हैं। जनतन्त्रों में भी विधान बनाने वाली दो सभाएँ हैं।

मन्त्रि-मण्डल के निर्माण के लिए प्रजा के कमीसारों की एक कौंसिल होती है जिसे यू० एस० एस० आर० (U. S. S. R.) कहा जाता है। इस कौंसिल में कुल आठ सदस्य होते हैं जो एक या कई विभागों के उत्तरदायी होते हैं।

इस विधान में नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों की सुन्दर विवेचना उपस्थित की गयी है। जीविका-प्राप्ति सर्व प्रथम अधिकार है। उचित पुरस्कार पाना भी एक अधिकार है। वृद्धावस्था में भोजन एवं विश्राम पाना भी अधिकार माना जाता है। स्त्रियों को किसी प्रकार का सामाजिक अवरोध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वातन्त्र्य है। नागरिकों का कर्तव्य है कि वे विधान की रक्षा करें, सामाजिक सम्पत्ति सुरक्षित रखें तथा आवश्यकता पड़ने पर देश की रक्षा के लिए सेना में आयें। इसी विधान के अनुसार आज का रूस शासित है।

§. [७] रूस की क्रान्ति का इतिहास अपूर्ण कहा जायगा यदि हम रूस की नवीन आर्थिक नीति का अनुशीलन न करें। रूस एक साम्यवादी राष्ट्र है। रूस के किसानों को भूमि तो मिल गयी थी किन्तु वह कई भागों में बँट गयी। सरकार ने चाहा कि इन छोटे-छोटे टुकड़ों के स्थान पर लम्बे-लम्बे फार्म बनें। सन् १९२४ ई० में कृषकों से अनाज न लेकर धन लिया जाने लगा। स्वयं सरकार ने कृषकों को समझाने के लिए स्वयं फार्मिंग की। १२ करोड़ एकड़ भूमि पर उसने १५० फार्म खोले और उन्हें आधुनिक यन्त्रों की सहायता से अधिक उपजाऊ सिद्ध किया। इस प्रकार सरकार ने वैज्ञानिक ढंग से लम्बे-लम्बे फार्मों की परम्पराएँ चलायीं। जनता ने भी कालान्तर में वैसे ही प्रयोग किए।

रूस की आर्थिक योजनाएँ

व्यापार-वाणिज्य के सुधारों की ओर भी सरकार ने उचित ध्यान

दिया। उपभोक्ताओं की सहकारी समितियों का निर्माण हुआ। सरकार ने भी अपनी दूकानें खोलीं। दूकानदारों को व्यापार करने की भी सुविधाएँ दी गयीं। राज्य-बन्धन को ढीला किया गया जिससे छोटे-छोटे कारखाने भी चल सकें। बीस से कम कर्मचारियों वाले कारखानों में स्वतन्त्र उत्पादन की परिपाटी चला दी गयी। उत्पादन-शक्ति के बढ़ाव के लिए सरकारी बैंक भी स्थापित किए गए। इन उपायों से व्यापार की उन्नति हुई और उस पर जनता का अधिकार स्थापित हो गया। क्रमशः मध्यमवर्ग की उन्नति हुई जो क्रान्ति के नियमों के विरोध में पड़ती थी। किन्तु सरकार ने सहकारी समितियों को प्रोत्साहन दे इस दिशा में सुव्यवस्था की। सन् १९२८ में एक पंचवर्षीय योजना बनी जिसने आर्थिक स्थिति को आदर्श रूप देने का प्रयत्न किया। लेनिन की मृत्यु सन् १९२४ में हो गयी थी। उसके उत्तराधिकारी स्तालिन ने ही नयी-नयी योजनाएँ उपस्थित कीं।

लेनिन की महानता रूस में साम्यवाद को सक्रिय रूप देने का सारा श्रेय लेनिन को है। वह संसार का एक महान् व्यक्ति था। उसने अपने त्याग, तपस्या एवं नैतिक बल से रूस को स्वर्ग बनाने का उपक्रम किया और संसार के सम्मुख एक नयी क्रान्तिकारी योजना रखी। रूसी जनता ने उसे अपना सब से बड़ा आदमी समझा। पेट्रोगाड लेनिनग्राड हो गया। रूस ने अपने महान् नेता के शव को सुरक्षित रखा है जिसे देख कर उच्च भावनाएँ जाग्रत होती हैं। सचमुच, लेनिन महान् क्रान्तिदर्शी था और था मानव-इतिहास में एक नया युग लाने वाला। मानव उसकी जितनी ही प्रशंसा करे वह थोड़ी है।

उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी का कठिनतम प्रश्न उठा। ट्राट्स्की तथा स्तालिन दोनों इस महान् पद के लिए उत्सुक थे। ट्राट्स्की लेनिन का दायाँ हाथ था। उसने अपनी बुद्धिमत्ता, त्याग एवं तपस्या से लेनिन के मन को मोह लिया था। स्तालिन साम्यवादी दल का मन्त्री था। स्तालिन बड़ा चतुर निकला, उसने साम्यवादी दल द्वारा

अपना निर्वाचन करा लिया और ट्राट्स्की को निर्वासित कर दिया।

ट्राट्स्की

ट्राट्स्की एक महान् विचारक था। वह चाहता था कि रूस की क्रान्ति विश्व-व्यापिनी हो। उसे निकाल कर स्तालिन ने उसके समर्थकों को एक-एक करके मार डाला। यह स्तालिन के चरित्र पर ऐसा कलंक है जो धोने से नहीं मिट सकता। ट्राट्स्की मेक्सिको में मार डाला गया (१९४० ई०)। कहा जाता है कि सोलह वर्षों के उपरान्त स्तालिन ने उसे गुप्त ढङ्ग से मरवा कर शान्ति ग्रहण की। जो हो, ट्राट्स्की का अभाव विश्व को खटका। वह निस्सन्देह संसार में एक अद्भुत ज्योति था।

स्तालिन की योजनाएँ

स्तालिन ने रूस की आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए सन् १९२८ ई० में एक पंचवर्षीय योजना बनाई जिसका मुख्य उद्देश्य था औद्योगिक एवं कृषि-सम्बन्धी सुधार। मिट्टी के तेल तथा कोयले के उत्पादन को क्रमशः दुगुना तिगुना बढ़ाना था। स्तालिन ने जनता के उत्साह से इस योजना को २ वर्ष में ही पूर्ण कर लिया। सन् १९३३ ई० में दूसरी योजना बनी जिसमें उत्पादन की सुघरता एवं अच्छाई पर विशेष ध्यान दिया गया। आवागमन की सुविधाएँ प्रदान की गयीं। सन् १९३८ ई० में तीसरी योजना बनी जिसका अभिप्राय था उद्योग-धन्धों की प्रचुर उन्नति। इन्हीं योजनाओं के फलस्वरूप रूस एक धनी-मानी उन्नत राष्ट्र हो सका। इससे रूस का चारित्रिक एवं नैतिक बल इतना बढ़ा कि वह द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी ऐसे दुर्द्धर्ष शत्रु का मृत्यु-तुल्य सामना कर सका। आज रूस में स्तालिनवाद है।

रूस की विदेशी नीति

§. [८] रूस की क्रान्ति अन्त में सारे विश्व की क्रान्ति होकर ही रही। यद्यपि संसार के साम्राज्यवादी राष्ट्र उसके विरोधी हैं किन्तु यह अवश्यम्भावी है कि एक दिन सारे संसार में साम्यवाद की लहर गूँज उठेगी, क्योंकि साम्यवाद में ही मानव-जीवन के कल्याण की

निधियाँ छिपी हैं। आज तक जितने अभिशाप मानव ने एकत्र किए हैं, जो-जो कठोर सामाजिक एवं आर्थिक बन्धन उसने बनाये हैं उनसे वह पिसा जा रहा है। ऊपर से उसे राजनीतिक बन्धन जकड़ते जा रहे हैं। रूस की क्रान्ति का यही स्वर है कि विश्व में साम्यवाद का प्रचार हो। इस पर हम अन्तिम प्रकरण में विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे। रूस को जब क्रान्ति में सफलता मिली तो उसके ऊपर सारे विश्व में साम्यवाद के प्रसार का उत्तरदायित्व आ पड़ा। सन् १९१९ ई० में मास्को में एक साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ (First Communist International) की स्थापना हुई। इस संघ ने विश्व में अपना प्रचार आरम्भ किया। रूस ने आरम्भ में आर्थिक सहायता दी, किन्तु पूँजीवादी देश इस का समर्थन नहीं कर सकते थे अतः आर्थिक सहायता बन्द कर दी गयी।

रूस ने सक्रिय रूप से साम्यवादी प्रक्रियाओं को बढ़ाने का उद्योग किया। उसने विश्व की कुछ समस्याओं को अपने ढंग से सुलझाना चाहा। उसने प्रथमतः फारस में अपने विशेषाधिकारों को तथा तुर्की में अपने आर्थिक अधिकारों को तिलाञ्जलि दे दी। इन क्रियाओं से उसे स्वाभाविक सहयोग प्राप्त हुआ। बाकू में अपनी नीति से उसने स्पष्ट कर दिया कि वह पूर्वी देशों में साम्राज्यवाद को अन्त करने में सहायता देगा। रूस की नीति एक महाद्वीपीय नहीं थी। उसने देखा कि एशियाई प्रदेश यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसे हैं अतः उन्हीं को उकसाने में उसने साम्यवाद के प्रचार की योजनाएँ लगायीं। रूस ने चाहा कि उसे अन्य देशों की मान्यता भी मिले। उसने सन् १९२४ ई० में अपने को इटैली, इंगलैण्ड, जर्मनी आदि प्रमुख राष्ट्रों के सम्मुख रखा और इन उक्त राष्ट्रों को उसे मान्यता देनी ही पड़ी और वह नये रूप में स्वीकृत कर लिया गया। राष्ट्रसंघ (League of Nations) का सदस्य वह दस वर्षों के उपरान्त सन् १९३४ में हो सका और उसे संघीय कौंसिल में एक स्थानीय स्थान भी प्राप्त हो गया। किन्तु क्रमशः रूस ने विश्व की राजनीति की दृष्टि

देखी। उसे लगा इंगलैण्ड तथा फ्रांस का गठबन्धन सम्भवतः उसके पक्ष का समर्थन न करेगा। उसने जर्मनी से संधि कर ली। यह एक विचित्र बात थी और थी रूस के साम्राज्यवादी (?) मोह का संकेत। किन्तु रूस अपनी स्थिति से विवश था, उसे अपनी शक्ति की गुरुता भी स्पष्ट करनी थी क्योंकि दुर्बल रूप में वह विश्व के सामने तन कर अपनी साम्यवादी लहरों से अन्य देशों को प्रभावित नहीं कर सकता था।

§. [६] गत प्रकरणों के परिशीलन से व्यक्त हुआ होगा कि रूस की क्रान्ति फ्रांस की क्रान्ति की भाँति मानव-मन को पकड़ने वाली थी। उसमें विश्वजनीन अभिचेतनाएँ निहित थीं। उसमें जन-जन के कल्याण की भावनाएँ उर्जस्वित हो रही थीं और था उसमें एक ऐसा बल जो एक दिन मानव के सर पर चढ़ कर बोलने वाला था। अब तक विश्व में जितनी क्रान्तियाँ हुई थीं उनमें कोई-न-कोई दोष अवश्य था। या तो वे एकांगी थीं या किसी जाति-गत व्यामोह से आच्छादित थीं। अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियों से विश्व को प्रकाश अवश्य मिला किन्तु कालान्तर में वे मध्यम वर्ग को श्रेय देने वाली ठहरीं। उनसे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विषय भली भाँति समाधान को प्राप्त न हो सके। श्रमिकों एवं कृषकों के जीवन में उनसे कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। शोषित वर्ग कुचला जाता ही रहा। पूँजीपतियों का बोलबाला बढ़ता ही रहा। एक ओर दिन-रात पिसनेवाली जनता भूखों मरती थी और दूसरी ओर धनाढ्य गुलछर्रे उड़ाते ही रहे। आर्थिक विषमता ज्यों-की-त्यों बनी रही। पूँजीवाद को प्रेरणाएँ मिलती ही रहीं। रूस ने इन सभी विषमताओं की ओर मानव-मन को खींचा। आज का मानव विक्षुब्ध है। जो बुद्धिवादी व्यक्ति साम्यवाद का विरोध करता है वह या तो स्वार्थी है या रूढ़ियों को अपने श्रेय के लिए प्यार करता शान-बाद छाँटता है। आज का मानव रूस की क्रान्ति को हृदय से घृणा नहीं कर सकता। रूस ने शारीरिक श्रम को नवीन महत्ता दी है। अब

रूस की क्रान्ति की देन

तक कला, विज्ञान, धर्म, साहित्य आदि पूँजीपतियों के आश्रय में फूलते-फलते थे और उनके प्रेमी तथा उनके प्रवर्तक अपनी क्रियमाण शक्ति से उत्पन्न वस्तुओं का उपयोग इच्छानुकूल नहीं कर पाते थे। उन्हें पूँजीपतियों का मुख देखना या जोहना पड़ता था। वे शोषित होते थे। रूस की क्रान्ति ने विश्व को संदेश दिया कि इस प्रकार के आर्थिक एवं राजनीतिक बन्धन मानव को पंगु करने वाले हैं। वास्तव में, राज्य उसी का है जो उत्पादन में लगा हो, धन उसी का है जो उनके लिए प्रयत्न करता है। सामाजिक बन्धनों को साम्यवाद ने गहरी चोटें दी हैं। आज जहाँ साम्यवाद नहीं है वहाँ पर श्रमिकों के बच्चे दूध के लिए तड़पते हैं, उनकी स्त्रियाँ पेट पालने के लिए व्यभिचार करती हैं। पूंजीवादी देश में शिक्षा, स्वास्थ्य, व्यवसाय के लिए विशेष अधिकार नहीं मिलते क्योंकि उनकी उन्नति से शोषित वर्ग जाग जाता है। आज भारत में कुछ लोग साम्यवाद का विरोध इसी लिए करते हैं कि वे अब पूजे नहीं जायेंगे क्योंकि एक साधारण चमार ब्राह्मण के सामने खाट पर बैठा रह जायगा, धार्मिक एवं सामाजिक स्थितियों में सब बराबर रहेंगे और उनके रोमाण्टिक जीवन का अन्त हो जायगा। साम्यवाद, वास्तव में, इन सभी विषमताओं को समूल नष्ट कर देना चाहता है।

किन्तु रूस में सभी बातें अभी साम्यवादी आदर्शों को छू नहीं सकी हैं। व्यक्तिवाद का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि व्यक्ति समाज के लिए है, राज्य के लिए है और है साम्यवादी प्रचार के लिए। रूसी साम्यवाद अभी प्रयोगों की सीढ़ियों पर चढ़ रहा है। अभी व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देना भय से खाली नहीं है, क्योंकि पूँजीवादी प्रकृति वाले अवसर की खोज में सतर्क रहा करते हैं अतः इसी से रूस में अभी बहुत-से वैधानिक बन्धन हैं। रूस में निजी सम्पत्ति का मोह टूट चुका है, क्योंकि जीवन की विषमताओं का उद्भव इसी से होता है। आज भारत में सभी व्यक्ति शिक्षा नहीं पा सकते, क्योंकि सब के पास वैसे साधन नहीं हैं। किन्तु रूस का प्रबल सिद्धान्त आगे है, और साम्य-

वादी लहरों से शोषित व्यक्ति प्रेरित हो रहे हैं। भारतीय सरकार शताब्दियों की परतन्त्रता के अंग को क्रमशः मिटा रही है, उसे रूस की सारी बातें श्रेयस्कर नहीं जँचतीं। ठीक भी है, भारत की संस्कृति बड़ी पुरानी है, रूस को इस प्राचीनता से मोह नहीं है, अतः विचारक सोचते हैं कि भारतीय साम्यवाद गांधीवाद का रूप पकड़े जिससे मानवता भौतिकता के चक्र से बाहर हो आध्यात्मिकता के साथ विकसे, क्योंकि भौतिकता से जीवन के मूल्यों का उन्नयन भली भाँति नहीं हो सकता। गांधीवाद में साम्यवाद की सभी बातें समा जाती हैं, किन्तु मानव अपनी पूर्णता के लिए शीघ्रगामी होता है। डर है, मानव गांधीवाद भूल न बैठे और साम्यवादी लहरों के चपेट में अपने को भूल न बैठे, क्योंकि रूसी साम्यवाद विश्व के समक्ष गांधीवाद को छोड़ कर अब तक जितने प्रयत्न हुए हैं उन में सबसे श्रेष्ठ है। कार्ल मार्क्स का यह सिद्धान्त आज रूसी क्रान्ति के उपरान्त सभी विचारकों के मन में बैठा हुआ है। यही है रूसी क्रान्ति की विश्व को देन। रूस आज विश्व के समक्ष एक सफल उदाहरण के रूप में खड़ा है अपनी साधु एवं असाधु प्रवृत्तियों के साथ। आज के विश्व को उस पर गर्व है।

अठारहवाँ अध्याय

एशिया में जागरण [Awakening in Asia]

§. [१] उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दियों में एशिया बाह्य भार-बन्धनों से जकड़ एवं कसमसा उठा। क्रमशः यूरोपीय जातियों ने एशियाई जातियों पर अपना व्यावसायिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व जमा लिया था। इस विषय में हमने पूर्व अध्यायों में बहुत कुछ पढ़ लिया है। चीन तथा जापान में जागरण हुआ। एक ओर यूरोपीय साम्राज्यवाद एशियाई देशों का रक्त-शोषण कर रहा था, दूसरी ओर एशिया की प्राचीन संस्कृतियाँ जगने लगी थीं। जब जापान ने रूस को बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के आरम्भ में (१९०४ई०) परास्त किया तो एशिया ने अपनी शक्ति को कूता। औद्योगिक क्रान्ति तथा उसके फलस्वरूप साम्राज्यवादी प्रेरणाओं से यूरोप बलशाली तो हो गया और एशिया पर उसका राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया किन्तु एशिया को इन कारणों से परोक्ष रूप में लाभ ही हुआ। यूरोपीय राष्ट्रीयता के उद्भव से एशियाई देशों में भी स्वाधीनता की लहरें उठने लगीं। देश-देश में स्वाधीनता-संग्राम छिड़े, सहस्रों देश-प्रेमी आत्म-बलिदान के लिए प्रेरित हो उठे। संस्कृतियों के उत्थान एवं रूढ़ियों को दूर कर देने की चेतनाओं से देश-देश में अन्तः विद्रोह की चिनगारियाँ फूटने लगीं। इस अध्याय में हम उसी एशियाई जागरण का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

पूर्वाभास

§. [२] भारतवर्ष प्रथम एशियाई देश था जिस पर यूरोपीय साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियाँ उन्मीलित होने लगी थीं। मुगल साम्राज्य के अधःपतन के काल में पोर्तुगाल, हालैण्ड के लोगों की जिह्वा पर पानी आने लगा और ये देश एशिया के प्रमुख राष्ट्र भारत पर अधिकार

पराधीन भारत में क्रान्ति की लहरें

करने के लिए पारस्परिक संघर्षों में जूझने लगे। इन संघर्षों में इंगलैण्ड विजयी होता गया। यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध ने इंगलैण्ड को बल दिया। यद्यपि इंगलैण्ड के हाथ से अमेरिका के उपनिवेश नष्ट हो गए, किन्तु भारत पर उसका अधिकार हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रयत्नों से अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। अर्काट, प्लासी तथा बक्सर की लड़ाइयों में क्लाइव ने १८ वीं शताब्दी में अंग्रेजों के पैरों को जमा दिया और कालान्तर में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दो चरणों में वेलेज़ली तथा डलहौजी ने उसके अपूर्ण कार्य को पूर्ण किया। मराठों को अंग्रेजों ने परास्त किया (१८१८) और यह मराठा-पराजय नैपोलियन की पराजय (१८१५) की द्योतक थी, क्योंकि नैपोलियन की पराजय से जिस प्रकार यूरोपीय साम्राज्यवादी लहर में अंग्रेजों का गौरव बढ़ा उसी प्रकार मुग़ल साम्राज्य के उत्तराधिकारी-स्वरूप मराठों की पराजय से अंग्रेजों का पैर भारत में जम गया। सन् १८५७ ई० में भारतीय 'पुरानी कसक' उभरी अवश्य किन्तु वह प्रथम स्वाधीनता के संग्राम का परिचायक होकर रह गयी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य सम्पूर्णतः ब्रिटिश राज्य हो गया। जिन दिनों भारत में ये घटनाएँ घट रही थीं, यूरोप में राष्ट्रीयता तथा प्रजातन्त्रीयता की भावनाएँ उमड़-घुमड़ रही थीं, क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में युगान्तरकारी परिवर्तन ला दिये थे और कृषि, उद्योग एवं व्यापार के उद्बोधनों ने प्रजातांत्रिक एवं राष्ट्रीयता (Democratic & Nationalist) के प्रसार की सीमाएँ बढ़ गयी थीं। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य जम गया। हमने देख लिया है कि किस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न ब्रिटिश समस्याओं का समाधान भारत में हो रहा था। भारत अन्त में ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे प्रमुख केन्द्र हो गया।

भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व तो हो गया किन्तु भारत को जगाने के लिए उपकरण भी उत्पन्न होने लगे। प्रथमतः स्वयं अंग्रेज़ी शासन ने ही ऐसा किया। साम्राज्यवादी, अनुदार एवं दकियानूसी

वालों को बहुत दिनों तक श्रेय नहीं प्राप्त हो सकता था। क्रमशः रेग्यूलेटिंग ऐक्ट (१७६३), रानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र (१८५८), सुधार (१८३३) आदि अन्त में स्वाधीनता के लिए भारतीयों को उकसाने में समर्थ हुए। अंग्रेजी राज्य में पोषित भारतीय क्रमशः बर्क, ब्राइट, मैज़िनी ऐसे विचारकों एवं राष्ट्रवादियों की भावनाओं से प्रेरित भी होने लगे। भारत में पुनर्जन्म की लहरें बढ़ने लगीं। प्रस्तुत लेखक के विचार से उन्नीसवीं शताब्दी भारत के अर्वाचीन इतिहास का स्वर्ण-युग है। इसी शताब्दी में शताब्दियों से सोया बूढ़ा भारत जगा। इसी शताब्दी में उसने अपना प्राचीन गौरव पहचाना। सांस्कृतिक चेतनाओं ने भारतीयों में एक नयी लहर उत्पन्न कर दी। राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) ने अपने क्रान्तिकारी सामाजिक प्रयत्नों से बंगाल को एक नयी दिशा दी। वे भारतीय पुनर्जन्म (Renaissance) के रूसो (Rousseau) कहे जा सकते हैं। उन्होंने "ब्रह्मो समाज" की स्थापना करके देश में नये ढंग से सोचने की प्रणाली स्थापित कर दी। भारत में जब बाम्बे, मद्रास तथा कलकत्ता के विश्व-विद्यालय खुले तो पाश्चात्य शिक्षा से भारतीयों ने अपने को भी पहचानने की शक्ति पायी। सन् १८५७ के युद्ध ने तो भारतीयों में एक नयी आग फूँक दी। जिस प्रकार बैस्टील (Bastille) के बन्दी-गृह के अधःपतन से फ्रांस तथा उसके उपरान्त यूरोप भर में जागरण की एक नयी लहर उत्पन्न हो गयी थी, उसी प्रकार सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम ने भारतीयों को हिला दिया। राजा राममोहन राय के उपरान्त बड़े-बड़े सुधारकों ने भारतीयता को जगाया। देवेन्द्र नाथ टैगोर (कवीन्द्र रवीन्द्र के पिता), केशवचन्द्र सेन, आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-८३), महादेव गोविन्द रानाडे (१८४२-१९००) आदि ने अपने प्रयत्नों से भारत में एक नयी लहर उत्पन्न कर दी। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयता के सन्देश को यूरोप एवं अमेरिका में भी प्रसारित किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी भारतीयता के उत्थान में एक विशिष्ट महत्ता

रखती है । भारतीयों ने अपना साहित्य पढ़ा, अपनी संस्कृति पहचानी, अपना गौरव जाना, अपनी शक्ति जानी और देखा कि वे किस प्रकार पराधीन हैं ।

भारतीय आर्थिक स्थिति बड़ी भयंकर थी । शासकों ने भारत को खूब लूटा । उसके उद्योग-धंधे नष्ट किए गए, क्योंकि औद्योगिक इंगलैण्ड की उन्नति भारतीय उद्योग के विनाश पर ही स्थिर रह सकती थी । सन् १८७६–७७ तथा १८९६–९९ के अकालों ने भारत को सोख लिया । चारों ओर से विद्रोही स्वर फूटने लगे । शासकों ने वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट (१८७८) की घोषणा करके विचार-स्वातन्त्र्य छीन लिया । लार्ड रिपन ने अपनी उदार नीति से जले घावों को शीतल करना चाहा, किन्तु उस उदार शासक की नीति अंग्रेजों को प्रिय नहीं थी । उसने प्रेस ऐक्ट को भंग किया (१८८१) और स्थानीय स्वराज्य की स्थापना की । इलबर्ट बिल भी राष्ट्रीयता के उत्थान में एक तीक्ष्ण ज्योति होकर आयी । न्याय के क्षेत्र में दो आखें थीं, रंग-विक्षेप था । शासकों ने शासितों को सर्व प्रकार से अपने दर्प का भाजन बनाना चाहा । इन्हीं परिस्थितियों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ (१८८५) जो एक दिन भारत में स्वाधीनता लाने का प्रमुख अस्त्र बन गयी ।

भारत जाग पड़ा । एशिया जाग पड़ा । उधर जापान ने रूस को पराजित किया । इधर बंगाल के विभाजन को लेकर विद्रोह हुआ (१९०५) । जापान की विजय तथा बंगाल-विभाजन से देश में राष्ट्रीयता की उद्दाम लहरें फूट पड़ीं और राष्ट्रीय कांग्रेस के सदस्यों में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए नये जोश उभरने लगे । कांग्रेस में दो दल उत्पन्न हो गए जो १९०६ से १९१६ तक अपने ढंग से चलते रहे, किन्तु लखनऊ के अधिवेशन में दोनों मिल गए । अंग्रेजों ने "बाँटो और राज्य करो" (Divide & Rule) की नीति चलाई थी । मुसलमानों को पृथक् करके हिन्दुओं से लोहा लेने को उन्होंने उकसाया था । किन्तु १९१६ में मुस्लिम लीग भी कांग्रेस के प्रस्तावों के निकट

आ गयी। सन् १६०६ के मिण्टो-मार्ले-सुधार से सन्तोष नहीं हो सका था और न बंगाल के एकीकरण (१६११) एवं राजा-रानी के आगमन से किसी प्रकार की शान्ति स्थापित हो सकी। भारत ने प्रथम विश्व-युद्ध में तन-मन-धन से अंग्रेजों की सहायता की, क्योंकि उसे विश्वास था कि उसे युद्ध के उपरान्त पर्याप्त सुविधाएँ मिलेंगी। किन्तु आशाएँ कुचली गयीं, भारतीयों को विश्वास हो गया कि बाह्य शासकों से उन्हें कुछ नहीं प्राप्त हो सकता। कांग्रेस के उदारवादी सदस्य भी अब विक्षुब्ध हो उठे। महात्मा गांधी ऐसे विश्व-विश्रुत महामानव का अभ्युदय हुआ जिन्होंने कांग्रेस को क्रान्ति दी और देश में नयी जाग्रति की उत्ताल तरंगें लहरा दीं। उस क्रान्तिदर्शी दार्शनिक राजनीतिज्ञ ने अहिंसा के अस्त्र से ब्रिटिश राज्य को हिला दिया। महात्मा गांधी ने अपने सत्य एवं अहिंसा के प्रयोगों को अफ्रीका में साधा था, वहाँ के भारतीयों में आत्म-सम्मान की लौ जला दी थी। उन्होंने भारत में भी आन्दोलन चलाये। सन् १६२१ का असहयोग आन्दोलन (Non-Co-operation Movement) सन् १६३१ के सिविल डिसओबीडिएंस (Civil Disobedience Movement) में परिणत हो गया। चारों ओर राष्ट्रीयता की पुकारें गूँजने लगीं, जन-जन का मन डोल उठा। विदेशियों के प्रति किसी का राजनीतिक मोह न रहा। मौंटेग्यू-चेम्सफोर्ड के सुधारों (१६१६) से ही जो असन्तोष हुआ उसकी परिणति इस प्रकार होती चली गयी। अब औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग पूर्ण स्वराज्य में परिणत हो गयी। सन् १६३५ ई० में नया विधान बना जिसके फलस्वरूप भारतीय प्रान्तों में सीमित स्वराज्य मिला। किन्तु अब भी केन्द्रीय शासन अंग्रेजी नीति पर ही अवलम्बित रहा। अब द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया। जर्मनी एवं जापान की दहाड़ें अंग्रेजों के कानों के पर्दों को फाड़ने लगीं। सन् १६४२ में अंग्रेजों की स्थिति डाँवाडोल हो गयी। यद्यपि भारतीय नेता जेलों में बन्द थे किन्तु राष्ट्रीयता-संग्राम चलता रहा। अंग्रेजों ने भारत को मुक्त कर देने में ही अपनी मुक्ति समझी।

१५ अगस्त १९४७ को भारत पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हो गया और यह सब अन्त में इस प्रकार हुआ कि अंग्रेजों एवं भारतीयों के बीच सच्ची मित्रता स्थापित हो गयी। ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री एटली तथा स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल माउण्ट बेटन भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास में अमर रहेंगे। किन्तु एक प्रलयंकारी दाग लग गया : भारत के दो टुकड़े हो गए। भारतीय हृदय भारत एवं पाकिस्तान में बँट गया। यह था परिणाम उस भयंकर नीति का जिसका पालन-पोषण अंग्रेजों ने ही किया था। मुसलमानों को शह दी गयी थी, मुसलिम लीग को प्रोत्साहन मिला था और कालान्तर में मिस्टर जिना की अनुदार नीति से भारत दो भागों में बँट गया। जन-संख्या के आवर्तन-परिवर्तन में लाखों मुसलमानों एवं हिन्दुओं के प्राण गए और वे जीवित बिना घर द्वार के हो गए! यह है कलंक मानवता पर। यों तो भारत एवं पाकिस्तान आज स्वतन्त्र हैं किन्तु उनकी आत्माएँ कराह रही हैं। भारत में पं० नेहरू एवं पटेल की क्रियमाण शक्ति से विभिन्न रियासतों का एकीकरण हो गया किन्तु काश्मीर की समस्या को जन्म मिला। पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण किया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र-मण्डल में मुकद्दमा चलाया, किन्तु अभी समाधान नहीं हो सका है। आज भारत का भविष्य उज्ज्वल है। संसार के राजनीतिज्ञों का कहना है, भारत एक दिन विश्व का अग्रदूत होगा। यों तो भारत के एक हिन्दू ने अपने राष्ट्र-पिता महात्मा गान्धी को मार डाला क्योंकि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता की नीति के प्राण थे, किन्तु महात्मा गाँधी अमर हैं और अमर हैं उनके सिद्धान्त जिनके पालन में ही विश्व की मुक्ति है। एक दिन सारे विश्व को उनके सिद्धान्तों की पूजा करनी ही होगी, क्योंकि आज की जितनी समस्याएँ हैं वे कालान्तर में महात्मा गान्धी के चलाए हुए मार्गों पर चलने से ही समाधान को प्राप्त हो सकती हैं।

.६. [२] अंग्रेजों और रूसियों की आँखों के बीच में अफगानिस्तान की स्थिति विचित्र थी। वह दुर्व्यवस्थाओं के बीच पड़ा हुआ था। उसमें

राजनीतिक शून्यता विराजमान थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अब्दुर्रहमान नामक अमीर ने अफ़ग़ानिस्तान को संगठित करना चाहा। इङ्गलैण्ड एवं रूस के विपक्षी दबाव के कारण उसने देश का राष्ट्रीयकरण किया और सेना संगठित की। उसके पश्चात् हबीबुल्ला ने सैनिक शिक्षा अनिवार्य करके देश को राष्ट्रीय बल दिया। हबीबुल्ला के पश्चात् अमानुल्ला अमीर बने जिन्होंने अफ़ग़ानिस्तान की राजनीति को नयी गति दी। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अनुकूल थी। रूस एशियाई देशों से मित्रता का इच्छुक था। अमानुल्ला ने अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अवलम्बन लिया। उन्होंने फारस, रूस, फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड में अपने दूत भेजे और स्वयं महामहिम (His Majesty) की उपाधि धारण की। वे सुधारवादी थे। उन्होंने देश की राष्ट्रीयता के सर्वोच्च उत्थान के लिए सामाजिक सुधार करना चाहा, किन्तु दुर्भाग्यवश राजनीतिक स्थितियों के परिवर्तन एवं प्रतिक्रियावादी प्रक्रियाओं के जागरण से उन्हें सफलता नहीं मिली। गृह-कलह आरम्भ हो गया और उन्हें राज्य-सिंहासन छोड़ना पड़ा। अमानुल्ला तो देश के बाहर चले गए किन्तु विरोधियों में पर्याप्त संघर्ष हुआ। बच्च-ए-सक्का ने सेना का नेतृत्व तो अवश्य किया किन्तु नादिर खाँ ने उसे अन्त में परास्त करके अमीर पद धारण कर लिया। नादिर खाँ की हत्या सन् १९३३ ई० में हो गयी और जमान शाह अमीर बना। यह है कुछ ही वर्षों के भीतर अफ़ग़ानिस्तान की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय। वर्तमान अफ़ग़ानिस्तान के इतिहास में अमानुल्ला का नाम अमर है। हम थोड़े ही में उनके सुधारों का वर्णन उपस्थित करते हैं।

अफ़ग़ानिस्तान का जागरण

अमानुल्ला में आधुनिकता का रक्त प्रवाहित हो रहा था। वे चाहते थे कि रूढ़ियों एवं मुसलमानी परम्पराओं में जकड़ा अफ़ग़ानिस्तान आधुनिक हो उठे। उन्होंने यूरोपीय सभ्यता को मान्यता दे कर देश में सुधार करना चाहा। उन्होंने जर्मनी तथा तुर्की की प्रणाली के आधार

पर सैनिक संगठन किया और सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी। उन्होंने इस प्रकार की शिक्षा के लिए कालेज भी खोले। अफ़ग़ानिस्तान में रूस, टर्की तथा जर्मनी से शिक्षक भी आये। वायु-सेना भी संगठित की गयी। उन्होंने जब सामाजिक सुधारों की ओर अपनी दृष्टि फेरी तो प्रतिक्रियावादियों ने घोर विरोध किया। इन विरोधियों को अंग्रेज बढ़ाने लगे, क्योंकि वे कब चाहते कि भारत का पड़ोसी देश सभ्यता के रंग में रंगे जायँ। अमानुल्ला ने अंग्रेजी नीति समझ भी ली, इसीसे प्रेरित होकर उन्होंने अंग्रेजों से सन्धि न करके रूस से सन्धि करना अफ़ग़ानिस्तान के लिए उपादेय माना। वास्तव में, अमानुल्ला की नीति एशियाई थी, वे यह नहीं चाहते कि अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेजों का समर्थन करे। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनकी आधुनिकता उनका शत्रु हो गयी। मुल्ला-मौलवियों ने उनके सामाजिक सुधारों का प्रबल विरोध किया और उन्हें विवश हो अफ़ग़ानिस्तान छोड़ना पड़ा। यद्यपि वे सफल नहीं हुए किन्तु उनकी नीति से अफ़ग़ानिस्तान का कायाकल्प हो गया। उनकी ही कृपा से अफ़ग़ानिस्तान में राष्ट्रीयता का उद्‌भव हुआ। आज अफ़ग़ानिस्तान तथा भारत में मैत्री है और दोनों देशों में विद्यार्थियों एवं अध्यापकों का आदान-प्रदान हो रहा। आज अफ़ग़ानिस्तान की नीति स्वतन्त्र है। एक समय अफ़ग़ानिस्तान भारत का ही एक अङ्ग था और वहाँ भारतीय संस्कृति का ही प्रचार था। आशा है, भविष्य में भारत एवं अफ़ग़ानिस्तान में पुनः एकसूत्रता स्थापित हो जायेगी। किन्तु पाकिस्तान इसे नहीं चाहता। वह मुसलमानी राज्यों को एक सूत्र में जोड़ना चाहता है जो आज के युग में हास्यास्पद है। अफ़ग़ानिस्तान के नवयुवक तथा राष्ट्र-प्रेमी पाकिस्तानी चाल से अवगत हैं तभी पाकिस्तान को सफलता नहीं मिल पा रही है। भारत अफ़ग़ानिस्तान की मैत्री को दृढ़ करना चाहता है।

§. [४] ईरान (फारस) का इतिहास अति प्राचीन है। हमने इसके आदिकालीन इतिहास पर यथास्थान प्रकाश डाल दिया है।

भारत से ईरान का बहुत पुराना सम्बन्ध रहा है। प्रसिद्ध आक्रमणकारी नादिर शाह एवं अहमद शाह अब्दाली ईरान के ही बादशाह थे। धीरे-धीरे ईरानी शाहंशाही अधःपतित होती गयी और उन्नीसवीं शताब्दी के आगमन के साथ उसका प्राचीन गौरव समाप्त हो गया, क्योंकि रूसी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों ने उसे आवृत कर रखा। हमने देख लिया है कि किस प्रकार रूस और ब्रिटेन ने उसका बटवारा कर दिया और क्रम से उसके उत्तरी और दक्षिणी भागों पर उनके अधिकार हो गए। "अब बेचारा दो पाटों के बीच में" बुरी तरह पिस रहा था। किन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। ईरानी क्रान्ति ने भी ऐतिहासिक महत्व पाया। राष्ट्रीयता का उद्भव हुआ और उसके फलस्वरूप शाह सिंहासनाच्युत हो गया। किन्तु रूस तथा ब्रिटेन की चालों ने ईरान की आर्थिक स्थिति को सुधरने नहीं दिया और वह सन् १६१२ ई० में अंग्रेजी-रूसी सन्धि को मानने पर विवश किया गया। इस प्रकार १६१७ ई० तक वह दोनों साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का शिकार बना रहा। सन् १६१७ में रूस अपनी क्रान्ति में लग गया और इङ्गलैण्ड का प्रभुत्व सन् १६१६ तक स्थापित रहा। सन् १६२१ में रूसी क्रान्ति से प्रेरित हो रजा खाँ नामक एक सैनिक ने तेहरान पर आक्रमण करके तथा शाह को विवश करके प्रधान सेनापति का पद ग्रहण कर लिया। उसकी शक्ति ऐन्द्रजालिक सिद्ध हुई। सन् १६२३ में वह प्रधान मन्त्री बना तथा सन् १६२५ में उसने शाह की उपाधि धारण कर ली। रजा खाँ ने अपने पद को भली भाँति सुशोभित किया। उसने शान्ति स्थापित की। क्रमशः उसके प्रयत्नों से सामन्तों का नाश हुआ और अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। इस प्रकार ईरान की सत्ता अपने हाथ में आ गयी। आज ईरान अपनी स्वतन्त्र अभिलाषाओं को लेकर आगे बढ़ रहा है। इसके आधुनिक राष्ट्र-विधायक हैं डा० मुसद्दिक़।

ईरान का जागरण

रजा खाँ के राष्ट्रवादी प्रयत्न

किन्तु ईरानियों की आरम्भिक कठिनाइयाँ कई प्रकार की थीं। वह आर्थिक रूप से इङ्गलैण्ड के अधिकार में था। ईरानी मिट्टी के तेल के कारखानों तथा रेलवे लाइनों पर अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित था। रजा खाँ ने बड़ी चतुराई से ईरान को इन पंजों से छुड़ाया। ईरान को खाद्यान्नों के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता था, उसके पास वस्त्र का भी अभाव था। यों तो मिट्टी के तेल, कालीन तथा अफीम के लिए उसका व्यापार बढ़ा-चढ़ा था, किन्तु परमुखापेक्षी होने के कारण उसकी आर्थिक स्थिति डाँवाडोल थी। ईरान ने विदेशी सहायता से क्रमशः अपनी आर्थिक स्थिति को सँभाला। सन् १६३५ ई० में उसने फारस के स्थान पर अपना आधुनिक नाम ईरान रखा। ईरान की उन्नति में रजा खाँ की नीति का उतना ही हाथ है जितना टर्की (तुर्की) में कमाल पाशा का। दोनों अधिनायकों ने अपने देशों में अपने ढङ्ग से उन्नति के साधन एकत्र किए हैं। टर्की तथा ईरान की समस्याएँ समान थीं किन्तु दोनों के समाधान में दो विभिन्न व्यक्तित्वों का हाथ है। रजा खाँ कमाल पाशा से अधिक उदार एवं सहानुभूतिमय सिद्ध हुआ है। जहाँ टर्की में कमाल पाशा ने राष्ट्रीयता को ही प्रधानता दी वहाँ ईरान में रजा खाँ ने उसके प्राचीन गौरव को सर्वोच्च समझा।

§. [५] टर्की के इतिहास पर हमने बहुत पहले ही प्रकाश डाल दिया है क्योंकि वह एक तरह से यूरोपीय राष्ट्र भी है। किन्तु एशियाई प्रदेशों के समकक्ष में भी वह आ जाता है। उसकी संस्कृति मध्य एशिया से मिलती-जुलती है; वहाँ पर उस्मानी तुर्कों का प्राबल्य था और उसी कारण एक समय में तुर्कों ने सारे यूरोप को हिला दिया। हमने पढ़ लिया है कि किस प्रकार टर्की का क्रमशः बँटवारा होता चला। सन् १६१४ ई० में कुस्तुन्तुनिया को छोड़ कर टर्की के पास कुछ भी अवशेष न रहा। जर्मनी, रूस आदि देशों ने बूढ़े टर्की को अपनी ओर मिलाने में भरपूर प्रयत्न किया। जर्मनी तो उसकी सहायता से बर्लिन और बगदाद को रेलवे द्वारा एक करना चाहता था, किन्तु अंग्रेजों तथा फ्रांस के

टर्की का जागरण

विरोध से वह ऐसा कर न सका। क्रमशः टर्की के जागरण का काल आया। वहाँ के तरुण देश-प्रेमी राष्ट्रीयता की अग्नि से जलने लगे। उन्होंने एक दल स्थापित करके टर्की में प्रजातान्त्रिक राज्य स्थापित करना चाहा और सुलतान अब्दुल हमीद के समक्ष ऐसा प्रस्ताव रखा। प्रस्ताव स्वीकृत हुआ और टर्की में प्रजातन्त्र स्थापित हो गया। इसी समय प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया जिसमें टर्की ने जर्मनी को सहायता दी। किन्तु जर्मनी की पराजय हुई। अब टर्की के सामने जीवन-मरण का प्रश्न था। ऐसी स्थिति में टर्की को किसी महान् व्यक्ति की आवश्यकता थी। समय की माँग ने ग़ाज़ी मुस्तफा कमाल पाशा को जन्म दिया जिसने टर्की के राष्ट्रवाद की रक्षा की।

मुस्तफा कमाल पाशा बड़ा मेधावी व्यक्ति था। गणित में प्रवीण होने के कारण ही उसे 'कमाल' की उपाधि मिली थी। विद्याध्ययन के उपरान्त वह सैनिक हो गया। वह शीघ्र ही

मुस्तफा कमाल पाशा क्रान्ति की लहरों से उद्वेलित हो उठा। प्रथम तो उसे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु अन्त में १९०८ ई० में उसकी मनचाही क्रान्ति की विजय हुई और अब्दुल मजीद को एक नया विधान मानना पड़ा। विश्व-युद्ध में टर्की हार गया था। अतः उसे सेवरे के सन्धि-पत्र के अनुसार अपमानजनक शर्तें स्वीकार करने को विवश किया गया। कमाल पाशा अग्नि में जलने-सा लगा। उसने शीघ्र ही एक राष्ट्रीय दल बनाया जिसके सहयोग से उसने उद्घोष किया कि टर्की स्वतन्त्र है और वह किसी राष्ट्र से कम नहीं है। इंगलैण्ड ने इस उद्घोष का विरोध किया। शीघ्र ही एक अंग्रेजी सेनानायक ने कुस्तुन्तुनिया में पहुँच कर टर्की में फौजी शासन का निर्माण कर दिया। दूसरी ओर राष्ट्रवादियों ने अपनी सरकार बना ली और एक नये विधान को जन्म दिया। अन्त में सन् १९२३ ई० में राष्ट्रवादियों के प्रयत्न से जनतन्त्र की स्थापना हुई और गाज़ी मुस्तफा कमाल पाशा प्रथम राष्ट्रपति हुए। इसके उपरान्त कमाल पाशा ने टर्की को एक नए राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर दिया।

कमालपाशा टर्की के स्वर्ण-द्वार का खोलने वाला कहा जाता है। उसने सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं को नया आवरण दिया। वह अधिनायक-सा कार्य करने लगा। उसे ऐतिहासिकों ने तानाशाह की उपाधि से विभूषित किया है, क्योंकि उसने सारे चुनावों को अपने हाथ में कर लिया था और जो चाहता था कर डालता था। उसने क्रमशः टर्की से सभी विरोधी दलों को नष्ट कर दिया। विश्व-युद्ध के उपरान्त जो 'खिलाफत' का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था और जिसमें विश्व के मुसलमानों ने एक स्वर से भाग लिया था उसका आरम्भ सन् १६१६ में टर्की के प्रश्न को लेकर ही हुआ था। वास्तव में, टर्की का सुलतान इस्लामी जगत् का नेता माना जाता था और उसकी खिलाफत "खिलाफत" (खलीफा के पुरुत्व) की खिलाफत थी। किन्तु टर्की की स्थिति ही दूसरी हो गयी थी; वहाँ जनतन्त्र की स्थापना हो चुकी थी और उसमें 'खिलाफत' का अस्तित्व ही नहीं था। राष्ट्रीय असेम्बली ने १६२४ ई० में खिलाफत का अन्त कर दिया। धार्मिक विषयों में सभी के अधिकार समान कर दिये गए। अब धर्म का सम्बन्ध राजनीति से हट गया। स्त्रियों को समानाधिकार दिए गए। बाल-विवाह की प्रथा हटा दी गयी। पर्दा तथा बुर्का की प्रणाली आवश्यक नहीं समझी गयी। अब उस पर धार्मिक रंग का चोगा न रहा। स्त्री-शिक्षा के प्रचार से स्त्रियाँ राजनीतिक विषयों में पुरुषों के समकक्ष आ गयीं। कमाल पाशा ने 'हदीस' एवं 'शरियत' के कानूनों के स्थान पर दीवानी, फौजदारी तथा सामाजिक नियम बनाए और उन्हें पार्लियामेण्ट द्वारा विधान की मुहर दे दी। इस प्रकार टर्की पूर्णरूपेण आधुनिक राष्ट्र बन गया। सन् १६३८ में कमाल पाशा की मृत्यु हो गयी। कमाल पाशा विश्व के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है। वह आधुनिक टर्की का जन्मदाता है। उसके उपरान्त इनान राष्ट्रपति हुए, जो १६४३ तक जीवित रहे। उन्होंने भी टर्की के उत्थान में अपना जीवन लगा दिया।

§. [६] आधुनिक एशिया के जागरण-काल में अरबों ने भी

अपना इतिहास लिखा। जब टर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद ने अरबों को तंग किया तो उन्होंने भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किए। टर्की की राष्ट्रीयता के उद्भव से अरबों में भी चेतना जगी। अरबों का निवास कई देशों में है, यथा—फिलस्तीन, सीरिया इराक तथा अरब। इन चारों राज्यों पर विदेशियों का शासन था। चार प्रदेशों में बँटे रहने के कारण अरबों में संगठन का अभाव था। किन्तु समय ने हुसैन नामक व्यक्ति को अरबों का नेता बनाया। वह मक्का का शासक था। जब टर्की ने अरबों पर अत्याचार ढाहे तो हुसैन की आत्मा कराह उठी। उसने टर्की वालों को अपने देश अरब से निकाल बाहर करने की सोची। प्रथम महायुद्ध में अरबों ने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया और उन्हें मुक्ति के प्रतिवचन भी मिले किन्तु उन्हें अपने मुँह की खानी पड़ी। वर्साइ की सन्धि में अरबों की इच्छा पूरी न हुई। वे टर्की से मुक्ति तो पा सके किन्तु लेने के देने पड़े। उन पर विदेशियों का अधिकार हो गया। फिलस्तीन पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ और उन्होंने अपने लाभ के लिए उसे चूसा। सीरिया फ्रांस के अधिकार में चला गया और वहाँ फ्रांसीसियों ने अपने मन की की। सीरिया के सारे राजनीतिक अधिकार छीन लिए गए और उसे कई भागों में विभाजित करके मनमाना अत्याचार किए गए। अल्प-संख्यक ईसाइयों को शह दी गयी और विरोधों को दबाने के लिए दमिश्क आदि नगरों पर बमबाजी की गयी। फ्रांसीसियों ने सीरिया को कुचल डाला जिसका परिणाम भयंकर हुआ। अन्त में फ्रांस को एक नया विधान बनाना पड़ा जो अरबों के लिए असंतोषकर था। सन् १९३६ के आते-आते फ्रांस को सीरिया की स्वाधीनता मान लेनी पड़ी, किन्तु अब भी फ्रांसीसियों का बोलबाला बना रहा। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उसे कुछ विशेष अधिकार और मिले, किन्तु अब भी फ्रांसीसियों का अधिकार था ही। किसी प्रकार राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद् के उद्योग से सीरिया पूर्णरूपेण स्वाधीन हो सका और वहाँ से सारी

अरबों का जागरण

फ्रांसीसी सेनाएँ हटा ली गयीं।

फिलस्तीन की समस्या अपने ढंग की थी। यहाँ पर धार्मिक समस्याएँ बड़ी जटिल थीं। एक ओर यहाँ पर यहूदियों के पवित्र स्थान थे तो दूसरी ओर यह देश अरबों का पवित्र देश था। प्रथम विश्व-युद्ध में एक घोषणा हुई जो बालफोर-घोषणा के नाम से प्रसिद्ध है और कहा गया था कि यहूदियों को कोई स्थान दे दिया जायगा। इंगलैण्ड यहूदियों को फिलस्तीन में बसाना चाहता था। इसमें उसकी राजनीतिक चाल थी। यहूदी धनाढ्य थे। वे अपनी सम्पत्ति के बल पर फिलस्तीन का विस्तार कर सकते थे। बालफोर-घोषणा से अरबों के कान खड़े हो गए थे। वर्साई की सन्धि से फिलस्तीन अंग्रेजों के संरक्षण में दे दिया गया। यहूदियों ने, सचमुच, अपने धन से फिलस्तीन को समृद्धिशाली बनाया किन्तु अरबों के विरोध बल पकड़ते चले गए। यहूदियों ने तेल अबीब नगर बसाया और मृतक सागर से पोटाश निकाल कर व्यावसायिक केन्द्र स्थापित किए। अरबों ने किसी प्रकार के प्रतिरोध न छोड़े। उन्होंने यहूदियों की हत्याएँ कीं और श्रमिक-वर्ग को उभाड़ा। यहूदी तंग आ गए और उन्होंने फिलस्तीन छोड़ना आरम्भ कर दिया। किन्तु काल-गति तथा विदेशी चालों से यहूदियों ने फिलस्तीन में आना पुनः आरम्भ कर दिया और सन् १९३७ ई० में उनकी संख्या २८ प्रतिशत हो गयी। फिलस्तीन की समस्या विश्वजनीन हो गयी। अरबों, यहूदियों तथा अंग्रेजों ने अपनी-अपनी चालें चलीं। लार्ड पील ने, फिलस्तीन के बटवारे की बात चलाई। एक भाग में यहूदी, दूसरे भाग में अरब जिसमें ट्रांस ज्यार्डन सम्मिलित था, तथा तीसरे भाग में यरूशलम एवं बैतलहम थे। तीसरा भाग अंग्रेजों के संरक्षण में रखा गया। किन्तु यह योजना सक्रिय रूप धारण न कर सकी, क्योंकि प्रबल विरोध हुआ। अन्त में सन् १९३९ में इंगलैण्ड ने एक दूसरी योजना प्रस्तुत की किन्तु उसके पूर्व ही द्वितीय युद्ध आरम्भ हो गया और फिलस्तीन का मामला खटाई में पड़ गया। युद्ध के पश्चात् फिलस्तीन का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने चाहा कि जर्मनी से संत्रस्त

यहूदियों को फिलस्तीन में स्थान दिया जाय। अरब इसे कब स्वीकार करते ? मामला राष्ट्र-संघ में गया। राष्ट्रीय असेम्बली ने बटवारे की बात चलाई और अरबों, यहूदियों के स्वतन्त्र राज्यों के साथ यरूशलम की स्थापना की बातें हुईं। किन्तु यह बटवारा किस प्रकार हो ? यहूदी अपना राज्य स्थापित करने को तुले हुए थे। उन्होंने १४-१५ मई सन् १९४८ में अपना स्वतन्त्र राष्ट्र इज़राइल के नाम से घोषित कर लिया। अल्प-संख्यक यहूदी कटिबद्ध थे। उनके राष्ट्र-नेता बने डा० वेजमैन और प्रधान मंत्री थे डेविड बेन-गुरियाना। किन्तु अरबों ने बलपूर्वक विरोध किया। ट्रांसज्यार्डन के राजा अब्दुल्ला इब्न हुसैन, जो अरब-लीग के नेता थे तथा यरूशलम के ग्रांड मुफ्ती ने इसका घोर प्रतिरोध किया। बटवारे में भाग लेने वाले राष्ट्र-संघ के प्रतिनिधि डा० बनडोटी की हत्या कर दी गयी। अब इज़राइल राष्ट्र संघटित हो गया है और वहाँ यहूदियों का राज्य है।

ईराक में अंग्रेजों का संरक्षण था जो १९२० तक स्थापित रहा। किन्तु ईराक में इसका प्रबल विरोध होता रहा और ईराकवासियों ने बहुत-से अंग्रेजों को मार डाला। अंग्रेजों ने बड़े धैर्य से काम किया। उन्होंने एक ईराकवासी को ही वहाँ का राजा बनाया जिसका नाम था फ़ैज़ुल, किन्तु ईराकवासी सैयद तालिब को अपना राजा बनाना चाहते थे। अंग्रेजों ने बड़ी समझदारी से फ़ैज़ुल को सिंहासन दिलाया। ईराक की उन्नति होती रही। वह सन् १९३३ में राष्ट्र-संघ में आ गया। इस प्रकार ईराक में राज्य परम्परा चलती रही। फ़ैज़ुल की मृत्यु के उपरान्त ग़ाज़ी राजा हुए (१९३९) और पुनः फैजुल द्वितीय। इस प्रकार ईराक आज एक स्वतंत्र राष्ट्र है।

§. [७] अब तक हमने पश्चिमी एशिया के देशों में राष्ट्रीय जागरण की कहानी पढ़ी है। अब हम पूर्व की ओर बढ़ते हैं। हिन्द चीन, हिन्देशिया, श्याम, फिलिप्पाइन द्वीप-हिन्दचीन (वीतनाम) समूह का वर्णन करने के उपरान्त हम चीन का जागरण तथा जापान के आधुनिक इतिहास पर प्रकाश

डालेंगे। हिन्दचीन फ्रांसीसियों के अधिकार में था। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के स्वभाग्य-निर्णय वाले सिद्धान्त से हिन्दचीन भी विमोहित हो उठा। यहाँ के निवासियों ने अपने को स्वतन्त्र करना चाहा। फ्रांसीसियों ने उन्हें बलपूर्वक दबाना चाहा। हिन्दचीन में साम्यवादी प्रवृत्तियाँ बहुत पहले से कार्य-शील थीं। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उन्होंने पुनः जोर पकड़ा। अन्त में हिन्दचीनियों ने वीतनाम के नाम से अपना प्रजातंत्र राज्य बनाया जो आज पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। यहाँ पर साम्यवादी विचार-धारा का प्रकोप है। आशा की जाती है कि वीतनाम के प्रयोग अन्य पूर्वी एशिया के देशों में भी फैल जायेंगे। चीन तो साम्यवादी बन चुका है।

§. [८] इण्डोनेशिया (हिन्देशिया) हालैण्ड के अधिकार में था। जैसा भारत इंगलैंड से विस्तार में महान् था उसी प्रकार इण्डोनेशिया हालैण्ड से जन-संख्या में सात गुना तथा विस्तार में ६४ गुना बड़ा है। यह हालैण्ड का बड़ा समृद्धिशाली उपनिवेश था जिसे उसने खूब चूसा। यहाँ भी हिन्दचीन की भाँति साम्यवादी लहरों ने प्रवेश किया और राष्ट्र-प्रेमियों ने राष्ट्रीयता एवं साम्यवादी प्रवृत्तियों से प्रेरित हो विदेशी राज्य का खुलकर विरोध किया। इंगलैण्ड ने जिस प्रकार भारत को बलपूर्वक दबाना चाहा उसी प्रकार हालैण्ड ने इण्डोनेशिया को। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त इण्डोनेशिया का विरोध प्रबल हो गया। अन्त में इण्डोनेशिया का प्रश्न राष्ट्र-संघ में गया। भारत ने उसे सहायता दी। अन्त में सुरक्षा-परिषद् ने इण्डोनेशिया को स्वतंत्र घोषित किया। आज इण्डोनेशिया एक प्रबल राष्ट्र है। उसमें और भारत में मैत्री है। हाल ही में पण्डित नेहरू वहाँ गए थे। वहाँ के राष्ट्रपति भी यहाँ आ चुके हैं।

हिन्देशिया (इण्डोनेशिया) का जागरण

§. [९] यों तो श्याम सदा से स्वतन्त्र रहा है किन्तु वहाँ राजतान्त्रिक शासन था और निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता से प्रजा क्रुद्ध

उठी थी। बीसवीं शताब्दी में वहाँ प्रजातांत्रिक शासन के लिए प्रयत्न हुए। सन् १९३२ में वहाँ क्रान्ति के फलस्वरूप नियमानुमोदित शासन की स्थापना हुई। अंग्रेजों का पहले बोलबाला था किन्तु अब इस विदेशी जाति का वहाँ कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं है। अंग्रेजों के हट जाने से श्याम में उन्नति के साधन खुल गए हैं। श्याम, अन्य पूर्वी देशों के समान आरम्भ में बृहत्तर भारत का एक अंग था। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि में पहले भारतीयों ने ही अपनी संस्कृति फैलायी थी। श्याम, इण्डोनेशिया, मलाया आदि में भारतीय संस्कृति के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम से इन देशों को पर्याप्त प्रेरणाएँ मिली हैं। श्याम भारत का मित्र है और वहाँ बहुत से भारतीय बसे हुए हैं।

श्याम का जागरण

§. [१०] प्रशान्त महासागर में फिलिप्पाइन द्वीप-समूह अपनी पृथक् राजनीतिक महत्ता रखता है। आरम्भ में यह स्पेन के अधिकार में था। सन् १८९८ ई० में यह अमेरिका के अधिकार में चला गया। अमेरिकावालों की नीति आरम्भ में उदार थी, किन्तु जापान की बढ़ती से डर कर अमेरिकावालों ने फिलिप्पाइन को कस कर बाँधना चाहा। अमेरिका के लिए यह द्वीप-समूह बड़े महत्व का रहा है, क्योंकि यहाँ से वह जापान को प्रशान्त महासागर में बलशाली बनने से रोक सकता था। किन्तु बीसवीं शताब्दी में फिलिप्पाइन के लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलन किया। अमेरिका ने उस पर भरपूर अत्याचार किए। किन्तु कब तक विरोध होता? अन्त में मार्च सन् १९३४ ई० में इस द्वीप-समूह को स्वतन्त्र करना पड़ा। आज फिलिप्पाइन स्वतन्त्र तो है किन्तु अमेरिकीय प्रभाव नहीं हट सका है।

फिलिप्पाइन द्वीप-समूह का जागरण

§. [११] एशिया के देशों में चीन की अपनी विशिष्टता है। उसकी प्राचीन संस्कृति अपनी है। वह आदि काल से ही ज्यों-का-

-स्यों चला आया है। आज वहाँ पर साम्यवादी शासन है। किन्तु साम्य-वादी शासन स्थापित होने के पूर्व उसे आधुनिक शताब्दियों में विभिन्न परिस्थितियों एवं संघर्षों से गुजरना पड़ा है। आधुनिक चीन का आरम्भ सन् १९११ से होता है। उस सन् में डा० सनयात सेन के प्रयत्नों से चीन में प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। सन् १९११ से १९१६ तक चीन य्वान शीह् की तानाशाही एवं सैनिक शासन में विक्षुब्ध पड़ा रहा। य्वान शीह् की मृत्यु के उपरान्त (१९१६) भी चीन की विषमताएँ दूर न हुईं। गृह-कलह चल रहे थे, विदेशी शक्तियाँ अपना प्रभुत्व जमाना चाहती थीं, जनता अशिक्षित थी और शासन सु-व्यवस्थित नहीं था। क्रमशः ये कठिनाइयाँ दूर होती चली गयीं, क्योंकि चीन को प्रजातांत्रिक शासन मिल चुका था। उनके विद्यार्थी यूरोप से शिक्षा ग्रहण करके आने लगे थे। आरम्भ से ही चीन के सम्मुख प्रमुख कठिनाइयाँ थीं: (१) चीनी नेताओं की आपसी फूट तथा (२) विदेशियों का प्रकोप। रूस की आँख चीनी देशों पर लगी थीं। उसने मंगोलिया पर अधिकार कर लिया। इंगलैण्ड ने तिब्बत पर अपना दबदबा स्थापित कर लिया। जापान तो चीन के सभी उद्योग-धंधों पर अपनी आँख गड़ाये रहता था। इन सब बातों से चीन के राष्ट्र-प्रेमी बहुत ही क्षुब्ध थे। चीन और जापान में संघर्ष अवश्यम्भावी था।

चीनी उत्कर्ष

जिन दिनों प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था, जापान ने अपनी प्रसरण-शक्ति की नीति स्पष्ट की। उसने ब्रिटेन तथा फ्रांस से एक गुप्त संधि की और जर्मनी द्वारा अधिकृत शाण्टुंग नामक चीनी प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। चीनियों के साथ मित्र-राष्ट्रों का यह व्यवहार विश्व-इतिहास में एक कलंक है। चीन भी उनके साथ था और उसे आशा थी कि युद्धोपरान्त शाण्टुंग उसे मिल जायगा। किन्तु उसकी आशाओं पर तुषारापात हो गया। अन्त में ऊब कर चीन के बुद्धिवादियों ने जापानी माल का बहिष्कार किया। इस समस्या को हल करने के लिए वाशिंगटन में एक सभा हुई। शाण्टुंग चीनियों

को मिल गया। फ्रांस ने भी दक्षिणी चीन से अपना अधिकार हटा लिया। चीन "मुक्त द्वार" बना जहाँ सब देशों की गति हो सकती थी! अन्य राष्ट्रों ने हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया। इन सब बातों से चीन में राष्ट्रीयता की लहर उत्पन्न हो गयी। कुओमिटांग नामक एक उग्र राष्ट्रीय संघटन हुआ। सनयात सेन इसके नेता बने। डा० सनयात सेन ने चीन में प्रजातन्त्र की पूर्ण स्थापना के लिए अथक प्रयत्न किये किन्तु उनकी मृत्यु (१६२५) के उपरान्त उनके सिद्धान्त अपूर्ण रह गए। अब उनके स्थान पर चांगकाईशेक नेता बने जिन्होंने रूसी विचार-धारा का प्रबल विरोध किया। उनके प्रयत्न से सन् १६२८ ई० में राष्ट्रीय सरकार बनी जिसे सभी राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया। किन्तु देश में अशान्ति थी। उसने जर्मनी तथा अमेरिका से विशेषज्ञों को बुलाया किन्तु युद्ध-संकुल चीन उससे विशेष लाभ न उठा सका। चीन में कई अकाल पड़े जिससे देश की आर्थिक स्थिति पर गहरा धक्का पहुँचा। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन में साम्यवादी विचार-धारा का प्रकोप होने लगा। यांगसी नदी के दक्षिण में साम्यवादी सरकार स्थापित हो गयी। चारों ओर सैनिक नेताओं के विद्रोहों ने चीन को आक्रान्त कर दिया। क्रमशः उत्तर चीन में साम्यवादियों का प्रसार होता गया। चीनी पूर्वी रेलवे पर रूस का अधिकार था। कई बार युद्ध हुए जिनमें रूस की विजय रही। सन् १६२६ में अमेरिका के प्रयत्न से सन्धि हुई। किन्तु इस विपत्ति के रहते ही चीन-जापान युद्ध आरम्भ हो गया (१६३१)। इस युद्ध का वर्णन हम जापान के जागरण के साथ करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यह युद्ध सन् १६४६ तक चलता रहा। आज चीन में साम्यवाद है जिसके मूल में गृह-युद्ध है। चांगकाईशेक का दल हारता चला गया और साम्यवादी दल प्रबल पड़ता गया। आज चीन एक प्रबल राष्ट्र है यद्यपि अभी राष्ट्र-संघ में सम्मिलित नहीं किया गया है, किन्तु यह कब तक सम्भव हो सकता है? अब तो चीन की शक्ति को रोकना किसी प्रकार सम्भव नहीं दीखता। राष्ट्र-संघ को

शीघ्र से शीघ्र आधुनिक साम्यवादी चीन को स्वतन्त्र राष्ट्रों में गिन लेना चाहिए। चीन का नव्य संदेश एशियाई देशों में नवीन अभिचेतना है। चांगकाईशेक को मान्यता देना इतिहास के सत्य को ठुकराना है। किन्तु राष्ट्र-संघ में साम्राज्यवादी गुट अभी प्रबल है। देखें कब चीन को विश्व की मान्यता मिलती है। चीन भारत का मित्र है।

.§. [१२] एशिया का प्रसिद्ध साम्राज्यवादी राष्ट्र जापान अपने अभ्युत्थान एवं प्रबल राष्ट्रीयता के लिए मानव-इतिहास में अपनी पृथक् सत्ता रखता है। आधुनिक ऐतिहासिकों ने उसके इतिहास पर मोटे-मोटे ग्रन्थ लिख डाले हैं। हम इस प्रकरण में संक्षेप-पद्धति का ही सहारा लेंगे। जापान ने आधुनिक युग में जो अपूर्व उन्नति की है वह उसकी प्रबल शक्ति एवं उद्योगशीलता का परिचायक है। उसने यूरोपीय उपकरणों का भली भाँति प्रयोग किया और कालान्तर में वह एक प्रबलतम राष्ट्र बन गया। उसने सन् १८९२ ई० में कोरिया का अतिक्रमण किया और ३८,७०० चीनियों एवं कोरियावासियों को एक युद्ध में मार डाला। जापानी सेनानायक हिदेयोशी ने युद्ध-निहत व्यक्तियों के कानों को काट कर टोकियो में कानों का ढूह खड़ा कर दिया था। यह थी उसकी युद्ध-प्रणाली से उत्पन्न बर्बरता! सन् १८९४ ई० में उसने कोरिया पर पुनः आक्रमण करके लिआओ तुंग (पोर्ट आर्थर) को अधिकृत कर लिया और चीनियों से फार्मोसा एवं पेस्काडोर्स छीन लिया। किन्तु विदेशियों के हस्तक्षेप एवं विक्षेप से वह अपनी विजय से पूर्ण लाभ न उठा सका। कोरिया स्वतन्त्र बना दिया गया। रूस, जर्मनी तथा फ्रांस ने भी लाभ उठाया। रूस ने ब्लाडीवोस्टक एवं पोर्ट आर्थर तक मंचूरिया में रेलवे बना ली। फ्रांस ने वही कार्य टांगकिंग में किया और जर्मनी ने शांतुंग में रेलवे-निर्माण किया तथा खानों की सुविधाएँ प्राप्त कीं। इस प्रकार यूरोपीय गृद्धों को शुभ अवसर मिल गया शवों पर टूट पड़ने का। सन् १८९७

जापान का जागरण

जापानी उन्नयन के मूल में

ई० में दो जर्मन धार्मिक दूतों की हत्या कर दी गयी। फलतः जर्मनी ने किआओ चाऊ पर अधिकार करके अपना पोत-स्थल बना डाला। इंगलैण्ड क्यों पीछे रहता? उसने हांगकांग के आस-पास अपना आवृत बना डाला। फ्रांस ने कुआंगचाऊ में तथा यूनान में एवं रूस ने पोर्ट आर्थर तथा तैलीएन्वॉं में अपने पोतस्थल बना डाले। इसका परिणाम हुआ एक भयंकर युद्ध जो इतिहास में रूस-जापान-युद्ध (१९०४-५) के नाम से प्रसिद्ध है और जापान के अभ्युत्थान का द्योतक है। इन सब घटनाओं का चीन पर भी प्रभाव पड़ा। जापान अपनी शक्ति को आँकता बढ़ता रहा।

विश्व-इतिहास में जापान प्राचीन यूनानियों की सक्रिय शक्ति, आधुनिक रूसी क्रान्ति की प्रेरणाएँ तथा अंग्रेजी औद्योगिक उन्नति की प्रवृत्तियों को एक में मिला कर बढ़ने के लिए विख्यात है। आश्चर्य तो यह है कि जापान ने यह सब एक शताब्दी के भीतर ही कर डाला है। यहाँ पर जापान का थोड़ा पूर्व परिचय अप्रासंगिक न होगा। जापानी इतिहास को तीन प्रमुख युगों में बाँटा जाता है: (१) बौद्ध जापान (१५२२–१६०३) जिसने कोरिया तथा चीन से धार्मिक प्रेरणाएँ लीं और साहित्यिक एवं कलात्मक अभिरुचियों को सक्रिय रूप देने में समर्थ हो गया; (२) सामन्तवादी जापान (१६०३–१७६८) जो अपने में ही सीमित था और अपना दार्शनिक, कलात्मक तथा भौतिक उत्थान करता रहा तथा (३) आधुनिक जापान (१८५३ से अब तक विशेषतः १९४५ ई० तक जब कि वह द्वितीय महायुद्ध में पंगु हो गया) जिसने अपनी प्रसरण-नीति से विश्व में एक नया स्थान ग्रहण किया और यूरोपीय सिद्धान्तों पर अपना अभ्युत्थान करता विश्व की शान्ति को भंग करने में अपूर्व साहस एवं बर्बरता दिखाई। हम यहाँ पर केवल तीसरे युग का ही वर्णन संक्षिप्त करेंगे। इस युग को मेजी युग (The Meiji Era) भी कहते हैं क्योंकि मेजी तेन्नो नामक सम्राट् ने ही इस युग को

जापान के प्रसिद्ध युग

अपनी नीति से प्रधानता दी।

मेजी युग सन् १८६७ से १९१२ तक चला जाता है। इस युग में जापान ने अद्भुत उन्नति की। वह सामन्तवादी परम्परा का उत्पाटन करके आधुनिक राष्ट्र बन गया। जापान ने सैकड़ों जापानियों को यूरोप एवं अमेरिका भेजा और उन्हें यूरोपीय एवं अमेरिकीय शिक्षा में पारंगत कराया। इंगलैण्ड से विशेषज्ञ बुलाये गए जिन्होंने रेलवे, टेलीग्राफ तथा जहाजी बेड़ों का निर्माण कराया। फ्रांस से कानूनज्ञ एवं सैनिक शिक्षा के विशेषज्ञ आमन्त्रित हुए। जर्मनी से भैषज्ञ एवं चिकित्सक बुलाये गए। अमेरिका से शिक्षा-विशेषज्ञ बुलाये गए। इटैली से कलाकार बुलाये गए। अब क्या था, जापान क्रम से रेलवे, टेलीग्राफ एवं जहाजी बेड़ों के परिवर्द्धन में, कानून एवं सैनिक शिक्षण में, स्वास्थ्य-सम्बन्धी आयोजनाओं में, सार्वभौम शिक्षा में तथा वास्तु-विद्या एवं चित्र-कला आदि में पारंगत हो गया। इस प्रकार जापान का कायाकल्प हो गया। वह पूर्णरूपेण अपनी संस्कृति के साथ यूरोपीय सभ्यता में रंग गया। यह सब तो हुआ किन्तु जापान जापान ही रहा। जापानी ऐतिहासिक मिटोबे ने लिखा है कि इन प्रयत्नों के फलस्वरूप जापान में विदेशी भाषा की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खोली गयीं, प्राचीन विद्यालय बन्द कर दिये गए, नवयुवकों को सैनिक शिक्षा दी जाने लगी, चारों ओर लौह कारखाने खुल गए और चतुर्मुखी उन्नति होने लगी। जापान ने आधुनिकता के उन्नयन में अपनी प्रखर उन्नति कर ली। प्रसिद्ध लेखक एच्० जी० वेल्स ने लिखा है कि जापान अपने गुरुओं को भी मात करने लगा। यूरोपीय विकास जापान के सामने नन्हा-कुछ सा जँचने लगा। इस अलौकिक भौतिक उन्नति के परिणामस्वरूप जापान ने सन् १८९४ में कोरिया एवं चीन पर आक्रमण किया, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। जापान ने सन् १९०२ ई० में अंग्रेजों से सन्धि की। सब से बड़ी विजय तो उसकी

मेजी युग

जापान का यूरोपीयकरण

थी रूस के ऊपर (१६०४–५)। जब रूस ने पोर्ट आर्थर पर अधिकार कर लिया तो जापान को यह असह्य हो गया। जापानी समुद्र पर विदेशियों का अधिकार होना असम्भव था। इस विजय ने जापान के इतिहास को ही नहीं, विश्व-इतिहास को एक नया रुख दे दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन में रूस का बढ़ाव रुक गया और एशियाई देशों में राष्ट्रीयता की अग्नि भड़क उठी जिसका वर्णन हमने पहले ही कर दिया है। एक छोटे राष्ट्र जापान ने जब रूस ऐसे महान् राष्ट्र को हराया तो एशियाई राष्ट्रीयता उन्मादित हो उठी। चीन ने अपनी क्रान्ति सँजोई और भारत ने अपना भविष्य सँवारा।

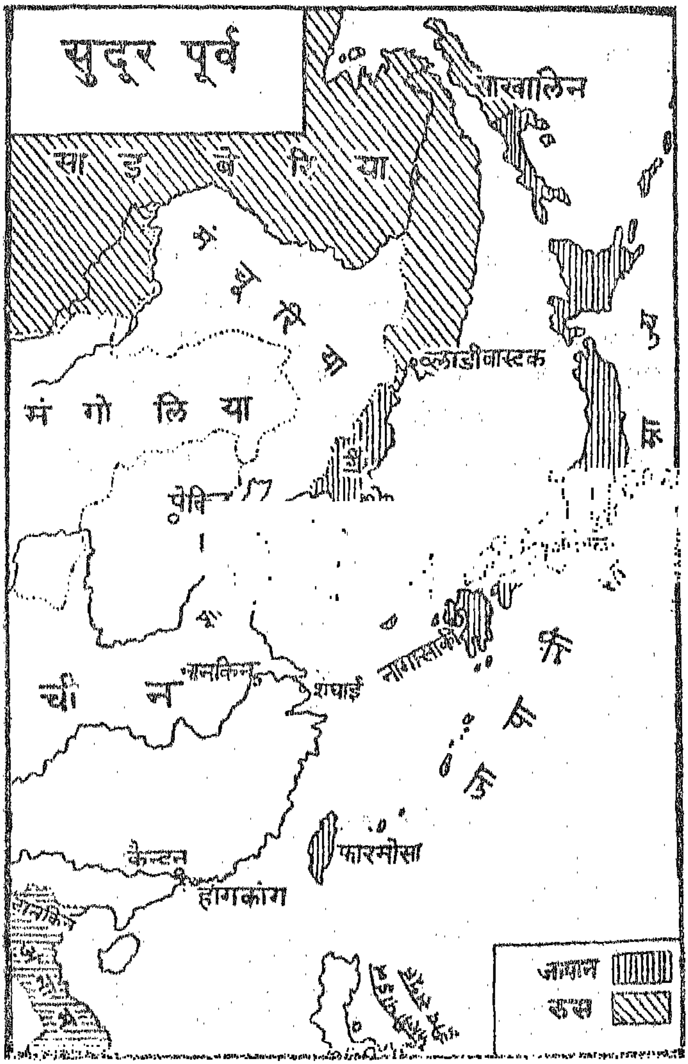
जापान का सैन्यवाद

जब प्रथम विश्वव्यापी युद्ध हुआ तो जापान ने शांतुँग पर अधिकार कर लिया। औद्योगिक क्रान्ति से कालान्तर में जापान को उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ी जहाँ से वह कच्चा माल मँगा सके और अपनी वस्तुओं को खपा सके। स्वर गूँजा, "मंचूरिया पर अधिकार किया जाय" क्योंकि वहाँ पर लोहे तथा कोयले की खानें थीं, कच्चे सामान की प्रचुरता थी और बने सामान वहाँ बिक सकते थे। इतना ही नहीं, मंचूरिया के अधिकृत हो जाने से चीन भी अधिकृत हो सकता था। जापान की प्रसरण-नीति उद्दिप्त हो उठी। सन् १६३१ में मंचूरिया पर आक्रमण हुआ और उसे कुचल डाला गया। चीनियों ने जापानी माल का बहिष्कार किया। इसका वर्णन गत प्रकरण में हो चुका है। जापानियों ने शांघाई पर गोले गिराए। च्यांग-काईशेक विवश था। उसे जापान की बात माननी पड़ी। जापान ने मंचूरिया का नाम मंचूको रखा। चीन ने मंचूरिया के प्रश्न को राष्ट्र-संघ में रखा, किन्तु राष्ट्र-संघ जापान का कुछ न बिगाड़ सकता था। जापान ने उत्तरी चीन को अपने सैन्यवाद से आक्रान्त कर दिया। कालान्तर में उत्तरी चीन के पीपिंग तथा टिंटसिन स्थानों पर जापानी अधिकार हो गया। च्यांग-काईशेक ने अपनी आन्तरिक नीति में परिवर्तन किया। उसने साम्यवादियों को भी चीनी एकता में संयुक्त किया। उधर जापान तैयार बैठा था। भयंकर संग्राम आरम्भ हो

गया और दोनों ओर सैनिक कटने लगे। चीन के प्रमुख उपजाऊ स्थानों पर जापानी अधिकार हो गया। क्रमशः नानकिंग, हांको, कैण्टन जापान के अधिकार में चलते गए। चांग-काईशेक बेचारा चुङ्गकिंग में चला आया अपनी राजधानी लेकर, क्योंकि अब उसकी राजधानी नानकिंग जापानी हो गयी। चीन से सहानुभूति रखने वाले राष्ट्रों ने जापानी माल का बहिष्कार किया। किन्तु जापान अलमस्त बढ़ता रहा। चीनियों ने जीवण-मरण का युद्ध किया। कुछ लोगों ने जापान में युद्ध का विरोध किया किन्तु वे कुचल डाले गए। इस प्रकार क्रमशः जापान निर्द्वन्द्व बढ़ता रहा और विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए। यह चीन-जापान-युद्ध सन् १९३९ तक पूर्ववत् चलता रहा और जापानियों ने चीनी प्रदेशों को पर्याप्त चूसा। जहाँ विजय होती, जापानी साम्राज्य बढ़ता जाता। किन्तु इसी बीच में विश्व-व्यापी युद्ध छिड़ गया जिसके चलते जापान को अपने मुँह की खानी पड़ी। आज जापान के नखदन्त टूट गए हैं। "टूटे नखरद केहरी, वह बल गयो थकाय", किन्तु कहा नहीं जा सकता, कब जापान पुनः न गरज उठे, क्योंकि बूढ़ा जापान अपने नवयुवकों में पुनः अपना गत पौरुष देख सकता है। राष्ट्र-संघ का रुख कुछ दूसरा है। जापान के पास में ही कोरिया-युद्ध चल रहा है जहाँ रूसी एवं अमेरिकीय नीति द्वन्द्व में हैं। एक ओर साम्यवादी प्रेरणाएँ और दूसरी ओर साम्राज्यवादी प्रेरणाएँ कार्यशील हैं। वर्षों से कोरिया-युद्ध चल रहा है। क्या इसका प्रभाव जापान पर नहीं पड़ेगा?

§. [१२] इस प्रकार हम देखते हैं कि आज का एशिया यूरोपीय साम्राज्यवाद के पैरों के नीचे नहीं है। उसने करवटें ली हैं। उसका प्राचीन गौरव जाग पड़ा है। अब वह एक ऐसी शक्ति होगा जो विश्व में अलौकिक प्रकाश भरेगा। किन्तु यह सभी सम्भव है जब भारत को मान्यता मिले, क्योंकि उसके सिद्धान्त शान्ति के अग्रदूत हैं। भारत अपने से सन्तुष्ट है। वह विश्व में शान्ति चाहता है, क्योंकि उसे उसके

निष्कर्ष


सुदूर पूर्व
सा इ बे रि या
सखालिन
मं चू रि या
व्लाडीवास्टक
मं गो लि या
पेकिंग
चीन
नानकिंग
शंघाई
नागासाकी
जा पा न
फारमोसा
केन्टन
हांगकांग
जापान
रूस

चित्र नं० १९

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी से यही सन्देश मिला है। शताब्दियों से कुचला जाता भारत अपनी शक्ति जानता है। एशिया का संस्कृति-प्रकाश प्राचीनतम है। आज का मध्य एशिया इस्लामी पंजे में है अवश्य, किन्तु यदि पाकिस्तानी नीति का प्रसरण वहाँ नहीं हुआ तो वह भारत, चीन, इण्डोनेशिया, ब्रह्मा आदि पूर्वी देशों की भाँति शान्ति का रक्षक होगा। भविष्य की बातें गर्भ में हैं। आज चीन साम्यवादी हो गया है। साम्यवाद की लहरें अन्य देशों में फैल रही हैं। यदि रूसी आतंक न हो, केवल साम्यवाद का सुनिश्चित प्रयोग बढ़ता रहे तो सम्पूर्ण एशिया पुनः शताब्दियों के उपरान्त विश्व को मोहने वाला हो जाय। हम यही विश्वास करते हैं कि एक दिन मानवता जगेगी और महात्मा गान्धी के आदर्शों पर ही विश्व में शान्ति होगी और चारों ओर सामाजिक विषमताओं के अन्त होने से विश्व-राजनीति शान्तिदायक होगी।

उन्नीसवाँ अध्याय

संसार की गति-विधि में आधुनिक अमेरिका

(America in World Affairs)

§. [१] आज के विश्व में अमेरिका अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अमेरिका का इतिहास अति नवीन है किन्तु उसकी नवीनता ने आज विश्व को राजनीति के चंगुलों में फँसा रखा है। आज की विश्व-गति-विधि के नियमन एवं प्रचालन में उसका प्रमुख हाथ है। गत अध्यायों में यथास्थान हमने अमेरिका की नीति पर प्रकाश डाला है। इस अध्याय में हम उसके पूर्व इतिहास की भूमिका में उसके आधुनिक राजनीतिक स्वरूपों पर प्रकाश डालेंगे। अमेरिका की उत्पत्ति का कारण उसकी मूल जातियों का उत्थान नहीं है प्रत्युत उसमें बसी यूरोपीय जातियों की राष्ट्रीयता है। आरम्भ में यूरोप के राष्ट्रों ने विशेषतः स्पेन, पोर्तुगाल के लोगों ने कोलम्बस द्वारा अनुसंधान के उपरान्त वहाँ अपनी-अपनी व्यापारिक टोलियाँ बसाईं और सोने की खोजें कीं। कालान्तर में इङ्गलैंड तथा फ्रांस के विरोधवादियों (प्यूरीटन तथा ह्यूजनाटों) ने धार्मिक अत्याचार के कारण वहाँ शरण ली। इन प्रवृत्तियों से अमेरिका धीरे-धीरे यूरोप का उपनिवेश हो गया। विशेषतः इङ्गलैंड तथा फ्रांस ने वहाँ औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए। इन दोनों साम्राज्यवादी देशों के बीच कटुता के कारण अमेरिका में भारत की भाँति युद्ध होने लगा। इङ्गलैंड की गौरवपूर्ण क्रान्ति (१६८८) के उपरान्त सन् १६८६ से १८१५ ई० तक इङ्गलैंड और फ्रांस अपने-अपने अधिकृत देशों तथा यूरोप में लड़ते रहे। यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध [illegible] साम्राज्य-स्थापन की प्रवृत्तियों का प्र[illegible]। [illegible] में इङ्गलैंड को प्रभूत सहायता [illegible] पराजित करने

पूर्वाभास

में समर्थ हुआ। किन्तु यह विजय प्रलयंकारी सिद्ध हुई क्योंकि अमेरिका के उपनिवेशों को फ्रांस से छुटकारा मिला और वे अपनी समस्याओं के समाधान में उलझ गए।

§. [२] अंग्रेजों की दुर्नीति से अमेरिकावालों को बल मिला। जब अंग्रेजों ने कर लगाना चाहा तो उसका प्रबल विरोध हुआ। स्वर गूँजा "प्रतिनिधि नहीं तो कर भी नहीं", क्योंकि इङ्गलैंड की पार्लियामेंट में अमेरिका का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। अमेरिका को आर्थिक सुविधाएँ भी प्राप्त नहीं थीं। विदेशों से आई हुई वस्तुओं पर उसे कर देना पड़ता था जो अखरने वाली बात थी। सन् १७६५ ई० में उस पर 'स्टैम्प ऐक्ट' लादा गया जिसके फलस्वरूप उसे समाचार-पत्रों से लेकर सभी राजकीय दस्तावेजों पर स्टैम्प लगाना अनिवार्य हो गया। समाज के व्यापारी एवं बुद्धिजीवी क्षुब्ध हो उठे। विद्रोह हुआ और बहुत-से राज्याधिकारियों के घर जला दिए गए। बेंजामिन फ्रैंकलिन ने उद्घोष किया, "स्टाम्प ऐक्ट हमें तब तक स्वीकार्य नहीं है जब तक हमें तलवार से नष्ट न कर दिया जाय।" सन् १७६६ में स्टाम्प ऐक्ट रद्द कर दिया गया। किन्तु झगड़ा समाप्त नहीं हुआ। जब जार्ज तृतीय ने सन् १७६७ में चाय, शीशा, कागद आदि पर कर लगाया और कहा कि इस कर के प्रतिरोधियों पर जो दण्ड लगे वह अमेरिका के शासकों, जजों एवं सैनिक कर्मचारियों के वेतन में लगे। यह दुहरी मार थी : राजनीतिक एवं आर्थिक। अमेरिका में आग भड़क उठी। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जहाज बोस्टन पोत-स्थल में आए तो अमेरिकावासियों ने उसमें आग लगा दी और इस प्रकार अमेरिका तथा इङ्गलैंड के राजकीय सम्बन्ध के बीच कटुता उत्पन्न हो गयी। इस कटुता को टामस पेन की पुस्तक "साधारण तर्क बुद्धि" (Common Sense) ने और उसकाया। उस पुस्तक में पेन ने अमेरिका वालों को जगाया था। अन्त में जुलाई ४ सन् १७७६ में अमेरिका और इङ्गलैंड के बीच संघर्ष हुआ। अमेरिका

अमेरिका का स्वाधीनता-संग्राम

वालों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित की। जार्ज वाशिंगटन ने सेना सँभाली और अंग्रेजों को सेरेटोगा में परास्त किया। फ्रांसवालों ने भी अमेरिका की सहायता की। इस प्रकार फ्रांस, स्पेन, हालैंड सभी अमेरिका की सहायता करने लगे। स्वयं अंग्रेजी जनता ने उसे अपनी सहानुभूति दी। यहाँ विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। जब लार्ड कार्नवालिस को यार्क टाउन में पराजय मिली तो अंग्रेजों ने अपना आत्मसमर्पण कर दिया और अमेरिका सदा के लिए स्वाधीन हो गया। अमेरिका की यह विजय (१७८२ ई०) विश्व के लिए उदाहरण बन गयी।

अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम का महत्व

§. [२] अमेरिका के स्वाधीनता-युद्ध का विश्व-इतिहास में महान् स्थान है। यह स्वाधीनता के लिए किए संग्रामों को प्रेरणा देनेवाली तथा प्रजासत्तात्मक प्रणाली को स्थापित करने वाली महान् विजय थी। उसने विश्व में राष्ट्रीयता के लिए किए गए संग्रामों को अन्यतम रूप से भड़का दिया। यह राज्य-क्रान्ति के रूप में प्रतिफलित हुई। प्रत्येक देश को इससे प्रेरणा मिली कि वहाँ से निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन का अन्त हो। इसने उद्घोषित किया कि प्रजातन्त्र-शासन स्थापित करना जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। इस स्वाधीनता-संग्राम से जिस प्रकार की शासन-प्रणाली का श्रीगणेश हुआ उसका महत्व तो अनूठा सिद्ध हुआ। लोकतान्त्रिक प्रणाली में राजा के स्थान पर निर्वाचित सभापति का उदय स्वतन्त्र अमेरिका से आरम्भ होता है। अब से राज्य-विधान लिखित रूप में कार्यान्वित होने लगे। अमेरिका में कई राज्य थे, उन्होंने एक संघ बनाया। अतः संघात्मक प्रणाली पर राज्य-शासन की परम्परा का उदय तभी से होता है। अमेरिका की राज्य-क्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि राजनीति और धर्म से कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है। अमेरिका का विधान उदार था, जन-साधारण को मत देने का अधिकार था। इस प्रकार राजनीतिक अधिकारों के साथ सामाजिक अधिकारों के

गुरुत्व का प्रतिष्ठापन तभी से हुआ। इस क्रान्ति ने कालान्तर में यूरोप को मोह लिया। फ्रांस की क्रान्ति को इसी क्रान्ति से प्रेरणा मिली। जनतन्त्र (स्वतन्त्रता), समानता एवं भ्रातृ-भाव (Liberty, Equality and Fraternity) का उद्‌घोष जो फ्रांस की क्रान्ति का गुरुमन्त्र था, अमेरिका-क्रान्ति एवं उसके विधान से ही उदय हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अमेरिका की क्रान्ति का विश्व-इतिहास में अनूठा स्थान है। अमेरिका संयुक्त राज्य अमेरिका हो गया।

§. [४] स्वाधीनता के उपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका का विश्व-महत्व भी बढ़ा। दक्षिणी अमेरिका भी प्रभावित हुआ। हमने पढ़ लिया है कि नैपोलियन ने स्पेन में बोरबोन-सत्ता का नाश करके अपने भाई जोसेफ को राज्य-सिंहासन दिया था। किन्तु स्पेन के वे उपनिवेश, जो दक्षिणी अमेरिका में अवस्थित थे, जोसेफ को अपना राजा न मान सके। साइमन बोलिवर के अधिनायकत्व में वेनेजुएला, कोलोम्बिया, इक्यूडोर, बोलविया, पेरी आदि देशों ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर ली। मेक्सिको ने भी १८२१ में स्वतंत्रतोद्‌घोष किया, किन्तु अव्यवस्था का शिकार बना रहा। सन् १८२२ ई० में डॉन पेड्रो को अपना राजा बना कर ब्रेजील ने पोर्तुगाल से अपना नाता तोड़ा। इन देशों को लैटिन अमेरिका की संज्ञा मिली है जिसका इतिहास पर्याप्त गुम्फित है। यहाँ पर विशेष विवरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। केवल दो तथ्य उपस्थित किए जाते हैं। पहला तथ्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक सभी उपनिवेशों में प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापित हो गए। दूसरा तथ्य यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने घोषणा की कि यूरोपीय देशों को अमेरिका के मामलों में नहीं पड़ना चाहिए। यह घोषणा "मुनरो सिद्धान्त" (The Munero Doctrine) के नाम से प्रसिद्ध है। यह घोषणा इस प्रकार की थी : "हमने यूरोपीय मामलों में कभी भी

दक्षिणी अमेरिका

मुनरो सिद्धान्त

हस्तक्षेप नहीं किया। हमारी ऐसी नीति नहीं है। जब हमारी स्वतन्त्रता पर आघात होता है तब हम अपना सर उठाते हैं और रक्षार्थ तैयार होते हैं। हम, यहाँ पर जो यूरोपीय उपनिवेश हैं, उनसे कोई विरोध नहीं करते, किन्तु जिन राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता उद्घोषित कर ली है और जिन्हें हमने मान लिया है उन पर आक्रमण किया जायगा तो संयुक्त राज्य अमेरिका समझेगा कि उस पर आक्रमण हुआ है। हम आज से यह स्पष्ट कर देते हैं कि उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका के राष्ट्र स्वतन्त्र हैं और उन पर यूरोपवासी उपनिवेश स्थापित करने की धृष्टता नहीं कर सकते।"

इस घोषणा को विश्व-इतिहास में विशेष महत्व दिया जाता है क्योंकि तभी से संयुक्त राज्य अमेरिका का अपनत्व एवं प्रभुत्व स्थापित होता है। यूरोपीय राष्ट्रों को एक घातक समाचार मिला। बहुत से प्रसरण-नीति के समर्थक राष्ट्र तिलमिला उठे। किन्तु जो होना था वह हो गया। "मुनरो सिद्धान्त", वास्तव में, अमेरिका के इतिहास तथा उसके आदर्शों को व्यक्त करने वाला है।

साम्राज्यवादी अमेरिका

§. [५] यह पहले ही कहा जा चुका है कि विश्व-इतिहास में संयुक्त राज्य अमेरिका अपना विशिष्ट स्थान रखता है। स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त उसके सभापति मुनरो द्वारा उद्घोष विश्व के लिए उसकी दूसरी देन है। तीसरी देन है उसकी अपनी साम्राज्यवादी नीति जो बहुत अंशों में यह स्पष्ट कर चुकी है कि किस प्रकार लम्बी-लम्बी बातें करने वाला राष्ट्र भी पराङ्मुख हो सकता है। अमेरिका की यह नीति तो आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। पाँच-पाँच फुट लम्बी बातें करने वाला संयुक्त राज्य अमेरिका भी साम्राज्यवाद का पोषक सिद्ध हुआ। एक तो वह यह उद्घोष करता था कि वह यूरोप-वासियों को अमेरिका में प्रवेश नहीं करने देगा, दूसरे वह स्वयं चारों ओर आच्छादित हो जाना चाहता था। उसने मेक्सिको से सन् १८४६ ई० में युद्ध किया और उसे परास्त कर के छोड़ा। उसने कैलीफोर्नियाँ,

उटाह आदि प्रदेशों को अधिकृत कर लिया। सन् १८६७ ई० में उसने अलास्का को क्रीत कर लिया। इतना ही नहीं, उसने स्पेन से सन १८६८ ई० में फिलिप्पाइन द्वीप-समूह, क्यूबा तथा पोर्टोरिको हड़प लिया। क्रमशः उसका अधिकार हवाई द्वीप तथा पनामा नहर पर भी हो गया। कालान्तर में निकारगुआ, हैटी, सन्तो, डामिंग्गो पर उसके अधिकार हो गये। यह थी संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रसरण की नीति। आज संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का सबसे प्रबल राष्ट्र है। ब्रिटिश साम्राज्य के नाश के उपरान्त उसका ही बोलबाला है। बीसवीं शताब्दी में उसका मान बढ़ा। आज के अमेरिका का विश्व की गति-विधि में महान् हाथ है। अपने धन तथा अपनी आच्छादित नीति से आज वह विश्व-नियन्ता बना हुआ है। यह सब किस प्रकार सम्भव हो सका? इसके मूल में दोनों विश्व-व्यापी युद्ध हैं। प्रथम विश्व-युद्ध में तो वह अन्त में उतरा किन्तु एक प्रबल नियामक के रूप में सिद्ध हुआ किन्तु द्वितीय युद्ध में तो वह आरम्भ से ही लगा हुआ था और आज युद्धोपरान्त की नीति में सबसे बड़ा हाथ रखता है। इन दोनों युद्धों की कहानी हम आगामी अध्याय में कहेंगे और राष्ट्र-सङ्घ तथा संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ (League of Nations and United Nations Organisation) के अध्ययन में उसकी नीति का उद्घाटन करेंगे और तभी उसकी गति-विधि का पूर्ण लेखा-जोखा उपस्थित हो सकेगा।

बीसवाँ अध्याय

विश्व-युद्ध, राष्ट्र-संघ एवं संयुक्त राष्ट्र-संघ

(World Wars, League of Nations and the U. N. O.)

§. [१] विश्व में कई महाभारत हुए हैं। भारत का महाभारत महाभारत-महाकाव्य है। विश्व के इतिहास से उसका कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं है। हाँ, अन्तर्राष्ट्रीयता के उत्थान में उसका सांस्कृतिक महत्व अवश्य है। किन्तु बीसवीं शताब्दी में जो दो विश्व-युद्ध हुए उससे

पूर्वाभास

मानवता सन्त्रस्त हो उठी। युद्ध कितना भयंकर होता है इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं सन् १९१४ तथा सन् १९३९ से आरम्भ होने वाले विश्व-व्यापी युद्ध। इस अध्याय में हम उन्हीं दोनों युद्धों का वर्णन उपस्थित करेंगे और देखेंगे कि युद्धों के अवरोध के लिए अन्ध मानव ने क्या प्रयत्न किए। वास्तव में, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होते-होते विश्व को विदित हो गया था कि एक विश्व-व्यापी युद्ध अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार द्वितीय युद्ध के संकेत प्रथम युद्ध के अन्त में ही मिल गए थे। आज तृतीय युद्ध सर पर नाच रहा है। यों तो चिन्तकों का कहना है कि तृतीय युद्ध नहीं होगा किन्तु विश्व की जैसी गति-विधि है उसे देख ऐतिहासिकों का मन क्षुब्ध हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि संयुक्त राष्ट्र-मंडल ने अपने सिद्धान्त को उदार नहीं बनाया और उचितानुचित के वैभिन्य को नहीं समझा तो तृतीय युद्ध होकर रहेगा जैसा कि नीचे के प्रकरणों के अनुशीलन से व्यक्त होगा। इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है राष्ट्र-संघ एवं संयुक्त राष्ट्र-संघ का अनुशीलन करना किन्तु जब तक हम गत दोनों युद्धों के मूल में नहीं प्रवेश करेंगे तब तक उन पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ सकेगा। गत अध्यायों की भाँति इस अध्याय में भी संक्षिप्त शैली का ही सहारा लिया जायगा।

§. [२] प्रथम विश्व-युद्ध के मूल में विश्व के दो तानाशाही

साम्राज्य थे : जर्मन, आस्ट्रियन, रूसी, टर्की एवं जापान। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्य भी उसका उत्तरदायी है, क्योंकि उसकी प्रबलता का परोक्ष महत्व था ही। इन पाँचों साम्राज्यों में सैन्यवाद अपनी अन्तिम सीमा को पार कर चुका था, उसकी परिणति युद्ध ही थी। जापान की प्रबलता से एशियाई महत्व भी बढ़ गया था। इस युद्ध में पाश्चात्य एवं पौर्वात्य का अद्भुत सामञ्जस्य था, क्योंकि सभी के मूल में यूरोपीय राजनीति की चरम परिणति थी। इन पाँचों सैन्यवादी साम्राज्यों में जर्मनी एवं जापान युद्ध-पिपासु हो उठे थे।

प्रथम विश्व-युद्ध के मूल में

आस्ट्रिया यूरोप का प्राचीनतम साम्राज्यवादी शक्ति का परिचायक था। जब से साइलेशिया उससे छीन लिया गया था, उसकी शक्ति परिमित हो गयी थी। रूस ने उससे बहुत कुछ छीन लिया था। इटैली ने उससे १८६१ ई० में विद्रोह कर लिया था। सन् १८६१ में आस्ट्रिया जर्मनी से निकल कर आस्ट्रिया-हंगरी की द्वैध शासन-प्रणाली का प्रतीक हो गया था। सैडोआ की पराजय से वह उठ नहीं सका था। उसके जर्मन-सम्बन्ध ने उस पर प्रलय ढाह दिया। सन् १८७९ में उसने जर्मनी से सन्धि कर के १९१४-१८ की विपत्तियाँ झेलीं और सन् १९३८ में उसकी अस्तव्यस्तता जर्मन-शक्ति के प्रवेश से स्पष्ट हो गयी। रूस की क्रान्ति से (१९१७) रूस का कायाकल्प हो गया, वह बाह्य एवं आन्तरिक धक्कों से कुछ दिनों के लिए शान्त रहा। टर्की तो बूढ़ा हो चला था। इङ्गलिश एवं फ्रांसीसी शक्ति की सूइयों से वह कब तक जीवित रहता। उसका कायाकल्प तो अतातुर्क कमाल पाशा के हाथों होना था।

विश्व के तानाशाही साम्राज्य

बिस्मार्क की नीति (१८७१–९०) ने प्रशा को शक्तिशाली बना दिया था। वह अशान्त था। वह अपना परिवर्द्धन चाहता था। उसका अस्तित्व सीमित था अतः स्वच्छन्द आकाश में उड़ने की प्रेरणा बलवती थी। उसके

बिस्मार्क की नीति

दार्शनिक नित्ज़े (Nietzsche) ने उसे 'वास्तविक राजनीति' का पाठ पढ़ाया था। राष्ट्र-प्रेम भूमि-विशालता के लिए मचलने लगा। उसकी नयी संस्कृति युद्ध-कूटनीति में अभिव्यक्ति हुई। फ्रांस उसका शत्रु था, क्योंकि उससे उसने अलसैक-लोरेन ले लिया था। बिस्मार्क जानता था कि फ्रांस प्रतिशोध लेकर रहेगा। उसने फ्रांस को कूटनीति से आवृत करना चाहा। उसने चाहा कि फ्रांस, इटैली, रूस, ब्रिटेन, आस्ट्रिया से शत्रुता मोल ले ले।

कैसर की महत्त्वाकांक्षा

बिस्मार्क के पश्चात् उसका राजनीतिक उत्तराधिकारी हुआ कैसर विल्हेम (Kaiser Wilhelm)। वह अपनी उत्तेजना, नीति-नाटकीयता, सैन्य-कुशलता, कूटनीतिज्ञता एवं बिस्मार्क-नीति-प्रसार के लिए प्रसिद्ध है। वह नया नैपोलियन था। उसने प्रण किया, सौगन्ध खाई कि वह अपने राष्ट्र को महान् करके छोड़ेगा। कहना न होगा, विश्व-युद्ध उसकी महत्वाकांक्षा का प्रतिफल था। कैसर ने सेना बढ़ाई, पोत-सामग्री एकत्र की। वह संसार में व्यापारिक एवं औपनिवेशिक ट्यूटोनिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसने इङ्गलैण्ड से हेलिगोलैण्ड (Heligoland) पोत-स्थल के लिए लिया। उसने कील नहर का निर्माण कराया और बोर्कुम, कुक्सहैवन तथा विल्हेमशैवन (Borkum, Cuxhaven and Wielhelmshaven) में पोत-स्थलों को सुव्यवस्थित किया। वह अपने "भविष्य का निर्माण जल" में करना चाहता था। जर्मनी मिशनरियों द्वारा उसने अपने संदेश उपनिवेशों में भेजे। विज्ञान से उसने जर्मनी की शक्ति कई गुनी बढ़ा दी। जेप्पलिन, सबमेरिन, क्रुप्प गन, टारपीडो, गैस, माइंस (Jeppelines, Submarines, Krup guns) torpedoes, poison-gases and mines) से जल-स्थल-सेना को प्रबुद्ध कर दिया। लम्बे-लम्बे रेलवे-स्टेशनों का निर्माण हुआ जहाँ बड़ी-बड़ी सेनाएँ ठहर सकें। पूर्व में प्रवेश के लिए बर्लिन से बगदाद तक रेलवे-निर्माण के लिए तुर्की के समक्ष योजना रखी। कैसर ने तुर्की को साथ लिया। इन प्रयत्नों से कैसर ने युद्ध की पूरी तैयारी

कर ली थी।

उधर इङ्गलैण्ड, रूस तथा फ्रांस ने त्रिराष्ट्र-मण्डल (The Triple Alliance) या त्रिगुट स्थापित किया। बिस्मार्क इस त्रिगुट का पहले से ही विरोधी था। अस्तु, ईंधन सुलग चले। एक अग्नि-शलाका की देर थी। जब बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में सर्विया के लोगों द्वारा आस्ट्रिया का आर्कड्यूक तथा उसकी पत्नी की हत्यायें कर दी गयीं तो अग्नि धधक उठी। इस प्रकार प्रथम युद्ध के विस्फोट के मूल में जर्मनी की महत्वाकांक्षा निहित थी और थी अन्य राष्ट्रों की उसके विरुद्ध कूटनीति जो काल के समान सारे विश्व पर घहरा उठी।

जर्मनी के विरुद्ध त्रिगुट एवं युद्ध का विस्फोट

§. [३] प्रथम विश्व-युद्ध सन् १९१४ से १९१८ तक चलता रहा। युद्ध का तत्काल कारण था आस्ट्रिया के राजकुमार एवं उसकी स्त्री का हत्या-काण्ड। आस्ट्रिया ने सर्विया पर आक्रमण किया जिसके फलस्वरूप अन्य राष्ट्र युद्धाग्नि में कूद पड़े। जर्मनी आस्ट्रिया का मामला लेकर तथा रूस सर्विया का पक्ष लेकर रण-क्षेत्र में आ धमका। त्रिगुट सन्धि के अनुसार फ्रांस भी आया, वह तो जर्मनी तथा आस्ट्रिया से कुढ़ता भी था। जर्मनी ने जब बेलजियम द्वारा फ्रांस में प्रवेश करना चाहा तो पूर्व सन्धि या नीति के अनुसार (क्योंकि तटस्थ-प्रान्तों में प्रवेश निषिद्ध था) ग्रेट ब्रिटेन अपने साम्राज्य के साथ आ धमका। बलगेरिया और टर्की ने जर्मनी तथा आस्ट्रिया का साथ दिया। इटैली, यूनान तथा अरब फ्रांस के गुट में सम्मिलित हो गए। सन् १९१७ में संयुक्त राज्य अमेरिका भी आ धमका जिसके कारण जर्मनी का भविष्य डूब गया और प्रतिपक्षियों का सितारा चमक उठा। पूर्व में सन् १९०२ की सन्धि के अनुसार जापान ने अंग्रेजों का साथ दिया। इस प्रकार सारे विश्व में युद्ध के बादल गरजने लगे और तुमुल रोर के साथ वर्षण करने लगे। यह युद्ध विश्व-इतिहास में अद्भुत

प्रथम विश्व-युद्ध का संक्षिप्त परिचय

है। इसमें संसार की सारी शक्तियाँ प्रवृत्त थीं और जितने धन-जन की हानि हुई वह अपूर्व थी। तीन दिशाओं में युद्ध हुआ। स्थल, जल तथा आकाश विच्छिन्न हो उठे। विज्ञान ने अपनी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यञ्जनाएँ खुल कर कीं। परिणाम बड़ा भयानक था। संसार की गति-विधि ने करवटें लीं। चार वर्षों तक मानव त्राहि-त्राहि करता रहा। विश्व की शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आर्थिक अवस्थितियों में भयानक कोलाहल मचा। विश्व परिवर्तित हो उठा। हाय रे मानव! तेरी मोहिनी कितनी प्रबल है। तेरे इन्द्रजाल में फँसकर मानवता कलप उठती है। आश्चर्य है, तू तब भी नहीं मानता। तू देखता है कि तेरी महत्वाकांक्षा के दीप गिर कर चकनाचूर हो जाते हैं और चारों ओर अन्धकार छा जाता है तब भी तू नहीं मानता। क्या यह युद्ध अन्तिम युद्ध था? जब गीता के उपदेश करने वाले श्री कृष्ण द्वारा प्रचालित महाभारत अन्तिम महाभारत न हो सका तो दुर्नीतियों, दुर्प्रवृत्तियों एवं निकृष्ट कांक्षाओं से प्रचालित महाभारत अन्तिम महाभारत क्योंकर हो सकता है? अतः द्वितीय युद्ध की नींव भी पड़ गयी जिसके परिणामों से आज के पाठक भली भाँति परिचित हैं, इतने परिचित कि स्वतन्त्र भारत की अबोध प्रजा अभी अपने को पराधीन समझती है!

§. [४] क्रमशः जर्मनी के कैसर की महत्वाकांक्षा की रानी विधवा हो गयी और युद्ध नवम्बर ११ सन् १९१८ को विराम पा गया। सन् १८७१ ई० में, जहाँ जर्मनी ने एक दिन अपनी विजय का समारोह किया था, उसी दर्पण-खचित कमरे में जून २८, १९१९ को वर्साई की सन्धि हुई।

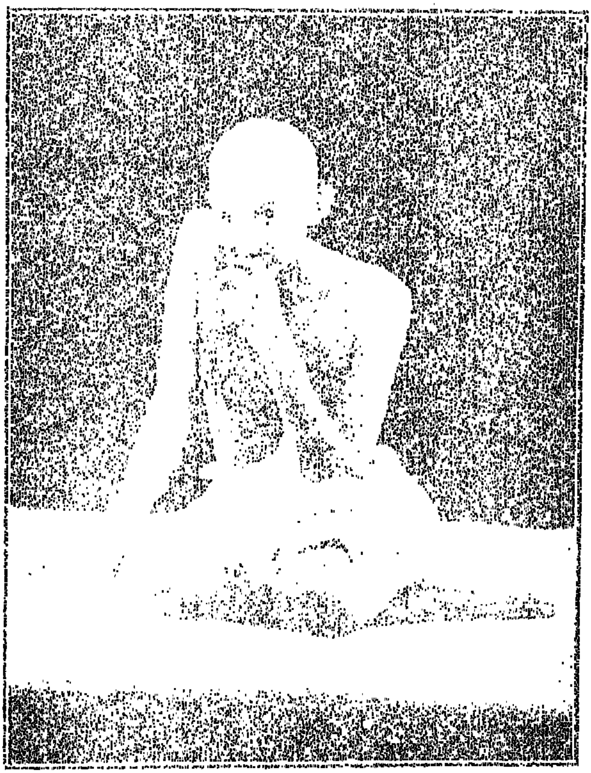
वर्साई की सन्धि

"उस कमरे ने सन् १८७१ वाले यूरोप की प्रतिमूर्ति को उलटे रूप में देखा"। फैंकफर्ट की सन्धि का उलटा प्रतिरूप था यह सन्धि-प्रदर्शन। पहले में फ्रांस ने अपनी महत्वाकांक्षा की पराजय देखी थी, आज यहाँ जर्मनी घुटने टेके 'उन्मत्त' खड़ा था। विजयी राष्ट्रों ने जर्मनी की कमर तोड़नी चाही। उस पर ८,०००,०००,००० पौंड का

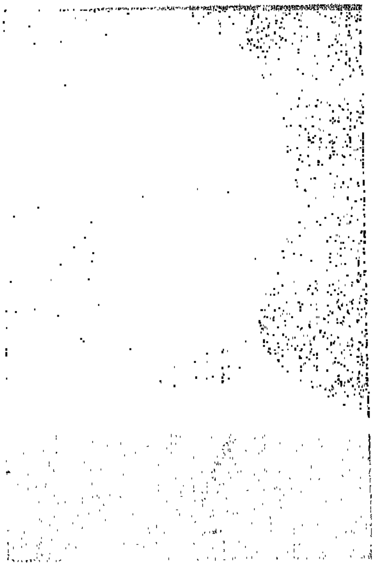
हर्जाना लादा गया। एक दर्शक ने उद्घोष किया : "सारा वातावरण घृणा एवं विद्वेष से परिपूर्ण था। यह एक महत्वपूर्ण क्षण था, किन्तु मैं काँप रहा हूँ, यह उस प्रकार बिना विजय की सन्धि है जिस प्रकार हमें बिना संधि के विजय प्राप्त होती है।" जर्मनी, आस्ट्रिया, बलगेरिया तथा तुर्की को छोड़ कर इस सन्धि-विचारणा में ३७ से अधिक राष्ट्र सम्मिलित थे। चार प्रमुख राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने मनमानी की : फ्रांस के क्लेमेंको, 'व्याघ्र'; इंगलैण्ड के लायड ज्यार्ज, यहूदी 'शायलॉक'; अमेरिका के विलसन, 'मसीहा' तथा इटैली के आरलैण्डो, 'अज्ञात'। खाकी पगड़ी बाँधे महाराजा बीकानेर भी भारत के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। उन लोगों ने विश्व का मान-चित्र परिवर्तित कर दिया। एच्. जी० वेल्स ने कहा है : "आज हम समझते हैं कि उस भयानक एवं विशाल संग्राम ने कुछ भी अन्त नहीं किया, कुछ भी आरम्भ नहीं किया और किसी प्रकार का कोई समझौता नहीं किया। इसने लाखों के प्राण लिए। इसने संसार को दरिद्र कर दिया।'''युद्ध ने यूरोप से जर्मन साम्राज्यवाद की धुकनी के आवरण को उभार दिया और रूस के साम्राज्यवाद को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। उसने बहुत-सी राज्यसत्ताओं का नाश किया। किन्तु आज भी यूरोप में कितने ही झण्डे फहराते हैं। सीमाप्रान्त आज भी विक्षुब्ध है, और चारों ओर सैन्यवाद तुमुल घोषणाएँ कर रहा है।" वेल्स की उक्तियाँ कितनी सत्य उतरीं !

§. [५] यदि हम वर्साई की सन्धि की समीक्षा करें तो लगेगा कि वह वास्तविकतावाद एवं आदर्शवाद का योग थी। क्लेमेंको तथा ल्वाएड ज्यार्ज वास्तविकतावाद के समर्थक थे तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के सभापति विल्सन आदर्शवाद के। प्रथम दो ने विश्व के मान-चित्र में स्थानीय परिवर्तन किए और विल्सन ने राष्ट्र-संघ की स्थापना में योग दिया।

देशों का विभाजन राष्ट्रीयता के तत्व तथा इंगलैण्ड एवं फ्रांस द्वारा प्रतिश्रुत सिद्धान्त पर आधारित था। इंगलैण्ड एवं फ्रांस



चित्र २०—विश्व-वन्द्य बापू, महात्मा एवं राष्ट्र-पिता मोहनदास करमचन्द गाँधी जिनके अथक प्रयत्न, तपस्या एवं सत्य-अहिंसा के बल पर भारतवर्ष पुनः शताब्दियों के उपरान्त स्वतन्त्र हो सका है। (देखिए पृष्ठ २८८)



चित्र २१—स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री भारत-गौरव पं० जवाहर लाल नेहरू, जिनकी त्याग-गरिमा, पाण्डित्य सुषमा, राजनीति-सौष्ठव एवं विचार-महिमा विश्व विश्रुत है और जो एशिया के आधुनिक अग्रदूत हैं और विश्व की राजनीति में नए अध्याय जोड़ने वाले हैं। (देखिए पृष्ठ २८८)



चित्र ९९—स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जिनकी जीवन-गाथा भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास के अध्यायों में स्वर्णाक्षरों में लिखित है। (देखिए पृष्ठ २८८)

जर्मनी के अफ्रीकी उपनिवेशों के संरक्षक बने। फ्रांस को आलजाक-लोरेन मिल गए। सार घाटी (The Saar valley) राष्ट्र-संघ के संरक्षण में चली गयी जो १६३५ ई० में जनमत के आधार पर जर्मनी को मिल गयी। पोलैंड को उसके टुकड़ों के साथ स्वतन्त्र कर दिया गया, किन्तु बाल्टिक से डांजिक तक एक पोलिश द्वार बना दिया गया और पोत-स्थल राष्ट्र संघ के अधिकार में आया। मजारिक (Mazaryk) के सभापतित्व में बोहेमिया को ज़ेकोस्लोवाकिया (Czeco-slovakia) का नाम दे एक नया राष्ट्र बनाया गया। आस्ट्रिया एवं हंगरी को स्वतन्त्र कर दिया गया किन्तु उनके कुछ भाग दक्षिण में इटैली को तथा पूर्व में बलकान को दे दिए गए। सर्बिया और मोंटीनेग्रो को मिला कर जुगोस्लाविया (Jugoslavia) बनाया गया। रूमानिया को ट्रांसिल-वानिया के साथ एक बड़ा राष्ट्र बनाया गया। बलगेरिया को एजियन से वञ्चित कर एक छोटा राष्ट्र बनाया गया। रूस एवं जर्मनी से समझौता करके फिनलैण्ड, इस्थूनिया, लटाविया, लिथूनिया के स्वतन्त्र राष्ट्र बनाये गए। तुर्की को संकीर्ण कर दिया गया और उससे यूरोपीय एवं एशियाई अधिकार छीन लिए गए। इस प्रकार हम देखते हैं कि जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया एवं तुर्की के साम्राज्यों के टुकड़ों से बहुत-से स्वतन्त्र राष्ट्र बन गए।

सन्धि से विश्व का नकशा परिवर्तित हुआ।

राष्ट्र-संघ (The League of Nations) का केन्द्र जेनोआ में बना और उसके सिद्धान्त थे युद्धों का अन्त करना एवं स्वराज्य-सिद्धान्त (The Principle of Self-determination) का प्रतिपादन करना। झगड़ों को दूर करने के लिए हेग (Hague) में एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The Permanent Court of International Justice) बना। विश्व के श्रमिक-वर्ग के सुधार के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ (The International Labour

राष्ट्र-संघ का निर्माण

Organization) का निर्माण किया गया। यह राष्ट्र-संघ बहुत ही दुर्बल था, इसकी व्यवस्थाएँ बालू की भीति पर स्थिर थीं। राजनीतिक क्षेत्र में इसने असफलता ही देखी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसे आरम्भ से ही नहीं माना। जर्मनी, जापान तथा इटैली ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए इसके सिद्धान्तों को ठुकरा दिया। राष्ट्र-संघ ताकता रह गया और उसके सिद्धान्तों की हत्या होती रही।

§. [६] रूस ने भी विश्व-युद्ध में भाग लिया और वह सर्विया का साथी था। यद्यपि उसे आस्ट्रिया एवं जर्मनी में विजय मिली थी, किन्तु वह आन्तरिक विद्रोहों से आक्रान्त हो उठा। वहाँ क्रान्ति हुई, जिसका वर्णन हमने पहले ही कर दिया है। तुर्की को कमाल पाशा ने नये प्राण दिए। विजयी राष्ट्रों ने उसे नष्ट कर देना चाहा, किन्तु वह जीवित हो उठा। इटैली में तानाशाही का आविर्भाव हुआ (१९२२)। वहाँ सिगनर मुसोलिनी (Signor Mussolini) ने अपनी सक्रियता प्रदर्शित की। वह अपनी फासिस्ट पार्टी की सहायता से इटैली में सर्वेसर्वा हो गया। इटैली के स्वप्न अनूठे हो गए। रोम का गौरव जाग उठा। उसने अबीसीनिया पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया (१९३५)। उसने अपनी नीति से इटैली को अनुप्राणित कर दिया। जर्मनी घुटने टेक चुका था, किन्तु उसे जागना था। कैसर देश से बाहर चला गया। शासन-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ। १९२९ ई० में आर्थिक अधःपतन से जर्मनी की स्थिति डाँवा-डोल हो गयी। उसे तानाशाही मिलनी थी, उसे हिटलर मिलना था। इटैली की अनुकृति में जर्मनी आगे बढ़ा। सन् १९३३ में हिटलर का तानाशाही अवतार हुआ। हिटलर ने जर्मनी को वर्साई के धक्कों से बचाया। पाँच वर्ष के भीतर उसने जर्मनी का कायाकल्प कर दिया और राष्ट्र-संघ के सभी नियमों का उल्लंघन कर डाला। पड़ोसी राष्ट्र

प्रथम युद्ध के पश्चात्

नादिरशाहों का उत्थान एवं द्वितीय विश्व-युद्ध के उपकरण

काँप उठे। विश्व पुनः स्तम्भित हो गया। जर्मनी, इटैली एवं जापान में जीवन-मरण की सन्धि हुई। इस प्रकार बर्लिन, रोम एवं टोकियो के त्रिभुज में विश्व की शान्ति छुप गयी। जर्मनी का नाजीवाद एवं जापानवाद रूस के साम्यवाद के प्रबल विरोधी होते हुए भी ब्रिटिशवाद के सबसे बड़े शत्रु थे।

एक ओर यह और दूसरी ओर रूस के साम्यवाद की प्रबलता विश्व-शांति को भंग करने पर तुली हुई थी। आर्थिक अवस्थिति के कारण विश्व त्राहि-त्राहि कर रहा था, नादिर शाह तड़प रहे थे, साम्यवाद द्रुत गति से आगे बढ़ रहा था। इन कारणों से अन्यान्य देशों में भी शासन-सूत्र कड़े हो गए। पोलैण्ड एवं जेकोस्लोवाकिया में शान्ति से किन्तु यूनान एवं स्पेन में गृह-विद्रोहों से शान्ति स्थापित की जा रही थी। स्पेन के नादिरशाह फ्रैंको की नीति पर आलोचनाएँ हुईं, क्योंकि वहाँ समाजवाद एवं तानाशाही के सिद्धान्तों में संघर्ष हो रहा था और यूरोप के राष्ट्र दोनों सिद्धान्तों को अपनी ओर से सहायता दे रहे थे। इस गृह-विद्रोह ने चारों ओर युद्धाग्नि-दाह उत्पन्न कर दिया। सभी प्रमुख राष्ट्रों में सैन्यवाद का प्राधान्य हो गया, चारों ओर सेना-वृद्धि एवं युद्ध-सामग्री की प्रचुरता बढ़ने लगी। चारों ओर लोग यही कहने लगे, "युद्ध होगा, क्योंकि आकाश में बादल मँडरा रहे हैं"।

एशियाई देशों में बॉक्सर-विद्रोह (१९००) के पश्चात् चीन, रूस-जापान-युद्ध (१९०५) के पश्चात् जापान तथा बंग-भंग (१९०५) के पश्चात् भारत नयी दिशा में, नये प्रकाश में एवं नये उत्साह में उमड़-घुमड़ रहे थे। ये एशियाई प्रमुख राष्ट्र तथा अन्य देश राष्ट्रीयता के उद्भव में नए-नए सपने देख रहे थे। पाश्चात्य अधिकार के विरुद्ध स्वर गूँज रहे थे। जापान सबसे प्रबल युद्धालु राष्ट्र था। वह चीन से जा भिड़ा और अपनी प्रखर साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से एशिया की भयानक प्रबलता का संकेत लिए उत्तेजित हो हिल रहा था। वह एशिया में प्रबल राष्ट्र था और यूरोपवालों को निकाल

कर सर्वोपरि होना चाहता था। भारत में स्वतन्त्रता का संग्राम चल रहा था। किन्तु यहाँ थे उसके राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी जो एक नया ही संदेश लेकर आगे बढ़ रहे थे। किन्तु भारत तो ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था। क्या वह आसन्न विश्व-युद्ध से मुख मोड़ सकता था?

§. [७] गत प्रकरण के अनुशीलन से विश्व की व्यापक परिस्थिति का पता हठात् चल जाता है। प्रथम युद्ध हुआ युद्ध का अन्त करने के लिए, किन्तु वह द्वितीय युद्ध का प्रवर्तक

द्वितीय विश्व-युद्ध के

हो गया। राष्ट्रीयता एवं प्रजातन्त्रात्मक शासन

आग्रहों का समाहार

के स्थान पर फैसिज़्मवाद, नाज़ीवाद तथा अन्य देशों के सैन्यवाद तुमुल घोष कर रहे थे। रोम, बर्लिन एवं टोकियो का त्रिगुट पश्चिम एवं पूर्व की शान्ति भंग करने पर तुल गया था। द्वितीय विश्व-युद्ध (१९३९-४५) की तैयारियाँ हो चुकी थीं। वर्साई की सन्धि (१९१९) वीयना की सन्धि (१८१५) के समान ही असफल रही। वह चाहती थी जर्मनी ऐसे प्रबल राष्ट्रों का नाश, किन्तु कुछ न हो सका। एक ओर युद्ध की तैयारियाँ, दूसरी ओर आर्थिक अवस्थिति जिसके कारण बेकारी की समस्याएँ चारों ओर प्रबल थीं। द्वितीय युद्ध प्रथम युद्ध से प्रबलतर, भयानकतर एवं दुर्द्धर्षतर था। धन-जन की अपार हानि हुई। संयुक्त राज्य अमेरिका के १५०,००० व्यक्ति मारे गए। यूरोप में पाँच लाख व्यक्ति 'स्थानान्तरित' हुए। जन-जन में अनैतिकता छा गयी। अत्याचारों, अमानुषिक व्यवहारों एवं बलात्कारों की राक्षसीय प्रवृत्तियाँ नृत्य करने लगीं। क्या विजयी, क्या पराजित सभी राष्ट्र युद्ध-विगलित हो गए। जर्मनी, इटैली एवं जापान धूल में मिल गए। आज जिस प्रकार विजित राष्ट्रों का बँटवारा हो रहा है, अथवा युद्ध के उपरान्त जिस प्रकार राजनीतिक वातावरण विषाक्त होता जा रहा है उससे तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ स्पष्ट होती जा रही हैं!

जर्मनी ने यूरोप को क्रमशः अपने पदाघात से विक्षुब्ध कर दिया।

पोलैंड का सत्यानाश हुआ। फ्रांस की पराजय हुई। रूस से जीवन-मरण का युद्ध हुआ। ब्रिटिश-साम्राज्य दहल गया। इस युद्ध में अमेरिका आरम्भ से ही साथ था। उसकी वैज्ञानिक उन्नति जर्मनी तथा रूस की वैज्ञानिक उन्नतियों का होड़ ले रही थी। प्रतिफल हुआ परमाणु-बम जिसने अगस्त ६, १९४५ ई० में हिरोशिमा तथा अगस्त ९, १९४६ में नागासाकी में विप्लवकारी प्रयोग किए। जापान ने घुटने टेक दिए।

आज अमेरिका एवं रूस के हाथ में विश्व का प्रलय एवं उसकी शान्ति है। दोनों के दो प्रबल दल हैं। मानवता दो पलड़ों में झूल रही है। प्रकृति एवं पुरुष का द्वन्द्व है। कभी एक पलड़ा भारी पड़ता है तो कभी दूसरा। क्या मानवी आविष्कार मानव को खा डालेंगे? आज विश्व में शान्ति का आग्रह है और उसका समाहार वैज्ञानिक, कूटनीतिक एवं नैतिक वृत्तियों में मचल रहा है।

राष्ट्र-संघ

§. [८] प्रथम विश्व-युद्ध का आलेखन राष्ट्र-संघ (The League of Nations) के रूप में परिवर्तित हुआ। उससे विश्व-शांति न हो सकी, क्योंकि (१) उसके प्रस्तावों की परिणति में सर्वसम्मति नहीं थी, क्योंकि (२) उसके पास कोई सैनिक शक्ति नहीं थी जिसके द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव राष्ट्रों पर लादे जाते, क्योंकि (३) वह राष्ट्रों का संघ था जिसमें विभिन्न राष्ट्रों की विविध शासन-प्रणाली का गुरुत्व था और थी प्रमुख राष्ट्रों की नादिरशाही प्रवृत्ति। इसकी अनुपयोगिता पहले ही सिद्ध हो चुकी थी जैसा कि हमने गत अध्यायों में यथास्थान पढ़ लिया है। जब द्वितीय विश्व-युद्ध चल रहा था तभी संसार के कुछ राष्ट्र सार्वभौम शान्ति के उद्योग में लग गए थे। वाशिंगटन के पास डम्बार्टन ओक्स (Dumbarton Oaks) में सन् १९४४ के अगस्त-अक्तूबर के दिनों में एक कांफरेंस बुलाई गयी जिसके फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र-मण्डल (United Nations Organisation) के स्थापन की नींव पड़ी। इस मण्डल या संघ में सामान्य सभा (Gene-

ral Assembly), सुरक्षा-परिषद् (Security Council), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice), सेक्रेटरिएट (Secretariat), आर्थिक एवं सामाजिक कौंसिल (Economic and Social Council) तथा सैनिक समिति (Military Staff Committee) आदि प्रमुख संस्थाएँ बनीं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ का निर्माण

अन्तिम संस्था पूर्ववर्ती राष्ट्र-संघ के अभाव की पूर्ति है। रूस की मति से यह तय पाया कि प्रत्येक राष्ट्र सुरक्षा-समिति में एक वोट का अधिकारी होगा। इसमें ११ सदस्यों में कम से कम ७ सदस्यों की सहमति से सभा का कार्य-क्रम निर्धारित होगा और इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निबटारा होगा। किन्तु इन सब निर्णयों में संयुक्त राज्य अमेरिका रूस, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा चीन का निर्णय सर्वमान्य होगा। निर्णय के लिए दो-तिहाई मत अनिवार्य समझा गया। अप्रैल २५, १९४५ ई० में ५० राष्ट्रों की एक बैठक सैनफ्रांसिस्को में हुई जिसने इन सुझावों को अन्तिम मुहर दी। इस प्रकार संयुक्त-राष्ट्र का विधान (United Nations Charter) अक्तूबर २१, सन् १९४५ को लागू किया गया। इस बैठक में एक महत्वपूर्ण निर्णय हुआ जिसके फलस्वरूप परमाणु-शक्ति को मानव-हित-साधन के लिए कार्यान्वित करने के लिए परमाणु-शक्ति का एक कमीशन (Atomic Energy Commission) का निर्माण हुआ।

यह सब तो हुआ किन्तु सब के पीछे एक बड़ा 'किन्तु' लग गया। अमेरिका के प्रतिनिधि श्री बर्नार्ड एम्० बरूच ने जून १४, १९४६ में प्रस्ताव किया कि परमाणु-बम के रहस्योद्घाटन को एक अन्तर्राष्ट्रीय संयम के भीतर रखा जाय जिस पर बड़े राष्ट्रों (The Big Powers) का विशेषाधिकार न रहे। किन्तु रूस के प्रतिनिधि ग्रोमिको ने विशेषाधिकार पर बल दिया और खिंच उत्पन्न हो गयी। रूस इस प्रकार आगे बढ़ता गया। उसने अपने ईरानी मामले में संयुक्त राष्ट्र-मण्डल की राय नहीं मानी। उसने ईरान से अपनी सन्धि की और उसमें

तेल-सम्बन्धी कुछ सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। कालान्तर में जर्मनी, पैलेस्टाइन, चीन आदि देशों के मामलों ने राष्ट्रों में विरोध-भावना उत्पन्न कर दी और विश्व पुनः विक्षुब्ध हो उठा है। अमेरिका एवं रूस अपने सिद्धान्तों की आड़ में विश्व-शान्ति-भङ्ग की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। एक ओर अमेरिका रूसी साम्यवादी साम्राज्यवाद का घोर शत्रु है दूसरी ओर रूस अपने साम्यवाद के प्रभाव को सार्वजनीन करना चाहता है। प्रेसिडेण्ट ट्रूमन की घोषणाएँ स्पष्ट हैं, किन्तु रूस रहस्यात्मक ढंग से उन्मुख है। आज पुनः विश्व युद्ध की ओर बढ़ रहा है। अमेरिका का पूँजीवाद और रूस का साम्यवाद एक दूसरे से होड़ लेना चाहते हैं। बहुत-से राष्ट्रों के मामले इसी से सुन्दर सुझाव नहीं पा रहे हैं। बहुत-से राष्ट्र परमुखापेक्षी हैं, वे भय से किसी एक गुट में पड़े हुए हैं और स्वतन्त्र

संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ का स्वरूप तथा भविष्य

रूप से अपने मत का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। दक्षिणी अफ्रीका के रंग-विद्वेष की समस्या, भारत एवं पाकिस्तान के बीच काश्मीर की समस्या अपनी भयंकरता लिए पड़ी हुई है। भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू की नीति स्पष्ट है। वे शान्ति चाहते हैं और राष्ट्र-पिता महात्मा गान्धी के चरण-चिह्नों से विश्व में क्रान्ति लाना चाहते हैं। आज आए दिन विश्व में स्वर गूँजता है, "भारत से विश्व को आशा है, भारत ही शान्ति का अग्रदूत होगा, क्योंकि उसने आधुनिक युग में महात्मा गान्धी ऐसे व्यक्ति को उत्पन्न करके भारत की आत्मा को स्पष्ट कर दिया है ..."

अमेरिका 'डालर' के मोह से पिछड़े हुए राष्ट्रों को व्यामोहित कर रहा है और उन्हें अपने चंगुल में दाब रहा है। रूस अपनी नीति के रहस्यात्मक प्रयोग से विश्व के जन-जन में प्रगति पा रहा है। चीन साम्यवादी हो गया है। ब्रह्मा, इण्डोनेशिया आदि देशों में क्रान्तियाँ हो रही हैं। भारत में भी साम्यवादी धाराएँ बहती हुई विधान सभाओं में आ गयी हैं। अब हम नीचे संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ के उद्देश्यों एवं

संस्थाओं को स्पष्ट करके आधुनिक विश्व की गति की ओर संकेत करेंगे।

§. [६] संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ के उद्देश्य हैं : (१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा स्थापित करना; (२) विश्व की विभिन्न जातियों में मित्रता का भाव स्थापित करना, जिसके सम्बन्ध का आधार होगा अधिकारों की समानता एवं आत्म-निर्णय का सिद्धान्त; (३) विश्व की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का निर्णय करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा (४) विश्व में व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं अधिकारों के प्रति सम्मान के भावों को बढ़ाना।

संयुक्त राष्ट्र-सङ्घ के उद्देश्य एवं संस्थाएँ

आज संयुक्त राष्ट्र-मण्डल में ५१ सदस्य हैं। सुरक्षा-परिषद् की राय से सामान्य सभा नये राष्ट्रों को सदस्य के रूप में ग्रहण कर सकती है। इस मण्डल में कई संस्थाएँ हैं जिनके नाम ऊपर दिए जा चुके हैं। हम यहाँ उनके विशेष परिचय उपस्थित करते हैं।

(१) **सामान्य संस्था (General Assembly)** : इसमें सभी राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक प्रतिनिधि का मत 'एक' होता है। इसकी बैठक प्रति वर्ष एक बार दिसम्बर में होती है। महत्वपूर्ण निर्णय के लिए दो-तिहाई का सहमत होना अनिवार्य है। यह सभा सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों को चुनने का अधिकार रखती है। इसका काम है बजट उपस्थित करना एवं निरस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करना। इसी की अधीनता में आर्थिक एवं सामाजिक कौंसिलें तथा ट्रस्टीशिप की कौंसिलें हैं। यह सभा विश्व की शांति तथा सुरक्षा के लिए किसी भी प्रश्न पर विचार कर सकती है।

(२) **सुरक्षा-परिषद् (Security Council)** : इसका कार्य है अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति स्थापित करना। यह किसी भी राजनीतिक मामले पर छान-बीन कर सकती है। इसके पाँच स्थायी सदस्य हैं : अमेरिका, इङ्गलैंड, रूस, फ्रांस तथा चीन। इसके अस्थायी सदस्यों का चुनाव सामान्य सभा से हो सकता है, जैसा कि हमने पहले ही देख लिया है।

(३) आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) इसके अन्तर्गत कई उपसमितियाँ हैं जो जन-संख्या, व्यक्तिगत अधिकारों की व्याख्या, स्त्रियों के अधिकार, नशीली वस्तुओं का निषेध, बेकारी की समस्या आदि पर विचार करती रही हैं। कुछ विशेष उपसमितियाँ हैं: अन्न-कृषि-संघ (Food and Agriculture Organisation—FAO), अन्तर्देशीय डाक यूनियन (UPU), अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कोष (International Money Fund—IMF) तथा संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा-विज्ञान तथा संस्कृति-संघ (UNESCO) इत्यादि।

(४) ट्रस्टीशिप परिषद् (Trusteeship Council): वे राष्ट्र जो स्वराज्य के योग्य नहीं थे उन्हें इस परिषद् के अन्तर्गत रखा गया। इसमें पाँच सदस्य सुरक्षा-परिषद् के थे और शेष अन्तर्राष्ट्रों के जिनका तत्सम्बन्धी देशों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसके सदस्यों का निर्वाचन पाँच वर्षों के लिए होता था।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) इसमें सभी राष्ट्र सम्मिलित होते हैं। कोई भी राष्ट्र अपना मामला रख सकता है। यह हेग में स्थापित है।

(६) स्थायी कार्यालय (Secretariat): इसका मुख्य कार्यकर्ता सेक्रेटरी जनरल होता है। उसे सामान्य सभा, सुरक्षा-परिषद्, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा ट्रस्टीशिप परिषद् के मंत्री का कार्य करना होता है। नार्वे के श्री ली सर्व प्रथम सेक्रेटरी जनरल थे। इसका चुनाव सामान्य सभा करती है।

BIHAR & PATNA UNIVERSITIES

Syllabus for History (I. A.)

Paper I—Outline of World History and Civilization on the basis of the following topics :

(a) Rise of ancient urban civilization—Mesopotamian and Indus Valley Civilizations.
(b) Reformation Movements in the 6th Century B. C.
(c) Graeco-Roman Civilization.
(d) Contributions of Ancient India to the world.
(e) Feudalism in Mediaeval Europe.
(f) Islam as a factor in World History.
(g) Renaissance, Reformation and the Advent of the Modern Age.
(h) The Industrial Revolution.
(i) The French Revolution in 1789, causes, nature and effects.
(j) Nationalism in the West.
(k) Imperialism.
(l) The Russian Revolution.
(m) Awakening in Asia.
(n) America in World Affairs.
(o) League of Nations and the U. N. O.

सहायक पुस्तकें

[विश्व के इतिहास एवं सभ्यता पर इङ्गलिश में बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें कुछ तो अनुसंधानों का परिचय देती हैं, कुछ गवेषणात्मक व्याख्या उपस्थित करती हैं और कुछ सभी प्रकार की सामग्रियों के आधार पर एक सुव्यवस्थित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि उपस्थित करती हैं। यहाँ पर कुछ विशिष्ट पुस्तकों की तालिका दी जा रही है जिससे पाठकों को विशेष अध्ययन करने में सहायता मिले।]

H. G. Wells : Outline of History (Macmillan).
Hearnshaw : A First Book of World History.
Jawaharlal Nehru : Glimpses of World History (Kitabistan).
J. H. Breasted : The Conquest of Civilisation (Harpers).
Will Durant : Story of Civilisation (New York).
A Hyatt Verrill : Old Civilisation of the New World (New York).
James E. Swain : A History of World Civilisation (MacGraw Hill).
K. S. Latourette : A Short History of the Far East (Macmillan).
J. H. Landman : New Outline History oft he World Since 1914 (New York).
J. Hammerton : The New Illustrated World History (Wise & Co.)
H. J. Randall : The Creative Centuries (Longmans).
S. R. Sharma : A Brief Survey of Human History (Karnatak Publishing House).
H. A. Davies : An Outline History of the World (O. U. P.)
Joad : History of Civilization.
Swobola : Greek History.
E. Abboth : Pericles and Golden Age of Athens.
Koch : Roman History.
Gibbon : Decline and fall of Roman Empire.
Tarachand : The Influence of Islam on Indian Culture.

H. G. Bohn : China—descriptive and historical.
J. H. Cousins : Cultural Unity of Asia.
Payne : Revolt of Asia.
Giles : Civilization of China.
Brayan : Civilization of Japan.
Hays, Moon and Wayland : World History.
Hughes : Dictionary of Islam.
K. M. Panikkar : A Survey of Indian History.
Gunther : Inside Asia.
H. Shih : The Chinese Ranaissance.
Madelin : The French Revolution.
G. H. Rose : Development of European Nations.
A. F. Whyte : China and the Foreign Powers.
C. G. H. Hayes : Essays on Nationalism.
G. N. Singh : Landmarks of Indian National and Constitutional Development.
A. Zimmern : The League of Nations and the Rule of Law.
W. C. Langsam : The World Since 1914.
Andrew Boyd : The U. N. O. Handbook.
West : Psychology and World Order.
S. A. B. Webb : The truth about Soviet Russia.
H. H. Gowen : A Short History of Asia.
Ram & Sharma : India & the League of Nations.
भगवत शरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास
राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत के इतिहास की भूमिका
अर्जुन चौबे काश्यप : आदि भारत
सत्यनारायण शास्त्री : एशिया की क्रान्ति
कल्याण सिंह शेखावत : एशिया में प्रभात
अर्जुन चौबे काश्यप : हिन्दू-जीवन-दर्शन
गोपाल दास : प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास